प्राचीन भारतीय संस्कृति

Ancient Indian Culture

एस. एल. नागोरी

68558

प्राचीन भारतीय संस्कृति

ANCIENT INDIAN CULTURE

C. No
34517
11-10-13

131
A1S2

Pracheen Bhartiya Sanskriti

प्राचीन भारतीय संस्कृति

ANCIENT INDIAN CULTURE

S. L. Nagori

डा. एस. एल. नागोरी

विभागाध्यक्ष

स्नातकोत्तर इतिहास विभाग

राजकीय महाविद्यालय, बून्दी (राज)

पोईन्टर पब्लिशर्स

जयपुर 302 003 (राज.)

Pointer publisher. Jaypur

वितरक
प्रेमचन्द बाकलीवाल
आविष्कार पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स
807, व्यास बिल्डिंग, चौड़ा रास्ता
जयपुर - 302 003

RRMR
Acc No: 8873

© डॉ. एस. एल. नागोरी

प्रथम संस्करण : 1996

ISBN 81-7132-104-6

954.01
S1P
68558

प्रकाशक
श्रीमती शशि जैन
पोईन्टर पब्लिशर्स
एस एम एस हाईवे
जयपुर - 302 003

मूल्य : 350.00 रुपये

लेजर टाईप सैटिंग
रेशमा कम्प्यूटर्स
जयपुर

मुद्रक
एफैशिएन्ट ऑफसेट प्रेस
नई दिल्ली

भूमिका

अपने राष्ट्र की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी भी राष्ट्र के नवयुवक की शिक्षा-दीक्षा सर्वथा अपूर्ण रहती है। सांस्कृतिक ज्ञान-विज्ञान से ही उसका अपने देश के धर्म, दर्शन तथा ऐतिहासिक ज्ञान से परिचय होता है। अतः संस्कृति का अध्ययन अध्यापन नितांत अनिवार्य है।

मैंने 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तक को प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से लिखी है। इसमें प्राचीन भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। इसके साथ ही भारतीय धर्म, दर्शन, शिक्षा, साहित्य, कला, संस्कार, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था एवं पंच यज्ञ आदि पर भी विस्तृत् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत के राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था का भी विस्तार से चित्रण किया गया है। इतना ही नहीं, भारत के सांस्कृतिक इतिहास के विविध तत्त्वों, भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक स्वरूप तथा आकार आदि का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशद् विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मैंने इस छोटी सी कृति में भारतीय संस्कृति के समुज्जवल स्वरूप का एक समग्र चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यही नहीं, विषय-वस्तु को बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है, ताकि पुस्तक को पढ़ते समय पाठकों को ऐसा लगे कि प्राचीन भारतीय संस्कृति और कला का सजीव चित्र उनके सामने उपस्थित हो गया है।

मैंने तथ्यों को नवीन शोध के प्रकाश में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त अपना दृष्टिकोण भी निष्पक्ष ढंग से निर्भीकतापूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रस्तक की शैली और भाषा सरल है। इसमें अन्य विद्वानों के मतों का भी सुन्दर समाहार प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत रचना से पाठक इस अपूर्व प्राणवती संस्कृति के क्रमिक स्वरूप को जान सकेंगे और विषय की मौलिकता का आसानी से समझ सकेंगे। इसके अध्ययन से पाठकों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति दृढ़ निष्ठा उत्पन्न होगी और वे संस्कृति के मूल तत्त्वों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। यह रचना भारतीय संस्कृति के अनुरागियों, पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी मेरी धारणा है।

इस पुस्तक की रचना में मैंने विद्वानों के ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण अध्ययन का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इसके लिए में उन सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

यदि यह पुस्तक पाठकों को लाभान्वित एवं सन्तुष्ट कर सकी, तो मैं यह समझूँगा कि मुझे मेरे परिश्रम का यथोचित पारितोषिक मिल गया है।

अन्त में, पुस्तक को सुन्दर और आकर्षक स्वरूप प्रदान करने के लिए पोईन्टर पब्लिशर्स भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके सक्रिय सहयोग के कारण यह पुस्तक इतने अल्प समय में प्रकाशित हो सकी है।

पुस्तक के विषय में आपके बहुमूल्य सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

डॉ. एस. एल. नागोरी

विषय-सूची

भूमिका	v
1. भारतीय संस्कृति का रूप	1-10
2. वर्णाश्रम व्यवस्था	11-20
3. पंच यज्ञ एवं संस्कार	21-28
4. प्राचीन भारत में नारी की स्थिति	29-41
5. प्राचीन भारत में शिक्षा	42-49
6. प्राचीन भारत में सामाजिक एवं धार्मिक दशा	50-68
7. प्राचीन भारत में राजनैतिक एवं आर्थिक दशा	69-97
8. प्राचीन भारत के प्रमुख नगर	98-107
9. भारतीय धर्म	108-147
10. भारतीय दर्शन	148-159
11. धार्मिक नीति	160-171
12. प्राचीन भारत में साहित्य	172-184
13. प्राचीन भारतीय कला	185-198
14. भारतीय संस्कृति का प्रसार	199-208
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	209-214

1

भारतीय संस्कृति का रूप

भारत एक प्राचीन देश है। यहाँ के लोगों द्वारा जिन दार्शनिक मार्गों का अनुसरण किया गया, जीवन यापन हेतु जिन पद्धतियों को अपनाया गया, उन्हें ही भारतीय सभ्यता व संस्कृति कहा जाता है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति विश्व की महान् संस्कृति है। सर्वप्रथम हम सभ्यता एवं संस्कृति के अर्थ पर विचार करेंगे।

सभ्यता तथा संस्कृति–सभ्यता एवं संस्कृति को प्रायः एक सिक्के के दो पहलू तथा समानार्थी समझ लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः इन दोनों में काफी अन्तर है। वस्तुतः इन दोनों में उपयुक्त संबंध स्थापित करने के लिये हम सभ्यता की तुलना शरीर तथा संस्कृति की तुलना आत्मा से कर सकते हैं। जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा एवं आत्मा के बिना शरीर महत्वहीन है, यही बात सभ्यता व संस्कृति की भी है।

सभ्यता का तात्पर्य–मनुष्य द्वारा अपने भौतिक जीवन को सुखी बनाने हेतु अपनाये गये ढंग, उपकरण, साधन आदि सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः व्यक्ति द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किये गये प्रयासों को ही सभ्यता कहा जाता है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, "समाज की विकसित और उन्नत व्यवस्था को सभ्यता कहा जाता है।" विख्यात विद्वान मैकाइवर के अनुसार, "मनुष्य ने अपने जीवन की दशाओं को नियंत्रित करने के प्रयत्न में जिस सम्पूर्ण कला विन्यास और संगठन की रचना की है, उसे सभ्यता कहते हैं।" मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार, "मनुष्य का समाज में मानवीयकरण ही सभ्यता है।" डॉ. जोन्सन ने लिखा है, "सभ्यता बर्बरता के विरुद्ध जीवित रहने की दशा है।"

संस्कृति का तात्पर्य–इसका संबंध किसी जाति अथवा राष्ट्र के मानसिक अथवा बौद्धिक विकास से होता है। कोई जाति अपने विकास के साथ-साथ कुछ विशिष्ट गुणों पर बल देने लगती है। इन गुणों के विकास में काफी समय लगता है तथा इन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कार के रूप में मान्यता प्राप्त होती रहती है। ऐसे संस्कार-जन्य गुण 'संस्कृति' कहलाते हैं, जिनके विकास में हजारों वर्ष लग जाते हैं।

संस्कृति शब्द अंग्रेजी के 'culture' शब्द का हिन्दी अनुवाद है, जिसका शाब्दिक अर्थ उत्तम बनाना है। इसकी व्याख्या करते हुए विख्यात अमेरिकी विद्वान डॉ. व्हाइट

हेड ने लिखा है, "संस्कृति मानसिक प्रक्रिया है और सौन्दर्य तथा मानवीय अनुभूतियों को हृद्‌यंगम करने की क्षमता है।" डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने इस संबंध में लिखा है, " मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसे संस्कृति कहते हैं।" दिनकर ने लिखा है, " संस्कृति एक ऐसा गुण है, जो हमारे जीवन में व्यापा हुआ है। यह आत्मिक गुण है, जो मनुष्य स्वभाव में उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध तथा दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग युगान्तर में होता है। संस्कृति हजारों सालों में निर्मित होती है, अतएव प्रत्येक देश की भिन्न संस्कृति होती है।"[1]. डॉ. रामजी उपाध्याय के अनुसार, "संस्कृति का इतिहास मानवता की प्रगति का इतिहास है।" ई. बी. टायलर के शब्दों में, "भारतीय संस्कृति वह जटिल सभ्यता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं तथा आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[2] के.एम. मुन्शी ने लिखा है, "संस्कृति जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण है।" डॉ. भगवानदास के शब्दों में, "मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक सम्यक् कृति संस्कृति का अंग बनती है।" मैथ्यू आर्नोल्ड के अनुसार, "किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियां ही संस्कृति है, जिनसे समाज, राष्ट्र परिचित होता है।" शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है, "किसी भी राष्ट्र की शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है।"[3] वस्तुतः मानव के जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहा जाता है। श्री हरिदत्त वेदालंकार ने संस्कृति निर्माण की प्रक्रिया का यह उदाहरण दिया है, "संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पायी जाने वाली मूँगे की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूँगे के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गये, फिर नये कीड़ों ने घर बनाये, उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी अगली पीढ़ी ने भी यही किया और यह क्रम हजारों वर्षों तक चलता रहा। आज इन सब मूँगों के नन्हें-नन्हें घरों ने परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टान का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है।"

सभ्यता व संस्कृति में अन्तर–सभ्यता एवं संस्कृति परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित होती हैं। समान्यतः सभ्यता की तुलना शरीर तथा संस्कृति की तुलना आत्मा से की जाती है तथा दोनों को एक दूसरे के बिना महत्वहीन माना जाता है। सी. ई. एम. जोड़ ने इन दोनों में अन्तर बताते हुए लिखा है, "Culture is what we are, civilization is what we make." सभ्यता बाहरी व संस्कृति आन्तरिक विकास दर्शाती है। सभ्यता मानव जीवन की विकास चर्चा तथा संस्कृति उसके गुणों का परिचय कराती है। बैजनाथ पुरी ने इन दोनों में अन्तर बताते हुए लिखा है, "संस्कृति आभ्यन्तर है, सभ्यता बाह्य है। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, पर सभ्यता का अनुकरण सरलता से

किया जा सकता है। संस्कृति का संबंध निश्चय ही धार्मिक विश्वास से है। सभ्यता सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से बंधी हुई है।"

भारतीय संस्कृति की विशेषतायें–भारतीय सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है तथा इसकी संस्कृति श्रेष्ठतम। जब समूचा विश्व अन्धकार में डूबा था, तब भारत अपने ज्ञान की ज्योति से प्रकाश दे रहा था। मिस्र, सुमेर, बेबीलेन, यूनान, रोम आदि सभ्यताएं भले ही समाप्त हो गयी हों, किन्तु भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है। सर इकबाल के शब्दों में :

"यूनानी मिस्र रोमां सब मिट गये यहां से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा।"

विष्णु पुराण में भारत की भौगोलिक स्थिति के संबंध में लिखा गया है–

"उत्तरं यत्समुद्रस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नामा, भारती यत्र सन्तति॥"

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(1) प्राचीनता–भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है। भारत की सिन्धु घाटी सभ्यता मिस्र, सुमेर तथा बेबीलोन की सभ्यता के समकालीन मानी जाती है। यह पांच हजार वर्ष प्राचीन (3250 ई. पू. से 2750 ई. पू.) मानी जाती है।

(2) निरन्तरता–डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है, "भारत की सभ्यता संसार के अन्य देशों की सभ्यता से अधिक प्राचीन और प्राणवान है। यह तथ्य इसलिये अधिक महत्वपूर्ण है कि बहुत कम देशों ने विदेशी जातियों के इतने हमलों का समाना किया, जितने कि भारतवर्ष ने।" विदेशियों ने भारत पर राजनीतिक विजय भले ही पायी हो, किन्तु वे उस पर सांस्कृतिक विजय न पा सके। अतः भारतीय संस्कृति की धारा सदियों से अबाध रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है।

(3) आध्यात्मिकता–अरविन्द घोष के अनुसार, "आध्यात्मिकता भारतीय मस्तिष्क को समझने की कुंजी है।" हमारा देश आरंभ से ही आध्यात्मिक रहा है, अतः हमने सदैव सांसारिक सुख की बजाय पारलौकिक सुख को महत्वपूर्ण माना है। भारतीयों का आत्मा एवं परमात्मा में गहरा विश्वास है तथा वे ईश्वर को सृष्टि का रचयिता मानते हैं; प्रत्येक व्यक्ति सफलता प्राप्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना करता है। भारतीय संस्कृति में शरीर को नाशवान तथा आत्मा को अमर माना गया है। 'आत्मा को पहचानो' (आत्मानं विजाति ही)। हमारी संस्कृति की मुख्य धारणा रही है। जहां पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवाद की ओर उन्मुख है, वहीं भारतीय संस्कृति आध्यात्मवाद पर आधारित है।

(4) धर्म की प्रधानता–इहलौकिक सुख को ध्यान में रखते हुए विचारकों ने जीवन को धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार भागों में बांटा है तथा इस हेतु चार आश्रमों की व्यवस्था की गयी है। महाभारत में लिखा हुआ है, "अर्थ तथा काम का इस प्रकार सेवन करो कि धर्म की उपेक्षा न हो।" भारतीय संस्कृति में धर्म को महत्व देते हुए इसका तात्पर्य 'कर्तव्य' से बताया गया है। मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त कर सकता है। धर्म व्यक्ति को उचित व न्यायपूर्ण कार्य करने की प्रेरण देता है। भारतीय संस्कृति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना अपनाते हुए सभी प्राणियों के आध्यात्मिक उन्नति पर बल दिया गया है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः'। (सभी प्राणी सुखी रहें) तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारी पृथ्वी ही अपना कुटुम्ब है) भारतीय संस्कृति के मूल मंत्र हैं।

(5) धार्मिक सद्भाव व विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–धार्मिक सद्भाव एवं विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता हमारी संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है। विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के कारण हमारे देश में स्वतंत्र रूप से धार्मिक चिंतन हुआ है। हमारे देश में धार्मिक सद्भाव रहा है। अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद उसका विदेशों तक में प्रसार किया, किन्तु किसी को बलपूर्वक बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिये विवश नहीं किया। अशोक ने कहा, "मनुष्य को दूसरों के धर्म को सुनना चाहिये तथा उसका आदर करना चाहिये। जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है तथा दूसरों के धर्म की निन्दा करता है, तो वह ऐसा करके अपने धर्म को ही हानि पहुँचाता है।" गुप्त शासकों ने वैष्णव होते हुए भी सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धर्म मानने व पालने की छूट दी। वस्तुतः जैन, बौद्ध, शैव, भागवत आदि धर्मों का जन्म भारत भूमि के गर्भ से हुआ है तथा उनमें व्याप्त धार्मिक सहनशीलता की भावना निश्चित रूप से सराहनीय है।

ऋग्वेद में इस संबंध में एक मंत्र है 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् सत्य एक है, जिसे विद्वानों ने अनेक रूपों में प्रकट किया है। सृष्टि नियंता, कर्म, सिद्धान्त, पुनर्जन्म, ईश्वर का अस्तित्व आदि संबंधों में सभी धर्मों में समानता रही है तथा सभी ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह पर बल दिया है

(6) समन्वयशीलता–भारतीय संस्कृति में समन्वयशीलता रही है। भारतीय संस्कृति में आरंभ से ही अन्य संस्कृतियों को अपने में मिला लेने की शक्ति रही है। आर्यों ने अनार्यों के देवताओं को इस तरह अपने देवताओं के साथ मिला लिया कि दोनों में कोई भेद न रहा। शक, हूण, कुषाण आदि जातियों ने भारत पर भले ही राजनीतिक विजय प्राप्त की हो, किन्तु भारत ने इन पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की तथा इन्हें अपनी गोद में समा लिया। यवन के राजा मिलिन्द ने बौद्ध धर्म को तथा हूण राजा मिहिरकुल ने हिन्दू धर्म को अपना लिया। वस्तुतः हूणों तक भारतीय संस्कृति की पाचन

शक्ति बहुत तीव्र रही, किन्तु उसके पश्चात् वह कमजोर पड़ने लगी। वह इस्लाम को यद्यपि पूरी तरह अपने में न मिला सकी, तथापि इस्लामी संस्कृति के स्वरूप को उसने अवश्य परिवर्तित कर दिया। प्रो. डॉडवैल ने लिखा है, "भारतीय संस्कृति महासमुद्र के समान है, जिसमे अनेक नदियां आकर विलीन होती रही हैं।"

(7) **ग्रहणशीलता**–भारतीय संस्कृति ने हमेशा अन्य संस्कृतियों के अच्छे विचारों को अपनाया है। उन्होंने यूनान व रोम से ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रहण कर उन्हें 'रोमक सिद्धान्त' का नाम दिया। प्रो. हुमायूँ कबीर ने लिखा है, "भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है।"

(8) **कर्म एवं पुनर्जन्म में विश्वास**–भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य को कर्म के अनुसार फल मिलता है। अच्छे कार्य करने पर उसे मोक्ष प्राप्त होता है, जबकि बुरे कर्म करने पर वह पुनर्जन्म के चक्कर में फंस जाता है। कर्म के आधार पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त सभी भारतीय धर्म स्वीकार करते हैं। कर्म सिद्धान्त के कारण भारतीयों ने संयम, त्याग, प्रेम, अहिंसा, दान, दया, सहिष्णुता आदि पर काफी बल दिया। इस सिद्धान्त के कारण वर्तमान जीवन के कष्टों को पिछले जन्म के कर्म का प्रतिफल माना जाता है। इससे सहनशीलता व संतोष जैसे गुण विकसित हुए।

(9) **संयुक्त परिवार प्रथा व विश्व बन्धुत्व**–संयुक्त परिवार प्रथा व विश्व बन्धुत्व की भावना भारतीय संस्कृति के आधार रहे हैं। भारतीयों ने मानवीय प्रेम, त्याग, संयम, सहनशीलता, साहस आदि गुणों पर बल दिया है। यथा–

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुखभाग भवेत॥"

"अयं निजः= परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार तु चरितानां वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

(10) **वर्णाश्रम व्यवस्था**–वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था भी भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। पी.एन. प्रभु के अनुसार, "आश्रम तथा वर्ण पद, ये दोनों संस्थाएँ हिन्दू सामाजिक संगठन के सिद्धान्त की आधार शिलाएं रही हैं।" समाज का बड़े मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से बंटवारा करते हुए उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया गया, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन कर सके। यह वर्ण व्यवस्था कालान्तर में जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी। इसी प्रकार विचारकों ने मानव जीवन की औसत आयु 100 वर्ष मानते हुए उसे ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व सन्यासाश्रम इन चार भागों में विभक्त किया, ताकि व्यक्ति निश्चित योजनानुसार जीवन व्यतीत कर सके।

(11) साम्यवाद–आज रूस को साम्यवाद का अग्रदूत माना जाता है, किन्तु भारतीय संस्कृति ने आज से हजारों वर्ष पूर्व ही इस धारणा का प्रतिपादन कर दिया था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण ऋग्वेद का पुरुष सुक्त एवं ऋग्वेद के **संज्ञान सूक्त** हैं, जिनमें सभी मनुष्यों को एक ही ईश्वर का अंग मानते हुए उनमें जीवन्त एकत्व का संचार किया गया है।[4] वस्तुतः भारतीय संस्कृति का उद्देश्य मानव का सवार्गीण विकास है।

भारत में विविधता में एकता–भारत एक विशाल देश है, जहां धर्म, जातियां, भाषाएं, जलवायु आदि की विविधताएं विद्यमान हैं, किन्तु इसके बावजूद हमारे भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, एवं धार्मिक जीवन में एकता के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। सर हर्बर्ट रिजली के अनुसार, "भारत में दर्शक को भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में भाषा, आचार, धर्म में जो विविधता दिखायी देती है, उसकी तह में हिमालय से कन्याकुमारी तक आन्तरिक एकता है।"

भारत में विविधताएं

(1) भौगोलिक विविधता–भारत में भौगोलिक दृष्टि से काफी विविधता पायी जाती है। कहीं पर्वत हैं, तो कहीं पठार है। यहां कहीं गंगा का उपजाऊ मैदान है, तो कहीं मरू-स्थल।

(2) जलवायु की विविधता–भारत में जलवायु की दृष्टि से भी काफी विविधता मिलती है। हिमालय की जलवायु ठंडी है, तो बंगाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा, मध्यप्रदेश की जलवायु गर्म। दिल्ली, पंजाब, राजस्थान आदि प्रांतों में शुष्क जलवायु (सर्दी में भयंकर सर्दी व गर्मियों में भयंकर गर्मी) पायी जाती है। असम के चेरापूंजी में 460 इंच वर्षा होती है, जबकि उत्तरी सिन्ध में 3 इंच वर्षा होती थी।

(3) उपज के क्षेत्र में विविधता–भारत में गंगा के मैदान में चावल, पटसन, अफीम, व तम्बाकू, पंजाब, दिल्ली, सिन्ध एवं राजपूताना में गेहूँ, कपास, गन्ना आदि तथा दक्षिण भारत में चावल, ज्वार, बाजरा, चाय, काफी, नारियल आदि पाये जाते हैं।

(4) प्राणी वर्ग एवं वनस्पति की भिन्नता–भारत में जितनी प्रकार की वनस्पतियां एवं पशु मिलते हैं, उतने संसार भर में कहीं नहीं मिलते। ब्लेण्डफोर्ड ने लिखा है, "भारत के प्राणी वर्ग की भिन्नता समस्त यूरोप के प्राणी वर्ग से बढ़कर है।"[5]

(5) भारतवासियों की शारीरिक विविधता–भारत में विभिन्न आकृतियों व रंगों के मनुष्य पाये जाते हैं। उत्तर पश्चिम में कश्मीर से राजस्थान तक गोरे, दक्षिणी भारतवर्ष में काले एवं तिब्बत व बर्मा के पास पीली चमड़े वाले लोग पाये जाते हैं।

(6) भाषायी विविधता–भारत में विभिन्न भाषाएं बोलने वाले लोग रहते हैं। एक सरकारी अनुमान के अनुसार यहा 179 भाषाएं तथा 544 बोलियां बोली जाती हैं। भारतीय संविधान में संस्कृत, हिन्दी, पंजाबी, मराठी, बिहारी, बंगाली, गुजराती, तमिल,

तेलुगु, मलयालम आदि भाषाओं को सरकारी भाषाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है।

(7) **धार्मिक विविधता**–भारत में हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि कई धर्मों के लोग रहते हैं तथा इन धर्मों में भी अनेक सम्प्रदाय हैं। यथा हिन्दू धर्म में वैष्णव, शैव, आर्य समाजी, जैन धर्म में श्वेताम्बर व दिगम्बर, बौद्ध धर्म में हीनयान व महायान, इस्लाम में सुन्नी व शिया तथा ईसाई धर्म में प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक सम्प्रदाय विद्यमान हैं।

(8) **सामाजिक विविधता**–भारत में सामाजिक जीवन में विविधता दृष्टिगोचर होती है। यहा अलग-अलग क्षेत्रों तथा अलग-अलग धर्मों की अलग-अलग वेश-भूषा, रहन-सहन, रीति रिवाज एवं खान-पान है।

(9) **आर्थिक विविधता**–भारत में आर्थिक क्षेत्र में भी विभिन्नता देखने को मिलती है। यहा एक और टाटा, बिड़ला जैसे धनवान रहते हैं, वहीं दूसरी ओर दो जून की रोटी को तरसते लोग।

(10) **राजनैतिक विविधता**–भारत में मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य तथा मुगल साम्राज्य को छोड़कर राजनीतिक एकता का अभाव रहा है तथा सामान्यतः देश छोटे-छोटे भागों में विभक्त रहा है।

भारत की विविधताओं के संबंध में डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है, " भारत को मतों तथा पंथो, प्रथाओं तथा संस्कृतियों, धर्मों तथा भाषाओं, विभिन्न जातियों तथा सामाजिक संस्थाओं का अजायबघर कहा जा सकता है, परन्तु यह मृतक वस्तुओं तथा भौतिक पदार्थों का नहीं, अपितु जीवित सम्प्रदायों तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाओं का अजायबघर है।"[6]

भारतीय संस्कृति की एकता–भारतीय संस्कृति में इन विभिन्नताओं के बावजूद एकता पायी जाती है–

(1) **भौगोलिक एकता**–भौगोलिक दृष्टि से भारत एक देश के रूप में है तथा इसकी सीमाएं इसे अन्य राज्यों से पृथक करती है। विष्णु पुराण के अनुसार "समुद्र के उत्तर में, हिमालय के दक्षिण में जो देश है, वह भारत नामक खण्ड कहलाता है और यहां के निवासी भारत की संतान कहलाते हैं।" दिनकर के अनुसार, "भारत के भीतर यद्यपि प्रान्तीय भेदों के लिये अनेक क्षेत्र मौजूद हैं, लेकिन इन तमाम विभिन्नताओं को समेटकर भारत को एक पूर्ण देश बनाने का काम भी हमारे भूगोल ने ही किया है। भीतर से कुछ-कुछ बंटा हुआ और बाहर से बिल्कुल एक, भारत की यह विशेषता बहुत पुरानी है।"[7] डॉ. वी.ए. स्मिथ ने लिखा है, "भारत की मौलिक एकता का पता इस बात से ही चल जाता है कि भारत की विभिन्न जातियों में एक विलक्षण प्रकार की संस्कृति

एवं सभ्यता का विकास हुआ, जिसकी संसार की किसी अन्य प्रकार की संस्कृति तथा सभ्यता से कोई समानता नहीं।"

(2) राजनीतिक एकता–भारत में विभिन्न कालों में राजनीतिक एकता भी रही। प्राचीन काल में चक्रवर्ती सम्राट् बनने हेतु हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक विजय प्राप्त करना एवं महाराजाधिराज आदि उपाधियाँ ग्रहण करना आवश्यक था। यातायात के साधनों के अभाव के बावजूद चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन, शेरशाह, अकबर आदि ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उन्होंने समूचे साम्राज्य में एक जैसा प्रशासन प्रचलित किया। अंग्रेजों ने समस्त भारत पर अधिकार करके राजनीतिक एकता का युग शुरू किया।

(3) सामाजिक एकता– भारत में काफी हद तक सामाजिक एकता भी पायी जाती है। रहन-सहन तथा रीति रिवाजों में काफी हद तक समानता है। समस्त जातियों में विवाह पद्धतियों में समानता है तथा सगोत्र विवाह मान्य नहीं है। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन की प्रथा एवं जीवन के विभिन्न संस्कारों में भी काफी समानता है। होली, दीपावली, दशहरा आदि त्यौहार सम्पूर्ण देश में मनाये जाते हैं। विभिन्न भागों के मनुष्य कमीज, धोती, पगड़ी व टोपी तथा स्त्रियाँ लहंगा, चोली, कमीज व साड़ी पहनती हैं। पूरे देश में स्त्रियाँ बुन्दे, चूड़ियाँ, हार, माथे का टीका, पाइजेब आदि आभूषण पहनती हैं। पश्चिमी सम्भयता के प्रभाव से भारतीयों के खान-पान व रहन-सहन में समानता आयी है एवं बड़े शहरों के होटलों में एक जैसा खाना मिलता है।

(4) धार्मिक एकता–भारत में विविध धर्मों के अनुयायियों में एकता के लक्षण पाये जाते हैं। भारत का मूल धर्म हिन्दू धर्म है एवं अन्य सभी धर्म इससे मिलते-जुलते हैं। इन सभी धर्मों के दार्शनिक व नैतिक सिद्धांत में काफी समानता है। हिन्दू धर्म भारत का सबसे प्राचीन धर्म है तथा वास्तव में भारत एवं हिन्दू धर्म के मध्य शरीर तथा आत्मा का संबंध रहा है। मध्यकाल तक भारत को 'हिन्दुस्तान' कहा जाता था। हिन्दू धर्म भारत में एकता स्थापित करने वाला मूल तत्त्व रहा है। इसके एकेश्वरवाद, कर्म एवं पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, भक्ति, मोक्ष आदि सिद्धांतों को सभी धर्मों ने ग्रहण किया है। सारे देश में हिन्दू ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम आदि की पूजा करते हैं तथा वेद, रामायण, पुराण, महाभारत, गीता आदि को पवित्र धार्मिक ग्रंथ मानते हैं। विष्णु पुराण में कहा गया हैं "वह भारत की भूमि धन्य है, जिसकी प्रशंसा के गीत देवता गाते हैं, यह भूमि स्वर्ग और अपवर्ग के समान बनी है, जिस पर देवता भी मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं।"

(5) भाषायी एकता–भारत में भाषायी विविधता होते हुए भी एकता है। संस्कृत भारत की प्राचीन एवं पवित्र भाषा मानी जाती है तथा प्राचीन भारत का साहित्य इसी भाषा में उपलब्ध है। संस्कृत ने हमारे देश की सभी भाषाओं पर प्रभाव डाला है।

तमिल, तेलगु, मलयालम आदि भाषाओं पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है। इस के अलावा अंग्रेजी भाषा भारत के प्रत्येक प्रांत में लोकप्रिय है। इसने स्वाधीनता संग्राम में भारतीयों में राष्ट्रीयता व एकता की भावना उत्पन्न की। संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है।

(6) शैक्षणिक एकता–समस्त भारत में प्राचीन काल में आरंभिक शिक्षा मन्दिरों, स्कूलों, मठों व गुरुकुलों में तथा उच्च शिक्षा, उज्जैन, तक्षशिला, मथुरा आदि विश्वविद्यालयों में दी जाती थी। 1854 ई. में चार्ल्स वुड योजना द्वारा समस्त देश में विश्वविद्यालय तथा उनके अधीन महाविद्यालय स्थापित किये गये। प्राथमिक, हाईस्कूल एवं कॉलेज स्तर पर समान पाठ्यक्रम तथा समान परीक्षाओं की व्यवस्था की गयी। इससे देश में एकता की भावना का संचार हुआ है।

(7) कला के क्षेत्र में एकता–भारत में कला के क्षेत्र में भी एकता दिखती है। भारत में बने विभिन्न काल के मन्दिरों में कुछ कलात्मक भिन्नता होते हुए भी, जैसा कि ए. एल. बाशम ने लिखा है, "भूमि की विशालता को ध्यान में रखते हुए भारतीय मन्दिरों की भवन निमार्ण कला विशेष रूप से एक समान है।"[8] भारत में शिल्प कला के विषयों में एकता है तथा प्राचीन कालीन शिल्पकला के स्कूलों के कलाकारों द्वारा निर्मित बुद्ध, बोधिसत्व, हिन्दू देवताओं, जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों में भी समानता दिखती है। इन सभी मूर्तियों में आध्यात्मिक भाव तथा देवताओं की सुन्दरता को दर्शाया गया है।

संगीत के क्षेत्र में समूचे देश में सात स्वर (सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी) तथा छः राग (भैरव, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, श्रीराग तथ मेघ) प्रचलित हैं। भारत की संगीत कला के संबंध में डॉ. ए. एल. बाशम ने लिखा है, "यदि एक निपुण दक्षिण भारत के संगीतज्ञ से किसी अन्य व्यक्ति ने वीणा को बजाते हुए सुना है, तो मानो उसने बहुत सीमा तक उस संगीत को सुन लिया है, जो कि भारत में एक हजार वर्षों से भी अधिक समय पहले बजाया जाता था।"[9] भारत नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में सिर के 13, आंखों के 36, गर्दन के 9, हाथ के 37 तथा शरीर के 10 नियमों का पूरे देश में पालन किया जाता है। विभिन्न भागों की नृत्य कला में भी समरूपता है।

(8) भारतीयों की एकता–भारतीय संस्कृति ने शक, हूण, कुषाण, आदि जातियों को अपनी गोद में समा लिया। भारत में रहने वाले ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि धर्मावलम्बियों पर हिन्दू धर्म व रिवाजों की स्पष्ट छाप है। रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है," "यद्यपि इस देश में विभिन्न धर्मानुयायी हैं, किन्तु धर्म के केन्द्र से बाहर संस्कृति की जो विशाल परिधि है, उसके भीतर बसने वाले सभी भारतीय समान हैं।"[10] यदि किसी भी भारतीय को चीन, इंग्लैण्ड या अफ्रीका के व्यक्ति के साथ खड़ा कर दिया जाये, तो वह स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है, इसी प्रकार किसी भी भारतीय के चेहरे से उसकी जाति का पता चल जाता है। इससे भारतीय संस्कृति की एकता स्पष्ट होती है।

(9) स्वतंत्र भारत में एकता–स्वतंत्रता के पश्चात् विभाजन से यद्यपि हमारी भौगोलिक एकता को ठेस पहुँची है, किन्तु फिर भी यहाँ मौलिक एकता दिखायी देती है। स्वतंत्रता के पश्चात् समूचा देश राजनीतिक एकता के सूत्र में बांध दिया गया है तथा समूचे देश में एक ही संविधान तथा एक से कानून लागू हैं। यातायात के साधनों ने एकता को बढ़ाया है। वर्तमान में भारतीयों ने राष्ट्रीयता की भी प्रबल भावना दिखायी देती है। वस्तुतः भारत विविधता में एकता वाला देश है।

संदर्भ

1. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय.
2. टाइलर, ई. बी. : प्रिमिटिव कल्चर, पृ. 1.
3. ज्ञानी, शिवदत्त : भारतीय संस्कृति, पृ. 17.
4. ऋग्वेद पुरुष सूक्त, 10/90.
5. मुकर्जी, आर. के. (डॉ.) : एन्शेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 12.
6. मुकर्जी, राधाकुमुद : एन्शेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 14.
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 659.
8. बाशम, ए. एल. : दी वण्डर देट वाज इण्डिया, पृ. 357.
9. बाशम : वही, पृष्ठ 382.
10. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 659.

□

2

वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दुओं के सामाजिक संगठन का आधार रही है। वैदिक काल में कार्य विभाजन की दृष्टि से समाज को चार वर्णों तथा जीवन को चार आश्रमों में बांटा गया था। वर्णाश्रम व्यवस्था में वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था दोनों ही सम्मिलित हैं। वर्ण चार थे–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र तथा आश्रम भी चार थे–ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम। पहले हम वर्ण व्यवस्था का वर्णन करेंगे।

वर्ण व्यवस्था

अर्थ एवं उद्देश्य–वैदिक काल में सामाजिक संगठन व व्यवस्था बनाये रखने के लिये तथा अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा को निरुत्साहित करने के लिये प्रत्येक वर्ण के कार्य निश्चित कर दिये गये, जिनका पालन करना उनके लिये अनिवार्य था। प्राचीनकाल में इसे दैवीय व्यवस्था समझा जाता था। लोगों की धारणा थी कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही मनुष्य का किसी वर्ण में जन्म होता है। वस्तुतः कार्य के आधार पर समाज का विभाजन कोई नयी बात नहीं थी। ईरान, रोम एवं जापान में ऐसा ही किया गया था।

वर्ण व्यवस्था का उद्भव–आर्यों के भारत में आगमन के साथ ही भारतीय समाज– आर्य तथा अनार्य इन दो भागों में बंट गया। ऐसा निम्न कारणों से हुआ–

(1) आर्यों ने अनार्यों को पराजित किया था, अतः शासकों व शासितों में भेद होना स्वाभाविक था।

(2) आर्य गोरे थे, जबकि अनार्य काले रंग के थे।

(3) आर्य रक्त शुद्धता बनाये रखने के लिये भी अनार्यों से दूर रहे। दोनों की भाषाओं एव संस्कृतियों में भी काफी भिन्नता थी।

वर्ण व्यवस्था के उद्भव के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि वर्ण व्यवस्था का उद्भव आर्यों के भारत में आने से पहले ही हो चुका था, जबकि स्लेटर नामक विद्वान के अनुसार आर्यों के अनार्यों के साथ सम्पर्क में आने से ही वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति हुई थी। कुछ विद्वान

इसका विकास उत्तर वैदिक काल में मानते हैं। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(1) प्रथम सिद्धान्त पुरुष के विभिन्न अवयवों से उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एक विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जंघाओं से वैश्यों की तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। इसकी पुष्टि ऋग्वेद में होती हे।

(2) दूसरा सिद्धान्त गुण एवं कर्म से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन मुख्यतः गीता में किया गया है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है, "गुण और कर्म के विभागपूर्वक मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की हैं।"[1]

(3) तीसरा सिद्धान्त रंगों से वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त है। महाभारत के शान्ति पर्व में चारों वर्णों के अलग-अलग रंगों का—ब्राह्मणों का श्वेत, क्षत्रियों का लोहित, वैश्यों का पीत एवं शूद्रों का कृष्ण-वर्णन किया गया है।[2]

(4) चतुर्थ सिद्धान्त व्यावसायिक उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार बुद्धि के आधार पर ज्ञान देने वाले ब्राह्मण, बाहुबल से कार्य करने वाले क्षत्रिय, व्यापार करने वाले वैश्य तथा इन सबकी सेवा करने वाले शूद्र कहलाए।

(5) पांचवां सिद्धान्त समाज की आवश्यकतानुकूल वर्णोत्पत्ति का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार जैसे-जैसे आवश्यकता होती चली गयी, समाज में नये वर्णों का उदय होता चला गया।

वर्ण व्यवस्था का स्वरूप

(1) ऋग्वैदिक काल–ऋग्वेद में वर्ण व्यवस्था बड़ी सरल थी तथा वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर होता था। व्यक्ति को अपना वर्ण बदलने एवं अन्य वर्णों के साथ वैवाहिक सबन्ध स्थापित करने का अधिकार था। ऋग्वेद में राजा देवापि का उदाहरण है, जिसने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मण का कार्य किया था। ऋग्वेद में एक मंत्र है, "मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैध हैं, मेरी मां चक्कियों से आटा पीसती है। हम लोग विविध क्रियाओं द्वारा धन कमाना चाहते हैं।" ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग जाति के रूप में नहीं हैं।[3] क्षत्रिय शब्द के इसमें अनेक प्रयोग दिखायी देते हैं।[4] वैश्य का प्रयोग मात्र पुरुष सूक्त में हैं।[5] शूद्र शब्द का प्रयोग भी मात्र पुरुष सूक्त में हैं।[6] पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "वैदिक साहित्य में इस प्रथा (जाति प्रथा) के कुछ मूल बीज जरूर वर्तमान हैं, परन्तु उस युग में यह प्रथा, धर्म और समाज का इतना जबरदस्त अंग निश्चय ही नहीं बनी थी।"

(2) उत्तर वैदिक काल–इस काल में तीनों वेदों एवं ब्राह्मण ग्रंथों में चारों वर्णों के भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं।[7] उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप बदलने

लगा। यज्ञों का महत्व बढ़ने के साथ ब्राह्णों का प्रभुत्व बढ़ा, किन्तु उपनिषद काल में क्षत्रियों ने इसे चुनौती दी। अत: दोनों वर्गों में प्रतिस्पर्धा आरंभ हुई। विदेह नरेश जनक एवं कैकय नरेश अश्वपति आदि बड़े विद्वान थे तथा उन्होंने कई ब्राह्मणों को ज्ञान दिया था। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्गों में अब भी परिवर्तन संभव था। जैसे सत्यकाम जाबाल नामक दासी पुत्र को एक ब्राह्मण ने अपना शिष्य बनाया था। इन तीनों में वैवाहिक सबन्ध भी स्थापित हो सकते थे। महाकाव्यों में वर्ण परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं, किन्तु शूद्रों के साथ भेद-भाव बरता जाने लगा तथा उनसे यज्ञ करने व वेद पढ़ने का अधिकार छीन लिया गया। इससे उनकी दशा में गिरावट आयी।

वर्ण व्यवस्था में कठोरता–सूत्र काल तक वर्ण व्यवस्था में कठोरता आने लगी थी, प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के कर्तव्यों तथा कार्यों का पालन करना पड़ता था। समाज में ब्राह्मणों का महत्व निरन्तर बढ़ता चला गया तथा शूद्रों की स्थिति निरन्तर गिरती चली गयी। शूद्रों को वेद पढ़ने व सुनने का अधिकार न रहा। वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्ति पापी समझे जाने लगे।

रामायण में चारों वर्णों का उल्लेख है।[8] महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित होने लगी तथा व्यक्ति को अपने जन्म के अनुसार व्यवसाय अपनाना पड़ता था।[9] परशुराम और द्रोणाचार्य क्षत्रिय का कार्य करने के बावजूद ब्राह्मण ही माने गये तथा एकलव्य क्षत्रिय का कार्य करने के बाद भी शूद्र ही माना गया। इस समय भी कुछ जातियों में वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित मानी जाती थी।

इस समय यवन, शक, पल्लव, किरात आदि भारत में बस गये तथा इन्होंने यहाँ के लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये, जिससे यहाँ नयी जातियों एवं नये समूहों का उदय हुआ। सूत्रकारों ने अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों द्वारा इन जातियों को समाज का अंग बना दिया। महाभारत काल तक जातियों की संख्या 132 तक पहुंच चुकी थी।

वर्ण के कर्तव्य–धर्मशास्त्रों में वर्णों के कर्तव्य इस प्रकार निर्धारित किये गये हैं–

(1) **ब्राह्मण**–ब्राह्मण वर्ग समाज में सर्वोच्च माना जाता था। उन्हें देव तुल्य माना जाता था। वे धर्म गुरू थे। उनका मुख्य कार्य वेदों का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना एवं करवाना तथा दक्षिणा लेना व देना आदि था। समाज के नियमों का निर्माण भी ब्राह्मण वर्ग द्वारा ही किया जाता था। अपने कार्य को छोड़कर दूसरा व्यवसाय अपनाने वाला ब्राह्मण शूद्र कहलाता था। पतंजलि तथा मनु ने वेदों के अध्ययन को ही ब्राह्मणों का मूल तथा पवित्र कर्तव्य बतलाया है।

ब्राह्मणों को सादा जीवन एवं उच्च विचार रखने पड़ते थे। उन्हें अपने जीवन निर्वाह योग्य दक्षिणा पाने का ही अधिकार था। यदि उनका अपने व्यवसाय से

जीविकोपार्जन न हो पाता, तो उन्हें क्षत्रिय व वैश्य के कार्य को अपनाने का भी अधिकार था। विशेष परिस्थितियों में उन्हें शस्त्र धारण करने का भी अधिकार था। ब्राह्मणों का वध करना महापाप समझा जाता था। अधिकांश स्मृतियों ने ब्राह्मणों को करमुक्त रखने पर बल दिया है। कौटिल्य तथा मनु ने ब्राह्मणों को मृत्यु दण्ड देने का विरोध किया है तथा कहा है कि जघन्य अपराध करने पर उन्हें देश निकाला दे देना चाहिये।

(2) **क्षत्रिय**–यह समाज का दूसरा सम्मानित वर्ण था। इसका प्रमुख कार्य शासन संचालन, साम्राज्य में शान्ति-व्यवस्था की स्थापना, जनता की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना आदि थे। धर्मशास्त्रों ने उन्हें ब्राह्मण वर्ग का आदर करने तथा विलासितापूर्वक जीवन न बिताकर अपने कर्तव्य का पालन करने के उपदेश दिये हैं। आवश्यकता पड़ने पर क्षत्रिय वैश्य वर्ण के व्यवसाय को अपना सकते थे।

(3) **वैश्य**–यह वर्ण समाज में तीसरे स्थान पर आता था। इसके प्रमुख कर्तव्य वेदों का अध्ययन करना, दान देना, यज्ञ करना, व्यापार, कृषि, पशुपालन तथा सूदखोरी का धन्धा करना आदि थे। यह वर्ण भी आवश्यकता पड़ने पर अन्य वर्णों के व्यवसाय को अपना सकता था।

(4) **शूद्र**–यह समाज का सबसे निम्न वर्ग था। इसमें अनार्य वर्ग एवं वर्णसंकर जाति आदि आती थीं। इस वर्ण का मुख्य कार्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। इस वर्ण को समाज में घृणा व तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें वेदों का अध्ययन करने, यज्ञ करने तथा शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार न था। गौतम ने तो यहाँ तक कहा है कि अगर कोई शूद्र वेदों को पढ़े, तो उसकी जबान काट देनी चाहिये। आगे चलकर शूद्रों को बढ़ईगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंगसाजी आदि व्यवसाय अपनाने का अधिकार दिया गया। महाभारत में शूद्र को शिल्प, कृषि तथा पशुपालन आदि व्यवसायों को अपनाने का भी अधिकार दिया गया है। नारद के अनुसार विशेष परिस्थितियों में शूद्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के कार्य भी कर सकते थें। भारत में शूद्रों की स्थिति खराब होते हुए भी यूरोप के निम्न वर्गों से कहीं श्रेष्ठ थी। भारत में शूद्र को अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व प्राप्त था तथा कृषि, पशुपालन, बुनाई, लुहारगिरी, कुम्हारगिरी आदि व्यवसाय अपनाने की भी स्वतंत्रता थी।

वर्ण व्यवस्था के गुण–वर्ण व्यवस्था के लाभ अथवा गुणों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

(1) इस व्यवस्था में समाज कल्याण की भावना दिखायी देती है।

(2) यह श्रम विभाजन के महत्व को स्वीकार करती है।

(3) वर्ण व्यवस्था समाज में संगठन तथा सुव्यवस्था स्थापित कर सकती है।

(4) यह अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा का अन्त कर देती है।

(5) इसमें सभी व्यक्ति को समान समझा जाता है। व्यक्ति में कर्तव्य पालन तथा सेवा की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) इसमें सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्यों को पूरा करते हुए परस्पर सहयोग द्वारा आदर्श जीवन की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। मैनयर विल्सन ने लिखा है, "वर्ण व्यवस्था मनुष्य को त्याग का पाठ पढ़ाती हैं, दुराचार से उसे राकती है, दरिद्रता को दूर करती है तथा उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है।" इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है, "वर्ण व्यवस्था में कुछ न कुछ विशिष्ट गुण अवश्य हैं। इसी कारण वह उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सहस्त्रों वर्षों से विद्यमान है। यदि वर्ण व्यवस्था में यह आवश्यक गुण न होता, तो अब तक उसका पतन अवश्य हो गया होता।"

वर्ण व्यवस्था के दोष–आरंभ में वर्ण व्यवस्था शुद्ध तथा सरल थी, किन्तु जैसे-जैसे इसमें जटिलता आती गयी, यह समाज के लिये एक अभिशाप सिद्ध होने लगी। वर्ण व्यवस्था के प्रमुख दोषों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

(1) वर्ण व्यवस्था ने हिन्दू धर्म को अनेक जातियों में बांट दिया।

(2) वर्ण व्यवस्था ने हमारी राष्ट्रीय एकता तथा सामाजिक एकता पर गहरी चोट की।

(3) वर्ण व्यवस्था के जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो जाने से भारतीय समाज में क्षीणता आने लगी। फलतः उसे यवनों के हाथों शिकस्त का सामना करना पड़ा।

(4) इस संगठन ने एक संकुचित विचार धारा को जन्म दिया, जो हमारी प्रगति के मार्ग में बाधक सिद्ध हुई।

(5) वर्ण व्यवस्था ने समाज में ऊंच-नीच तथा धर्मान्धता की भावनाएं उत्पन्न कीं।

(6) इस प्रथा ने कई कुरीतियों को जन्म दिया, जिन्होंने सामाजिक संगठन को खोखला कर दिया।

(7) कालान्तर में वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गयी तथा व्यक्तियों को अपने पैतृक व्यवसाय को अपनाना पड़ा, चाहे उसमें उसकी योग्यता हो या न हो। अतः व्यक्तियों को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा योग्यता के विकास का अवसर न मिला तथा उनका व्यक्तित्व अपूर्ण रह गया।

वर्ण तथा जाति में अन्तर–होकार्ट नामक विद्वान ने जाति तथा भेद को समान ही माना है, किन्तु हट्टन ने निम्न आधारों पर इन दोनों में अन्तर प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है–

(1) जाति व्यवस्था से वर्ण व्यवस्था प्राचीन है तथा वर्ण व्यवस्था द्वारा विकृत रूप ले

लेने पर ही जाति व्यवस्था का जन्म हुआ। वर्ण व्यवस्था वैदिक काल में उदित हो चुकी थी, जबकि जाति व्यवस्था का जन्म उत्तर वैदिक काल में हुआ।

(2) वर्ण की अपेक्षा जाति एक संकीर्ण धारणा है। वर्ण कर्म पर आधारित है, जबकि जाति जन्म पर आधारित है।

(3) वर्णों की तुलना में जाति व्यवस्था में अधिक जटिलता तथा छुआछूत, ऊंच नीच की भावनाएं पायी जाती हैं।

(4) वर्ण मात्र चार थे, जबकि जातियां तो हजारों हैं और वह भी कई उपजातियों में विभक्त हैं।

(5) वर्ण व्यवस्था परिवर्तनशील है। इसमें व्यक्ति अपना व्यवसाय बदलकर अपना वर्ण भी बदल सकता था, जबकि जाति व्यवस्था अपरितर्वनशील है। इसमें व्यक्ति की जाति जन्म से निर्धारित हो जाती है, जो अपरिवर्तनशील है।

(6) वर्ण व्यवस्था में सभी वर्ण समान माने जाते हैं, जबकि जाति व्यवस्था में ऊंच-नीच एवं छुआछूत की भावनाएं पायी जाती हैं।

(7) वर्ण व्यवस्था एक सरल व्यवस्था है, जबकि जाति व्यवस्था जटिल।

(8) वर्ण व्यवस्था में कर्तव्यपालन पर बल दिया जाता है, जबकि जाति व्यवस्था में विभिन्न निषेधों के पालन पर।

(9) वर्ण व्यवस्था में एक वर्ण के व्यक्ति को कई तरह के व्यवसाय करने का अधिकार था, जबकि जाति व्यवस्था में व्यक्ति मात्र एक व्यवसाय तक सीमित रहता था।

(10) वर्ण का तात्पर्य शरीर के रंग से तथा जाति का अभिप्राय किसी विशेष वर्ग में जन्म तथा उस वर्ग के निश्चित व्यवसाय से है।

(11) वर्ण व्यवस्था में विभिन्न वर्णों में पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते थे, जबकि जाति व्यवस्था में व्यक्ति को अपनी जाति के अलावा अन्य किसी जाति में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार नहीं होता।

वस्तुतः वर्ण और जाति में बड़ा गहरा अन्तर है तथा इन्हें एक समझा जाना निश्चित रूप से भ्रामक है।

आश्रम व्यवस्था

भारतीय समाज की दूसरी प्रमुख विशेषता आश्रम व्यवस्था रही है, जिसमें मानव की औसत आयु सौ वर्ष मानते हुए उसे पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार भागों-ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यासाश्रम में बांटा गया है।

ब्रह्मचर्याश्रम (25 वर्ष की आयु तक) –उपनयन संस्कार के साथ ही व्यक्ति

ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता था। इसके पश्चात वह अपने गुरू के सानिध्य में रहते हुए विविध विधाओं एवं कलाओं का ज्ञान प्राप्त करता था। उपनयन का अधिकार मात्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों तक सीमित था। शूद्रों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। ऐसी मान्यता थी कि उपनयन संस्कार के द्वारा बालक का एक नवीन जीवन आरंभ होता है। कालान्तर जब वर्ण व्यवस्था जटिलता धारण करने लगी, तब निश्चय किया गया कि विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों का उपनयन संस्कार भिन्न-भिन्न समय में तथा भिन्न-भिन्न मंत्रों के द्वारा किया जाना चाहिए। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य का शरद ऋतु में किया जाना चाहिए। इस संस्कार के अन्तर्गत ब्राह्मण बालकों हेतु गायत्री मंत्र, क्षत्रिय हेतु त्रिष्टुभ मंत्र तथा वैश्य हेतु **जगती मंत्र** का प्रयोग किया जाना चाहिये।

बालकों की तरह बालिकाओं को भी उपनयन का अधिकार दिया गया। उपनयन संस्कार होने पर बालक-बालिका अपने घरों को छोड़कर गुरू के पास गुरुकुलों में रहने लगते थे। विभिन्न वर्णों के लिये उपनयन संस्कार की आयु भी अलग-अलग थी। ब्राह्मण बालकों को आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालकों का ग्याहरवें वर्ष में तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में उपनयन किया जाता था। ब्राह्मण बालक से ज्ञान के क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करने की आशा की जाती थी, अतः उनका अध्ययन कार्य जल्दी ही आरंभ करवा दिया जाता था। ब्रह्मचारी की वेश-भूषा निश्चित थी। वह दो वस्त्र-अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय (दुपट्टा) पहनता था। वह दण्ड तथा मेखला भी धारणा करता था।

ब्रह्मचारी को भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करना पड़ता था। वह प्रतिदिन सूर्योदय के पश्चात् भिक्षा लेने जाता था तथा भिक्षा लाकर अपने गुरू के सामने प्रस्तुत कर देता था। वह अपने नित्य कर्मों से निवृत्त होकर भिक्षा के लिये निकलता था तथा गृहस्थ स्त्रियों से क्षमतानुसार भिक्षा देने की आशा की जाती थी। **आपस्तम्ब** धर्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी को भिक्षा न देने पर स्त्री को सन्तान, पशु, अन्न, विद्या आदि नष्ट हो जाती है। गुरू की सेवा करना ब्रह्मचारी का कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त गुरू के पशुओं की देखभाल भी ब्रह्मचारी के द्वारा की जाती थी। ब्रह्मचारी जंगल से समिधाएं (यज्ञ तथा भोजन हेतु लकड़ी) भी एकत्रित करते थे। उनके लिये जूते पहनना, सुगंधित वस्तुओं का प्रयोग, गाना, नृत्य करना, मालाएं पहनना, स्त्रियों का संग करना आदि का निषेध था।

ब्रह्मचारी को अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए संयम का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य के महत्व के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है–

"यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशान्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदे संग्रहेणं प्रवक्ष्ये॥"

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञान प्राप्त करता था तथा 25 वर्ष की आयु में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। साधारणतः ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि 18 वर्ष होती थी। विद्याध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था एवं इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

गृहस्थाश्रम (26 से 50 वर्ष की आयु तक) –विवाह के साथ ही ब्रह्मचारी का गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। धर्म शास्त्रों में गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की तुलना में महत्वपूर्ण माना गया है, जिसके निम्नलिखित कारण हैं–

(1) ब्राह्मण धर्म के प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण इस आश्रम के महत्व पर विशेष बल दिया गया।

(2) यज्ञ एवं हवन आदि कार्य गृहस्थाश्रम में ही किये जा सकते थे।

(3) वानप्रस्थानश्रम एवं संन्यासाश्रम में व्यक्ति केवल दो पुरूषार्थों– धर्म तथा मोक्ष की ही साधना कर सकता था, जबकि गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों पुरुषार्थों का पालन किया जा सकता था। अतः इसे महत्ता दी गयी।

(4) आर्थिक दृष्टि से भी गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया गया। शेष तीनों आश्रमों के भोजन, वस्त्र तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति गृहस्थआश्रम द्वारा ही की जा सकती थी।

(5) गृहस्थाश्रम में रहकर व्यक्ति देवऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण से मुक्ति प्राप्त कर सकता था।

(6) जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव से लोग गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर संन्यास की तरफ आकर्षित होते जा रहे थे। ऐसे समय में सूत्रकारों ने गृहस्थाश्रम के महत्व पर बल देते हुए कहा कि व्यक्ति गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है तथा गृहस्थ जीवन मोक्ष प्राप्ति में बाधक नहीं है।

(7) मनु ने भी गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। इसमें रहकर व्यक्ति 16 संस्कारों एवं पांच यज्ञों-ब्रह्म, देव, ऋषि, मनुष्य एवं पितृ– को सम्पन्न कर सकता है।

(8) वैदिक धर्म कर्मकाण्ड प्रधान था तथा धार्मिक रीति रिवाजों को पूरा करने के लिये पुत्र की आवश्यकता होती थी और यह गृहस्थाश्रम में ही संभव था।

याज्ञवल्क्य स्मृति में गृहस्थों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है–

(1) कुसूल धान्य–जो अपने परिवार के भरण पोषण हेतु 12 दिनों के भोजन का संग्रह करें।

(2) कुम्भ धान्य–जो अपने परिवारों के भरण पोषण हेतु छः दिन का संग्रह करें।

(3) **त्र्यहिक**–जो तीन दिन के भोजन का संग्रह करें।

(4) **अश्वस्तनिक**–जो केवल एक दिन का ही भोजन संग्रह करें।

मनुस्मृति में भी गृहस्थों की चार श्रेणियों-कुसूल धान्य, कुम्भ धान्य, अश्वस्तनिक तथा कोपातीआश्रित का उल्लेख किया है। किन्तु संभवतः यह विभाजन मात्र गृहस्थों के लिये था, क्योंकि उनसे त्यागमय जीवन बिताने की आशा की जाती थी।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने अपरिग्रह पर बहुत बल दिया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य के समान अपरिग्रह का पालन करना भी सबके लिये अनिवार्य माना जाता था। प्राचीन काल में यह भावना विद्यमान थी कि गृहस्थ व्यक्ति जिस अन्न सामग्री का उत्पादन करता है अथवा जिस धन का उपार्जन करता है, वह मात्र परिवार के लिये न होकर सम्पूर्ण समाज के लिये होना चाहिये। यद्यपि वैश्यों के लिये अपरिग्रह के आदर्श को प्रतिपादित नहीं किया गया था, तथापि उनसे आशा की जाती थी कि वे धन अथवा सम्पत्ति को समाज की धरोहर समझ कर अपने पास रखें।

वानप्रस्थाश्रम (51 वर्ष से 75 वर्ष की आयु तक) –मनु ने लिखा है कि जब गृहस्थ के बाल सफेद हो जायें तथा उसके पौत्र-पौत्री हो जायें, तो उसे घर छोड़कर वन में चला जाना चाहिये। इस आश्रम की अवधि 51 वर्ष से लेकर 75 वर्ष की आयु तक मानी जाती थी। पत्नी यदि चाहती, तो वह अपने पति के साथ जा सकती थी और यदि न चाहती, तो घर में ही परिवार के बीच रहती थी।

इस आश्रम में मनुष्य जंगल में घास-फूस की कुटिया बनाकर रहता था। वह कन्द मूल, फल तथा भिक्षा से प्राप्त अन्न से पेट की तृष्णा को शान्त करता था। वह वृक्षों की छाल अथवा हिरण की खाल पहनता था एवं जमीन पर सोता था। इस आश्रम में वह शारीरिक तपस्या करता था। इसके अतिरिक्त वह वेदों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करता था। उसके द्वारा सभी प्राणियों के प्रति स्नेह एवं सद्भाव का व्यवहार किया जाता था। वह सिर के बालों तथा दाढ़ी मूंछों को बढ़ाकर रखता था एवं पांचों महायज्ञ करता था। उनका जीवन अत्यन्त उच्च था। वन में उनके आश्रमों में बालक भी ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा प्राप्त करने आते थे।

संन्यासाश्रम (76 से 100 वर्ष की आयु तक) –यह अन्तिम आश्रम था तथा केवल ब्राह्मणों के लिये था। वस्तुतः संन्यासाश्रम का जीवन त्यागी एवं उच्च विचार वाले लोगों के लिए ही बिताना संभव था। संन्यासियों का समाज में बहुत अधिक सम्मान होता था। वे राग द्वेष एवं मोह माया से दूर रहते थे तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयास करते थे। वे सबसे अनासक्त होते थे। उनका अपने परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं होता था। उन्हें यमों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रहाचर्य व अपरिग्रह) तथा नियमों (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्राणिधान) आदि का पालन करना पड़ता था। इस आश्रम का काल

76 वर्ष से लेकर 100 वर्ष तक की अवस्था का माना जाता था। वे किसी एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहते थे, बल्कि दण्ड कमल लेकर निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थानों पर विचरते रहते थे।

भारतीय संन्यासियों के सम्बन्ध में अलबरूनी ने लिखा है, "चौथा आश्रम जीवन के अन्त तक चलता है। इस काल में मनुष्य गेरूए वस्त्र पहनते हैं और हाथ में **दण्ड कमल** रखते हैं। वे ईर्ष्या, द्वेष और शत्रु-मित्र भाव से दूर और काम, क्रोध, लोभ, मोह से परे रहते हैं। भ्रमण करते हुए वे किसी गांव में एक दिन से अधिक नहीं ठहरते तथा किसी नगर में पांच दिन से अधिक नहीं। उन्हें जो भिक्षा मिलती है, उसमें वे अगले दिन के लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखते। वे मोक्ष और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील रहा करते हैं।"

वस्तुतः इन आश्रमों की व्यवस्था में प्राचीन भारतीय गौरव झलकता था। आर्य लोग इन आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने में अपना गौरव समझते थे। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने लिखा है, "चार आश्रमों का संगठन भारतीय समाज की एक अनोखी विशेषता है।"[10]

सन्दर्भ

1. गीता 4/13.
2. महाभारत 12/188/5.
3. काणे, पी.वी.: धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम खण्ड) पृ.110.
4. ऋग्वेद, 8/67/1, 10/66/8, 4/42/1, 10/109/3, 10/97/6.
5. ऋग्वेद, 3/5/3, 3/11/5, 4/28/4, 6/25/2, 10/124/8.
6. काणे, पी. वी. : वही, पृ. 112.
7. यजुर्वेद, 31/10/1; 30/5: 18/48 ; अथवर्वेद, 5/17/9; 5/7/103; 19/32/8 काठक संहिता 4/4.
8. वाल्मीकि रामायण, 1/13/20.
9. महाभारत 3/313/108; 12/189/4; 12/128/10.
10. मजूमदार, आर.सी. : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 87.

□

3

पंच यज्ञ एवं संस्कार

प्राचीन भारतीय संस्कृति में यज्ञों के महत्त्व पर बहुत बल दिया गया है। अथर्व-वेद में यज्ञ को विश्व की नाभि कहा गया है-'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।' ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में यज्ञ को ही संसार का प्रथम धर्म तथा विश्व का उत्पत्तिकर्ता माना गया है 'यज्ञेनयज्ञमजयन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।' यजुर्वेद में यज्ञ को ही प्रजापति एवं विष्णु कहा गया है–'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, प्रजापतिर्वैयज्ञ'। वस्तुतः भारतीय संस्कृति यज्ञ प्रधान रही है।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रतिदिन पांच यज्ञ करने का विधान किया गया है। मनु ने अपनी रचना के तीसरे अध्याय में लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन होने वाली पांच प्रकार की हिंसाओं (चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, मूसल व घटादि) के प्रायश्चित्त के रूप में पांच महायज्ञ करने चाहिये। इन पंच महायज्ञों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

(1)ब्रह्मम यज्ञ–यह ऋषि यज्ञ भी कहलाता है। इसके अन्तर्गत मनुष्य वेदों के पठन-पाठन द्वारा प्राचीन ऋषियों के प्रति सम्मान प्रकट करता है। इस यज्ञ के अन्तर्गत स्वाध्याय एवं सन्ध्योपासना, दो प्रकार की क्रियाएं आती हैं। स्वाध्याय का तात्पर्य है कि मनुष्य को प्रतिदिन सद्ग्रंथों का पठन-पाठन करना चाहिये। सन्ध्योपसना में ब्रह्मम की उपासना की जाती है। मनु का मानना था कि सन्ध्या करने का स्थान सुन्दर, खुली हवा वाला जलाशय का तट अथवा उद्यान होना चाहिये। उनका मानना था कि प्रातः की गयी सन्ध्या से रात्रि के एवं सांय में की गयी सन्ध्या से दिन के दुष्कर्मों का अन्त होता है।

(2) देव यज्ञ–धर्मशास्त्रों के अनुसार मनुष्य जो कुछ भी प्राप्त करता है, वह सब देवताओं की कृपा से ही प्राप्त करता है। अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे तथा उन्हें प्रसन्न करे। अतः देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जो यज्ञ अथवा हवन किया जाता है, उसे देव यज्ञ कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन प्रातः एवं सन्ध्या को अग्नि, सोम, प्रजापति, पृथ्वी, इन्द्र आदि देवताओं के नाम के साथ स्वाहा कहकर अग्नि में घी, दूध एवं दही डालकर हवन करना चाहिये।

देव यज्ञ को 'अग्निहोत्र' भी कहा जाता है। अग्निहोत्र यज्ञ करते समय व्यक्ति को हवन स्थल के आस-पास की सफाई करनी चाहिये तथा स्वयं भी शरीर से शुद्ध होना चाहिये। कभी-कभी इन यज्ञों का विशाल पैमाने पर आयोजन होता है, जिसमें अनेक व्यक्ति सम्मिलित होकर परस्पर मैत्री भाव में वृद्धि करते हैं।

(3) **पितृ यज्ञ**–ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति पर उसके पितरों अथवा पितृों (परिवार के मृतक सदस्य) का ऋण होता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को उसे चुकाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके अन्तर्गत पितरों को श्रद्धांजलि देने हेतु श्राद्ध अथवा तर्पण का आयोजन किया जाता है। पितरों के लिये दक्षिण दिशा की तरफ जल फैंका जाता है। इसके अतिरिक्त इस यज्ञ के अन्तर्गत माता-पिता की सेवा करना, गुरुजनों की आज्ञा मानना आदि बातों को भी शामिल किया जाता है। इस यज्ञ ने भी सृष्टि विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, क्योंकि जिस प्रकार हमारे माता-पिता ने हमें उत्पन्न कर संस्कृति की रक्षा की है, उसी प्रकार हमें भी आगामी पीढ़ियों को अक्षुण्ण रखने हेतु प्रयास करना चाहिये।

(4) मनुष्य यज्ञ–इसे नृयज्ञ अथवा अतिथि यज्ञ भी कहा जाता है। व्यक्ति द्वारा घर पर आये अतिथि का सत्कार करना ही मनुष्य यज्ञ कहलाता है। साधुओं को भोजन तथा वस्त्र देना, द्वार पर आये भिखारी को खाली हाथ न लौटाना आदि इसी संस्कार के अन्तर्गत आता है। एक धर्म ग्रंथ में लिखा गया है, "यज्ञ, अग्निहोत्र, दान इत्यादि से गृहस्थ को उतना फल नहीं मिल सकता, जितना अतिथि की पूजा से। चाहे हजारों मन समिधा तथा सैंकड़ों घड़े घृत का होम करें, किन्तु यदि अतिथि को आपने संतुष्ट नहीं किया, तो वह होम व्यर्थ हैं। इसलिये अतिथि सेवा अवश्य करनी चाहिये।"

(5) भूत यज्ञ–इसे 'बलिवैश्वदेव' यज्ञ भी कहा जाता है। प्रत्येक परिवार को भोजन करने से पहले भोजन का कुछ भाग कुत्ते, कौवे, गाय इत्यादि जानवरों को डालना चाहिए। इससे व्यक्ति का अन्य प्राणियों के प्रति कर्तव्य का पता चलता है।

वस्तुतः इन पंच महायज्ञों का पालन करते हुए प्रत्येक गृहस्थ सुखी एवं आदर्श जीवन व्यतीत कर सकता है।

सोलह संस्कार

हिन्दू धर्म में संस्कारों का बहुत महत्व है। संस्कार शब्द की उत्पत्ति सम उपसर्ग पूर्वक कृ घातु से धञ प्रत्यय करने से हुई है, जिसका तात्पर्य है– धार्मिक विधि विधान। इन संस्कारों से मनुष्य का शारीरिक, चारित्रिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास होता है। डॉ.राजबली पाण्डेय ने लिखा है, "संस्कार हिन्दू के लिये सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचार मात्र नहीं। संस्कार जीवन की भौतिक और आत्मवादी धारणाओं के बीच मध्य मार्ग का काम देते थे। संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की

क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते थे।" डॉ. राजबली पाण्डेय ने समस्त संस्कारों को पांच भागों में विभक्त किया है-(1) जन्म से पूर्व के संस्कार, (2) शिशु के संस्कार, (3) शिक्षा सम्बन्धी संस्कार, (4) विवाह एवं (5) अन्त्येष्टि।[1] धर्म शास्त्रों में जन्म से लेकर मृत्यु तक के लिये 16 संस्कारों की व्यवस्था की गयी है, जिनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है-

(1) गर्भाधान संस्कार-जिस क्रिया के द्वारा पुरुष स्त्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे गर्भाधान संस्कार कहते हैं। यह कार्य शुभ दिवस को होना चाहिये एवं इस कार्य के समय पुरूष की न्यनूतम आयु 25 वर्ष एवं स्त्री की न्यूनतम आयु 16 वर्ष होनी चाहिये।[2]

(2) पुंसवन-इसमें सुयोग्य व स्वस्थ पुत्र हेतु देवताओं से प्रार्थना की जाती है। यह संस्कार प्रायः गर्भधारण करने के दो-तीन माह पश्चात होता है। गर्भ धारण करने वाली स्त्री का सम्मान होता है तथा उसे कुछ आयुर्वेदिक औषधियां दी जाती हैं।

(3) सीमन्तोन्नयन-पति अपनी गर्भवती स्त्री के तीसरे अथवा चौथे माह में उसके केशों को सजाकर बीच में से मांग निकालता है।[3] इस अवसर पर उत्सव आयोजित किया जाता है।

(4) जात कर्म-यह संस्कार पुत्र के जन्म होने पर होता है। सभी लोग शिशु को आर्शीवाद देते हैं। यह संस्कार वर्तमान काल में भी प्रचलित है।

(5) नामकरण-यह संस्कार बच्चे के जन्म के दसवें या बारहवें दिन बाद होता है। इस समय पिता अपनी संतान का एक सुन्दर सा नाम रखता है। इस अवसर पर हवन किया जाता है एवं भोज दिया जाता है।

(6) निष्क्रमण संस्कार-शिशु के चार महीने का हो जाने पर उसे प्रथम बार घर से निकालकर दिन में सूर्य एवं रात्रि में चन्द्रमा के दर्शन कराये जाते हैं। इससे उसके विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(7) अन्नप्राशन-शिशु के 6 माह का होने पर उसे पहली बार अन्न खिलाये जाने को अन्नप्राशन संस्कार कहते हैं। शुरू में बालक को घृत, भात एवं दही को मिश्रित रूप से खिलाया जाता है।

(8) चूड़ा कर्म-यह केशोच्छेदन संस्कार भी कहलाता है। इसके अन्तर्गत जन्म के पहले अथवा तीसरे वर्ष में चोटी को रखकर बालक के सारे बाल काट दिये जाते हैं।[4]

(9) कर्ण वेध-बालक के तीन अथवा पांच वर्ष की अवस्था में उसे अच्छे वस्त्र पहनाकर उसके दोनों कानों (पहले दाहिना तथा फिर बांया कान) को छेदा जाता है। यह संस्कार स्वास्थ्य की दृष्टि से काफी लाभदायक है। कानों में छेद होने से आंत बढ़ना रुक जाती है तथा कुण्डल आसानी से पहने जा सकते हैं।

(10) विद्यारम्भ संस्कार–यह 5 वर्ष की आयु में सम्पन्न होता है। इसमें बालक शारीरिक दृष्टि से पवित्र होकर सरस्वती की स्तुति के साथ अक्षर ज्ञान सीखता है।

(11) उपनयन–यह यज्ञोपनीत संस्कार भी कहलाता है तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उपनयन 'उप+नयन' से मिलकर बना है। 'उप' का अर्थ है समीप तथा नयन का अर्थ है 'ले जाना'। इस प्रकार उपनयन का शाब्दिक अर्थ है समीप ले जाना।[5] बालक को शिक्षा प्राप्ति के लिये गुरू के पास ले जाने को ही उपनयन संस्कार कहा जाता था। ऐसा माना जाता था कि क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य द्वारा इस संस्कार को पूरा किया जाना आवश्यक है। इस संस्कार में बालक को मंत्रों के साथ यज्ञोपवीत पहनाया जाता था, जो उसके दाएं कन्धे से होकर बांयी भुजा के नीचे तक लटका रहता था। यह एक सूत्र होता था, जो तीन भागों में बंटा होता था।

यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् बालक पीत वस्त्र धारण कर, सिर मुंडवा कर तथा मेखला एवं दण्ड धारण कर शिक्षा प्राप्ति हेतु गुरू के, समीप जाता था। गुरू बालक को गायत्री मंत्र की विधा देता था। वह बालक को ब्रह्मचारी जीवन बिताने के निर्देश देते हुए कहता था, "तुम ब्रह्मचारी हो, जल का पान करो, काम करो, दिन में शयन मत करो और आचार्य के नियंत्रण में वेदों का अध्ययन करो।" यह संस्कार ऊपर के तीनों वर्णों के लिये ही था तथा शूद्रों को इसे करने का अधिकार न था। तीनों वर्णों में इस संस्कार का समय अलग-अलग था। मनु ने ब्राह्मण बालक के इस संस्कार की आयु 5 वर्ष, क्षत्रिय की 6 वर्ष तथा वैश्य की 8 वर्ष मानी है। आरंभ में नारियों का भी उपनयन संस्कार कर उन्हें वेदों का अध्ययन करवाया जाता था, किन्तु कालान्तर में बाल विवाह का प्रचलन हो जाने से उनका यह संस्कार बंद हो गया

इस संस्कार के बाद बालक को वेदों को पढ़ने का तथा गायत्री मंत्रों को उच्चारित करने का अधिकार मिल जाता था। इस प्रकार यह संस्कार शिक्षा जगत का द्वार था। इस संस्कार के बाद ही बालक 'द्विज' कहलाता था अर्थात् उसे अपने वर्ग का पूर्ण सदस्य माना जाता था।

(12) वेदारम्भ–आरंभ में बालकों को उपनयन संस्कार के साथ ही गुरू वेदों की शिक्षा देना प्रारंभ कर देता था, किन्तु कालान्तर में संस्कृत के बोल-चाल की भाषा न रहने पर इसमें कठिनाई आने लगी। अतः यह संस्कार किया जाने लगा। उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरू गायत्री मंत्रों के साथ बालक को वेदों का अध्ययन आरंभ करवा देता था। उन्हें पहले एक वर्ष तक संस्कृत भाषा का अध्ययन करवाया जाता था तथा तत्पश्चात् वेदों का।

(13) केशान्त संस्कार–16 वर्ष की आयु में बालक अपनी दाढ़ी-मूँछे एवं सिर के बाल कटवाता था। चूंकि इस अवसर पर बालक के परिवार द्वारा गुरू को एक गाय दान में दी जाती थी, अतः इसे गोदान संस्कार भी कहते हैं।

(14) समावर्तन–यह दीक्षान्त संस्कार भी कहलाता था। शिक्षा समाप्ति के पश्चात् शिष्य गुरू को दक्षिणा देकर तथा उसका आर्शीवाद लेकर घर लौटता था।

(15) विवाह संस्कार–यह बहुत महत्वपूर्ण संस्कार था तथा इसके साथ ही बालक का ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। स्वामी दयानन्द के अनुसार, "ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये विवाह करके अपने सामर्थ्यानुसार परोपकार करना और नियत काल में यथा विधि ईश्वरोपासना और गृह कृत्य और सत्य धर्म से ही अपना तन, मन धन लगाना तथा धर्मानुसार संतानों की उत्पत्ति करना, इसी का नाम गृहस्थाश्रम संस्कार है।" इस संस्कार में व्यक्ति द्वारा कुल, रूप तथा योग्यता के आधार पर अपनी जीवन संगिनी का चुनाव किया जाता था। तत्पश्चात् अग्नि के समक्ष दोनों का विवाह हो जाता था तथा वे जीवन भर एक दूसरे का साथ निभाने की कसम खाते थे।

विवाह के उद्देश्य–विवाह के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित माने गये हैं–

(1) सन्तानोत्पत्ति हेतु विवाह आवश्यक है, ताकि व्यक्ति का वंश चलता रहे। संतान से व्यक्ति को इहलौकिक व पारलौकिक सुख प्राप्त होता है। पुत्र माता-पिता की वृद्धावस्था में सेवा करता है तथा उनकी मृत्यु के बाद उनकी आत्मा की शान्ति के लिये श्राद्ध करता है।

(2) गृहस्थ जीवन में यज्ञ करने हेतु विवाह अनिवार्य था।

(3) जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति हेतु भी विवाह आवश्यक था।

विवाह समय पति-पत्नी एक दूसरे से कहते थे, "तुम्हारा हृदय मेरे व्रत के अनुकूल हो, तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो, मेरे कथन को प्रेमपूर्वक एक मन होकर सुनो। भगवान प्रजापति तुमको मुझमें अनुरक्त करें।"[6] डॉ. मंगलदेव ने लिखा है, "विवाह विषयोपभोग के असंयत जीवन का आरभ नहीं है। वह तो, वास्तव में, गृहस्थ जीवन के पूर्ण उत्तरदायित्व समझने वाले दम्पत्ति के लिये जीवन संघर्ष में और राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त और प्रविष्ट होने का एक महान प्रतीक है।"[7]

विवाह की आयु–वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था के प्रचलन के कारण व्यक्ति 25 वर्ष की आयु में ही विवाह करता था। वधू वर से आयु में छोटी होती थी।

विवाह प्रणालियाँ–धर्म शास्त्रों में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन है–

(1) ब्रह्म–यह विवाह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमें कन्या का पिता स्वेच्छा के साथ वर के साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता था।

(2) दैव–इस विवाह के अन्तर्गत प्राचीन काल में यज्ञ करवाने वाले पुरोहित की योग्यता से प्रभावित होकर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर देता था। इस प्रकार पुरोहित को दक्षिणा के रूप में कन्या प्राप्त होती थी।

(3) आर्ष–इस विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता वर पक्ष से एक गाय एवं एक

बैल लेकर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर देता था। इस गाय एवं बैल की यज्ञ में बलि दी जाती थी, अत: इसे आर्ष विवाह कहा जाता था।

(4) प्राजापत्य–इस विवाह का प्रमुख उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है तथा इसे भी आदर्श विवाह माना जाता है। इसमें कन्या का पिता वर के साथ विधिपूर्वक अपनी कन्या का विवाह कर दोनों को सुखी जीवन व्यतीत करने का आशीर्वाद देता है।

(5) गान्धर्व–यह एक तरह का प्रेम विवाह था। इसमें माता-पिता की अनुमति आवश्यक नहीं थी। लड़का एवं लड़की में पहले ही प्रेम हो जाता था व शारीरिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे एवं तत्पश्चात् वे विवाह कर लेते थे। समाज स्त्री जीवन को नष्ट होने से बचाने हेतु इन विवाहों को मान्यता प्रदान कर देता था। दुष्यंत तथा शकुन्तला का प्रेम विवाह इसका उदाहरण है।

(6) आसुर–यह विवाह क्रय-विक्रय प्रणाली पर आधारित था तथा कन्या का पिता वर पक्ष से निश्चित मूल्य प्राप्त होने पर ही अपनी कन्या का विवाह वर के साथ करता था। धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाहों की निन्दा की गयी है। बोधायन में लिखा गया है, "कन्या को बेचने वाला पिता घोर नरक में जाता है तथा क्रीत पत्नी धर्मविवाहिता नहीं हो सकती। वह एक दासी के समान होती है।"

(7) राक्षस–इस प्रणाली के अन्तर्गत कन्या की इच्छा के विरूद्ध उसका शक्ति से अपहरण कर लेना तथा उससे बलपूर्वक विवाह कर लेना राक्षस विवाह कहलाता है। कालान्तर में यह प्रणाली क्षत्रियों में लोकप्रिय हो गयी।

(8) पैशाच–यह सबसे निम्न कोटि का विवाह है। इसमें निद्रामग्न, बेहोश, पागल, शराब में उन्मन्त कन्या के साथ धोखे से अथवा जादू शक्ति के प्रभाव से शारीरिक सम्बन्ध बना लिये जाते थे। वर्तमान समय में बलात्कार को पैशाच कर्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है। स्त्री के जीवन को बर्बाद होने से बचाने के लिये समाज पैशाच कर्म करने वाले व्यक्ति को ऐसी स्त्री के साथ विवाह करने हेतु विवश करता है तथा सूत्रकारों ने स्त्री का हित देखते हुए ही इस विवाह को मान्यता दी है।

इन आठ विवाहों में ब्राह्म एवं प्राजापत्य विवाह को सर्वश्रेष्ठ तथा दैव एवं आर्ष विवाह को धर्मसंगत माना गया है। कुछ विचारकों ने गान्धर्व विवाह को भी धर्म संगत माना है, जबकि कुछ इसके विरोधी है। आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह को सूत्रकारों ने एक मत से अधार्मिक बतलाया है।

अन्तर्जातीय विवाह–वैसे तो प्राचीनकाल में सजातीय विवाह करना ही उपयुक्त समझा जाता था, किन्तु समाज में दो प्रकार के अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे–

(1) अनुलोम विवाह–जब ऊंचे वर्ण का मनुष्य अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर लेता था, तो उसे अनुलोम विवाह कहा जाता था। यथा ब्राह्मण पुरुष का

क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह, क्षत्रिय पुरुष का वैश्य स्त्री के साथ विवाह। सूत्रकारों ने इस विवाह को मान्यता दी है।

(2) **प्रतिलोम विवाह**–किसी निम्न जाति के पुरुष द्वारा अपने से ऊपर की जाति की स्त्री के साथ विवाह करने को प्रतिलोम विवाह कहा जाता था। यथा वैश्य पुरुष का क्षत्रिय स्त्री से विवाह अथवा क्षत्रिय पुरुष का ब्राह्मण स्त्री के साथ विवाह। धर्मशास्त्रों में इस प्रकार के विवाहों को अधार्मिक मानते हुए इनसे उत्पन्न संतानों को अवैध माना गया है।

(3) **सगोत्र, सप्रवर व सपिण्ड विवाह**–धर्म शास्त्रों में माता पिता के सगोत्र, सप्रवर एवं सपिण्ड के विवाह अवैध माने गये हैं, जिनसे माता-पिता का धार्मिक सम्बन्ध है। व्यक्ति अपने निकट संबंधियों में विवाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार गोत्र तथा प्रवर विवाह भी वर्जित है। सेनार्ट ने 'वैदिक इण्डैक्स' में लिखा है, " आर्य लोग विवाह के विषय में सवर्ण तथा असगोत्र विवाह दोनों नियमों का अनुसरण करते थे।

नियोग प्रथा–विशेष स्थितियों में धर्म शास्त्रों में नियोग प्रथा को वैध ठहराया गया था। इसके अन्तर्गत यदि किसी स्त्री का पति संतानोत्तपत्ति में अक्षम हो, युवावस्था में ही मर जाये अथवा रोगी हो, तो स्त्री अपने देवर के साथ तथा देवर के न होने पर किसी सगोत्र जाति के व्यक्ति के साथ मिलकर दो या तीन पुत्र पैदा कर सकती थी। ये पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाते थे तथा मृत अथवा असली पति के नाम से जाने जाते थे। कालान्तर में यह प्रथा समाप्त हो गयी।

विवाह विच्छेद–भारत में विवाह को पवित्र एवं स्थायी संस्कार माना गया है तथा धर्मशास्त्रों ने विवाह विच्छेद का विरोध किया गया है। मनु ने विवाह विच्छेद का विरोध करते हुए स्त्री को पुनर्विवाह की मनाही की है। मनु ने कहा है, "पति को धर्म, अर्थ तथा काम के विषय में एक दूसरे के प्रति सच्चा रहना चाहिये और सदा यही प्रयत्न करना चाहिये कि वे कभी भी अलग न हों। पति-पत्नी की पारस्परिक निष्ठा आमरण चलती जाये, यह पति-पत्नी का परम धर्म है।" कौटिल्य ने मात्र गान्धर्व, आसुर, राक्षस विवाह में ही तलाक का समर्थन किया है। बाद के लेखकों में नारद ने ही स्त्री को पति के नपुंसक होने अथवा सन्यासी बन जाने पर तलाक का अधिकार दिया है।

(16) **अन्त्येष्टि संस्कार**–यह जीवन का अंतिम संस्कार है। इसमें मृतक शरीर को स्नान करवाकर अर्थी पर लिटाकर शमशान ले जाया जाता है तथा वहाँ उसे चिता पर रख दिया जाता है। शव को मन्त्रोच्चारण के साथ अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। हिन्दू धर्म के अनुसार ऐसा करने से मृतक की आत्मा को परलोक में शांति मिलती है।

प्राचीन काल में इन संस्कारों का बड़ा महत्व था। धीरे-धीरे लोगों का इन संस्कारों से विश्वास हटता जा रहा है तथा ये संस्कार समाप्त होते जा रहे हैं।

संदर्भ

1. पाण्डेय, राजबली (डॉ.) : हिन्दू संस्कार, प्रीफेस, पृ. 9.
2. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश में उद्धृत पूर्वमीमांसा, 1/4/2.
3. बोधायन गृह्यसूत्र, 1/10/7.
4. बोधायन गृह्यसूत्र 2/4; पारस्कर गृह्यसूत्र 2/1, शांखायन गृह्यसूत्र 1/28.
5. ऐतरेय ब्राह्मण, 22/9.
6. पारस्कर गृह्यसूत्र, 1/8/8.
7. भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृ. 144.

□

4

प्राचीन भारत में नारी की स्थिति

प्राचीन काल में नारी को जो स्थान प्राप्त था, उसके बारे में यदि यह भी कहा जाये कि उसे प्राप्त करने के लिये पाश्चात्य नारी भी आज तक तरस रही है, तो कदाचित् गलत न होगा। स्त्री को पुरूष की अर्धांगिनी समझा जाता था तथा स्त्री व पुरुष को गाड़ी के दो पहिये माना जाता था। ब्राह्य जीवन का उत्तरदायित्व पुरुष पर तथा आन्तरिक जीवन का उत्तरदायित्व स्त्री पर था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है, "पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है। इसलिये जब तक मनुष्य पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है।" महाभारत के आदि पर्व में भी लिखा गया है, "भार्या मनुष्य का आधा भाग है, भार्या श्रेष्ठ सखी है, भार्या ही धर्म, अर्थ तथा काम की मूल है।"

जिसकी पत्नी पतिव्रता हो, वे धन्य होते हैं। नारी पुरुष के विकास में सहायक हैं। उसका सदैव सम्मान किया जाना चाहिये। वह गृहस्थी का मूल होती है। कालिदास ने नारी को गृहिणी, सचिव तथा सखा तक बतलाया है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है–

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्त त्राफलाः क्रियाः॥"

(मनुस्मृति 3/55-59)

अर्थात जहाँ स्त्रियों को पूजा जाता है, वहाँ देवता निवास करते हैं तथा जहाँ स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार होता है अथवा उसे पूजा नहीं जाता, वहाँ सभी कार्य निष्फल होते हैं। जिस घर में स्त्रियाँ सुखी रहती हैं, वह घर सदैव ही समृद्ध रहता है एवं फलता-फूलता है, जबकि जिन घरों में स्त्रियों की स्थिति खराब होती है, वह घर सदैव ही पतन के मार्ग पर बढ़ता है। इस प्रकार मनु ने स्त्रियों को काफी महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की है।

प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। उन्हें शिक्षा प्राप्ति का अधिकार था। वे पुरूषों के साथ धार्मिक कार्यों में समान रूप से भाग लेती थीं। इस समय समाज कुरीतियों से लगभग मुक्त था। स्त्री को गृहिणी, माता एवं सहचरी के रूप

में देखा जाता था। गृहणी के रूप में घर के प्रबन्ध एवं देख-रेख का सारा उत्तरदायित्व उस पर था।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में, "स्त्री और पुरूष दोनों नदी के दो तटों की भांति सहयुक्त हैं। दोनों के बीच में जीवन की धारा प्रवाहित होती है। वैदिक साहित्य में स्त्री और पुरुष की उपमा पृथ्वी और द्युलोक से दी गयी है। जैसे शुक्ति के दो दलों के मध्य मोती की स्थिति होती है, ऐसे ही स्त्री और पुरूष इन दोनों के मध्य संतति है। द्यावा पृथ्वी एक ही संस्थान के परस्पर पूरक हैं। जब आकाशचारी मेघ वृष्टि के द्वारा पृथ्वी को गर्भ धारण कराते हैं, तब वृक्ष वनस्पतियों का जन्म होता है, यही स्थिति पति पत्नी की है।"

महाभारत में लिखा है, "घर-घर नहीं है, गृहिणी घर कही जाती है।" [1] इसी प्रकार मनुस्मृति [2] तथा शाकुन्तल [3] में भी स्त्री को गृहिणी माना गया है। इसके अतिरिक्त स्त्री को माता तथा सहचरी के रूप में भी देखा जाता था। वस्तुतः प्राचीन काल में नारी का बहुत सम्मान था।

वैदिककाल में नारी की स्थिति–वैदिक काल में नारी की स्थिति को समझे बिना हम भारतीय संस्कृति का सही रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकते।[4] वैदिक काल में नारियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। इस काल में पतिव्रता स्त्री का बहुत सम्मान किया जाता था।[5] स्त्री-पुरूष दोनों को इच्छानुसार विवाह की स्वतंत्रता थी।[6] ऋग्वेद में लिखा गया है कि अनेक स्त्रियां धन से प्रसन्न होकर किसी पुरूष से विवाह कर लेती थीं।[7] इससे पता चलता है कि स्त्रियों को पति के वरण की स्वतंत्रता थी।

सामान्यतः माता-पिता की सहमति से होने वाला विवाह श्रेष्ठतम माना जाता था। वधू को सौभाग्यवती एवं पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया जाता था। सूर्या विवाह सूक्त में पति-पत्नी को एक मानकर पुरोहित विवाह सम्पन्न होने पर नववधू को आशीर्वाद देता था कि तुम सास, ससुर, ननद आदि सबकी साम्राज्ञी बनो।[8]

कभी-कभी कन्या का विक्रय भी किया जाता था।[9] किन्तु सामान्यतः इसे निन्दनीय माना जाता था। कन्या को उठाकर ले जाना और बलपूर्वक उससे विवाह करना वीरता का कार्य समझा जाता था। विमद नामक युवक कन्या की सहमति से उसे उसके पिता पुरूमित्र की इच्छा के विरुद्ध भी उठा लाया था।[10] इसके अलावा सेवा के पुरस्कार के रूप में भी कन्या मिलती थी, जैसे कि ऋग्वेद में च्यवन ऋषि की कथा है।[11] इसके अलावा ऋग्वेद में दहेज का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इस प्रथा को अच्छा नहीं समझा जाता था।[12]

ऋग्वेद में भाई-बहिन के विवाह का निषेध था। इसका उल्लेख यम-यमी सूक्त में मिलता है, जहाँ भाई अपनी बहिन के विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देता है, "यमी! तुम

किसी अन्य पुरुष का भली-भांति आलिंगन करो। जैसे लता वृक्ष का वेष्ठन करती है, वैसे ही अन्य पुरूष तुम्हारा आलिंगन करे। उसी का मन तुम हरण करो, इसी में मंगल होगा।"

ऋग्वेद में बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी, जिससे सौतिया डाह के संकेत मिलते हैं। जैसे–"मेरी सपत्नी नीच से नीच हो जाये, मैं अपनी सपत्नी का नाम तक नहीं लेती। सपत्नी सबके लिये अप्रिय है, मैं उसे दूर से दूर भेज देती हूँ।"[13] कुछ अन्य मंत्रों में भी बहुपत्नी प्रथा के संकेत मिलते हैं।[14] यह प्रथा सामान्यतः राज वर्ग तथा धनी लोगों में प्रचलित थी।[15] ऋग्वेद में चरित्रहीन स्त्री की निन्दा करते हुए पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा की गयी है।[16] स्त्रियों द्वारा पुनर्विवाह किये जाने के भी ऋग्वेद में उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के दो मंत्रो [17] को नियोग प्रथा का सूचक भी माना गया है।[18] स्वामी दयानंद का भी यही मत है।[19] डॉ. काणे ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि नियोग, विधवा पुनर्विवाह या विधवा अग्नि प्रवेश में किसकी ओर उनका संकेत है।"[20]

इस काल में स्त्रियों को समाज में काफी सम्मान था। इस काल में कई विदुषी स्त्रियाँ हुईं। घोषा ने अनेक सूत्रों का स्मरण किया था। अपाला, शयी, अदिति, विश्ववारा, आत्रेयी, श्रद्धा, वैवश्वती, यमी एवं वाग्देवी आदि अन्य विदुषी स्त्रियां थीं। गार्गी एवं मैत्रेयी की विद्वता 'वृहदारण्यक उपनिषद' में दिखती है। इस प्रकार वैदिक काल में स्त्रियाँ उच्च आदर्शों वाली, विद्धान थीं एवं उन्हें समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था।

उपनिषद तथा सूत्रकाल में स्त्रियों की स्थिति

इस काल में स्त्रियों की स्थिति के संबंध में कुछ मिले जुले मत प्राप्त होते हैं। अनुलोम विवाह के प्रचलन से एक ही वर्ण के पुरुष विविध वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने लगे। इससे स्त्री की स्थिति में गिरावट आयी। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियां वैदिक काल की भांति ही शिक्षा प्राप्त कर रही थीं।

इस युग में अनेक विदुषी स्त्रियां हुई थीं।[21] इस काल में आठों प्रकार के विवाहों का प्रचलन हो चुका था। गृह्यसूत्रों में विवाह विधि के पश्चात् **त्रिरात्रव्रत का** वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार विवाह के तीन दिन बाद तक पति-पत्नी जमीन पर सोते थे तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।[22] इस व्रत से पता चलता है कि कन्या का विवाह युवावस्था में होता था। इसके साथ ही कुछ गृहसूत्रों में वधू का एक लक्षण 'नग्निका' बताया है[23], जिसकी विविध टीकाकारों द्वारा अलग-अलग व्याख्या की गयी है। इस काल में बाल विवाह का भी प्रचलन होने लगा था। अब कन्या के माता-पिता द्वारा वर पक्ष से धन लेने का प्रचलन बढ़ने लगा।[24] ब्राह्य तथा दैव विवाह में कन्या का पिता

अपनी कन्या को भली-भांति अलंकृत कर विवाह करता था, जिससे दहेज प्रथा के संकेत मिलते हैं।[25]

इस समय स्त्रियां सामाजिक समाराहों तथा उत्सवों में भाग लेती थीं। सती प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था। विधवा विवाह होते थे। यज्ञों एवं धार्मिक कार्यों में पत्नी के स्थान पर पुरोहितों का महत्व बढ़ता जा रहा था।

रामायणकालीन नारी की स्थिति

रामायण में नारी का विविध रूपों में चित्रण किया गया है। हिन्दू धर्म की पांच प्रमुख सतियों में से द्रौपदी को छोड़कर शेष चार का (अहिल्या, सीता, तारा व मन्दोदरी) का वर्णन रामायण में मिलता है। इस महाकाव्य में नारी की स्थिति का बहुत ही सुन्दर तथा यर्थाथ वर्णन किया गया है।

कन्या के विवाह योग्य हो जाने पर माता-पिता को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगती थी।[26] समाज में कन्या का जन्म शुभ नहीं माना जाता था, अतः कभी-कभी उन्हें जन्म लेतें ही छोड़ दिया जाता था। जनक को सीता खेत में हल चलाते हुए मिली थी।[27] किन्तु दूसरी तरफ शुभ कार्यों में कुआंरी कन्याओं की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। कन्यादान का कार्य महापुण्य का समझा जाता था।[28] इस काल में कन्याओं को शिक्षा प्राप्त करने का भी अधिकार था। कौशल्या के मंत्रों सहित आहुति देने,[29] सीता के संध्योपासना करने[30] तथा तारा के मंत्रवित होने[31] के प्रसंग आते हैं। इन स्त्रियों को व्यावहारिक व नैतिक शिक्षा के साथ-साथ राजधर्म की भी शिक्षा दी जाती थी।[32] इस काल में स्त्रियां संगीत तथा नृत्य का भी ज्ञान प्राप्त करती थीं। रावण के अन्तःपुर की स्त्रियां इन कलाओं में प्रवीण थीं।[33] कैकेयी ने सैनिक शिक्षा प्राप्त कर युद्ध क्षेत्र में अपने पति के प्राण बचाये थे।[34]

ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में पर्दे का प्रचलन भी आरंभ हो गया था। इसलिये सीता के वनागमन के संबंध में कवि ने लिखा है, "जिनको पहले आकाश में विचरण करने वाले प्राणी देख भी नहीं पाते थे, उन्हीं सीता को आज सड़कों पर खड़े लोग देख रहे हैं।"[35] किन्तु साथ ही विपत्ति काल, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ, विवाह आदि अवसर पर पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था।[36] रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी ने विलाप करते हुए कहा था, "मैं पर्दा छोड़कर नगर द्वारा से पैदल चलकर आपके पास आयी हूँ, मुझे देखकर आप क्रुद्ध क्यों नहीं होते।"[37] किन्तु पर्दे से अधिक महत्व सदाचार को दिया जाता था।[38] स्त्रियां अपने तेज एवं शील के द्वारा अपनी रक्षा कर सकती थीं, जैसे सीता ने की थी।[39]

विवाहित स्त्रियों का परिवार में काफी सम्मान किया जाता था। रामायण में पति की सेवा करना पत्नी का परम धर्म बतलाया गया है। नारी के लिये उसका पति ही

सर्वस्व होता था।[40] पति, चाहे व कैसा भी हो, उसकी सेवा करना एवं उसका साथ निभाना पत्नी का धर्म होता था। अनुसूया[41] तथा सीता[42] ने आजीवन अपने पतिव्रता धर्म को निभाया था। यद्यपि पत्नी हमेशा अपने पति के प्रति नम्र रहती थी, किन्तु पति द्वारा उनके प्रति अनुरक्त रहने पर वे असंतोष के भाव भी प्रकट कर देती थीं। रामायण में लिखा है कि पति अपनी पत्नी के चरित्रहीन होने पर उसे त्याग भी देता था। यथा अहिल्या तथा सीता के चरित्र पर संदेह होने पर उन्हें उनके पतियों ने त्याग दिया था, किन्तु कुछ समय बाद इन्हें पुनः स्वीकार कर लिया जाता था। कभी-कभी पत्नी को पूर्णतः भी त्याग दिया जाता था। दशरथ ने कैकेयी का त्याग करते हुए कहा था, "ओ **पापिनी**, मैंने अग्नि के समीप मंत्र पाठ करके तेरे जिस हाथ को पकड़ा था, उसे आज छोड़ रहा हूँ। साथ ही तेरे और अपने से जाये पुत्र का भी त्याग करता हूँ।[43] दहेज देने की भी प्रथा थी । कौशल्या को अपने विवाह पर एक हजार गांव दहेज में मिले थे। पति की मृत्यु के बाद अपनी इस सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार होता था। स्त्रियों का परिवार में प्रभावशाली स्थान था। राम के वनागमन के समय उनका साथ छोड़कर लौट आने पर स्त्रियाँ अपने पति से वाक्युद्ध करती हैं।[44] संतानहीन स्त्री की समाज में सम्मानजनक दशा न थी तथा स्त्री का गौरव सन्तानोत्पत्ति में माना जाता था।[45] इस काल में सती प्रथा का प्रचलन नहीं था। विधवाओं को सामान्यतः पुनर्विवाह का अधिकार न था, किन्तु ये सामान्यतः समाज में सम्मानपूर्ण जीवन बिताती थीं। शुभ अवसरों पर उनकी उपस्थिति अमंगल-सूचक नहीं मानी जाती थी। इस काल में वेश्याओं को राजकीय संरक्षण प्राप्त था, किन्तु वे राजकीय शिष्टाचार की साधक थीं।[46] राम के वनवास से लौटने पर भरत ने गणिकाओं को भेजकर उनका स्वागत करवाया था।[47]

वस्तुतः रामायण काल में नारियों की स्थिति काफी अच्छी थी। इस संबंध में श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास ने लिखा है, "कुल मिलाकर उस काल में स्त्रियों की स्थिति सामान्यतः सुखद थी। कम से कम तत्कालीन परिस्थितियों में नारी को एक कन्या, पत्नी, माता और विधवा के रूप में समस्त संभव सुविधाएं और अधिकार प्राप्त थे और इसके सहारे वह परिवार, समाज और राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में अमूल्य योगदान कर रही थीं।"

महाभारतकालीन नारी की स्थिति

महाभारत में जिन नारी पात्रों का वर्णन किया है, वे सब राजवंशों से संबंधित हैं, जिससे हमें साधारण नारियों की स्थिति के संबंध में कोई सूचना नहीं मिल पाती, किन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि स्त्री को गृहलक्ष्मी माना जाता था। स्त्री एवं पुरुष को परस्पर पूरक तथा एक दूसरे के विकास में सहायक माना जाता था।

इस काल में यद्यपि कन्या के जन्म की अपेक्षा पुत्र के जन्म को ही महत्व दिया जाता था, किन्तु फिर भी कन्या की दशा संतोषजनक थी। लड़की के भी विविध संस्कार किये जाते थे। उन्हें घर पर ही विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने विविध विषयों में अपनी प्रतिभा तथा ज्ञान की छाप छोड़ी। शकुन्तला, सावित्री, शिवा, विदुला, गौतमी, आचार्या, अरुन्धती, दमयंती आदि इस काल विदुषी स्त्रियाँ थीं तथा शास्त्रज्ञान रखने के साथ-साथ धर्म व राजनीति में भी निपुण थीं। गंगा, सत्यवती, गान्धारी, कुन्ती आदि ने भी शिक्षा प्राप्त की थी। द्रोपदी को दिये गये पंडिता, धर्मज्ञा, धर्म दर्शिनी आदि संज्ञाएँ उसके विदुषी होने की तरफ संकेत करते हैं। वह सारे राजकोष के आय-व्यय का हिसाब रखती थी। उत्तरा गीत, नृत्य एवं वाद्य में निपुण थी।

इस काल में नारियों के चरित्र पर बड़ा बल दिया जाता था। इस काल में कन्याओं को गोद लेने का भी प्रचलन था। कुन्तीभोज ने अपने भाई यदुश्रेष्ठ सूर की कन्या को गोद लिया था तथा धूम-धाम से उसका विवाह किया था। कन्याएं अपने पिता के कार्य में सहयोग देती थीं जैसे सत्यवती। संन्यास लेने का अधिकार मात्र विवाहित स्त्रियों को ही प्राप्त था।

शल्यपर्व के सारस्वतोपाख्यान में कहा गया है कि कुणिर्गर्ग ऋषि की पुत्री द्वारा दीर्घ काल तक तपस्या करने के बाद परलोक गमन की इच्छा करने पर नारद ने कहा था, "तुम तो असंस्कृता (अविवाहित) हो, तुम्हें किसी अच्छे लोक में स्थान नहीं मिलेगा।"[48]

महाभारत में स्त्री पर अनेक नियंत्रण भी होते थे। ऐसी धारणा थी कि स्त्री को बचपन में पिता के, युवावस्था में पति के तथा वृद्धावस्था में पुत्रों के नियंत्रण में रहना चाहिये।[49] किन्तु आजीवन विवाह न करने का फैसला करने वाली कन्या के लिये यह नियम लागू नहीं होता था। इस काल में विवाहित स्त्री के अपने पिता के घर पर अधिक समय तक रहने को अच्छा नहीं माना जाता था, किन्तु संतानहीन विधवा अपने पिता के घर रह सकती थी।

महाभारत में स्त्री के पतिव्रता एवं शीलवती होने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सावित्री, दमयंती, गांधारी, द्रोपदी, सत्यभामा, सुभद्रा आदि इस काल की पतिव्रता स्त्रियां थीं। नारी के शील को ही उसका आभूषण माना जाता था एवं उसके पतिव्रता तथा चरित्रवान होने पर ही उसका सम्मान होता था। महाभारत में नारी के पत्नी रूप की प्रशंसा करते हुए कहा गया है, "पत्नी ही मनुष्य का आधा अंग है, आर्या ही श्रेष्ठ सखी है, आर्या ही धर्म, अर्थ और काम की मूल है, जिसकी भार्या साध्वी एवं पतिव्रता हो, वे धन्य होते हैं।" जिसकी पत्नी साध्वी तथा प्रियंवदा न हो, उसके लिये घर तथा जंगल में कोई अन्तर नहीं रह जाता। पत्नी के योग्य एवं शीलवती होने से पति को सभी प्रकार के सुख एवं सभी प्रकार की सम्पन्नता मिल जाती है। अतः पति को अपनी पत्नी का सम्मान करना चाहिये।[50]

रामायण काल की भांति महाभारत काल में नारी अस्त्र-शस्त्र धारण करके युद्धभूमि में नहीं जाती थी। वे मात्र शिविर के अन्तःपुर तक सीमित थीं। नारी सभा एवं समितियों में भी पुरुषों से अलग ही बैठा करती थीं।[51] इस काल में यह धारणा प्रचलित थी कि जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं तथा सुख-समृद्धि रहती है, किन्तु जहां नारियों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जाता था, वहां कभी प्रगति संभव नहीं होती।[52]

परिवार में गृहलक्ष्मी का अत्यधिक सम्मान होता था। युधिष्ठिर द्वारा द्रौपदी के संबंध में इस बारे में कहा गया यह कथन बहुत महत्वूपूर्ण है, "वह द्रौपदी हमारी प्रिय है, माता की तरह पालन करने के योग्य है और ज्येष्ठा बहन की तरह पूज्य है।"[53] महाभारत में कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि स्त्रियां अपने पति के साथ सोमरस भी पी लेती थीं[54] किन्तु इसके अन्तर्गत सोम से लिये गये तात्पर्य को नहीं दर्शाया गया है। इस काल में नारी को भी वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार था। सत्यवती, कुन्ती, गान्धारी, सत्यभामा आदि ने वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया था।[55] इस काल में स्त्रियों को विवाह में दहेज मिलता था।[56] इसके अलावा उन्हें श्राद्ध के समय भी धन दिया जाता था[57] तथा सम्मानार्थ उपहार भी दिये जाते थे।[58] राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के साथ-साथ स्त्रियों को भी स्वर्ण की दक्षिणा दी गयी थी।[59] किन्तु ये प्रथाएं मात्र राजवंश तक ही सीमित थीं एवं जनता में इनका प्रचलन नहीं था। इस काल में नारियों का अपहरण भी किया जाता था।

इस काल में विधवा स्त्रियों का समाज में काफी सम्मान था जैसे सत्यवती, कुन्ती, उत्तरा आदि, किन्तु यह सम्मान मात्र राजवंश तक सीमित था तथा जनसाधारण में विधवाओं की दशा अच्छी न थी। जैसे एक ब्राह्मण पत्नी कहती है, "जमीन पर पड़े मांस के टुकडों पर जिस तरह गिद्धों की लोलुप दृष्टि रहती है, पति हीना नारी भी उसी तरह अनेकों की अभिलाषित होती है।"[60]

महाभारत काल में सती प्रथा का प्रचलन होने लग गया था।[61] पाण्डु के मरने पर उसकी पत्नी म्रादी सती हो गयी थी। वसुदेव की चारों पत्नियां उसके साथ सती हो गयी थीं।[62] इसी प्रकार कृष्ण की मृत्यु के साथ ही उनकी पांच पटरानियां सती हो गयी थी।[63] यह प्रथा उस समय मुख्यतः पंजाब में प्रचलित थी।[64] यह प्रथा भी क्षत्रिय वर्ग से ही प्रारंभ हुई थी।[65] सती होना न होना विधवा की इच्छा पर निर्भर था। उसे इस हेतु विवश नहीं किया जा सकता था। डॉ. अल्तेकर ने इस काल में पर्दे का प्रचलन भी माना है।[66]

मौर्यकाल में नारी की स्थिति

मौर्यकाल में स्त्रियों की दशा काफी गिर गयी थी। स्त्रियों का कार्यक्षेत्र मात्र घर तक सीमित रह गया तथा उनकी शिक्षा पर ध्यान न दिया जाने लगा। मेगस्थनीज ने

लिखा है, "स्त्रियां बेची जाती थीं, वे पर्दे में रहती थीं, सती प्रथा का प्रचुर प्रचार हो गया था।" कौटिल्य के अनुसार, "समाज में स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार तथा अनुचित व्यवहार दण्ड का कारण बनता था, इसके लिये राज कर्मचारी तक दंडित किये जाते थे।" नारी हत्या को ब्राह्मण हत्या के समान दण्डनीय घोषित किया गया।

मौर्यकाल में बहु विवाह का प्रचलन था। मेगस्थनीज के शब्दों में, "वे बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते थे, विवाह स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को आमोद प्रमोद के लिये भी घर में रखा जाता था। उनमें से कुछ को वे दत्तचित सहधर्मीणी बनाने के लिये विवाह करके लाते थे और कुछ को केवल आनंद के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिये ही।" कौटिल्य के अनुसार, "पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियां संतान उत्पन्न करने के लिये हैं।" इस काल में दहेज प्रथा तथा पुनर्विवाह भी प्रचलित थे। कौटिल्य ने लिखा है, " यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हों और जिसके पास कोई पुरुष संतान न हो या जो बन्ध्या हो, उसका पति पुनर्विवाह से पहले आठ वर्ष प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री से मृत बच्चा हो, तो दस वर्ष तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियां ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है।"[67]

स्त्रियों को भी अपने पति की मृत्यु होने पर परिवार वालों की सहमति से पुनर्विवाह करने का अधिकार था। यदि श्वसुर सहमत न हो, तो वह श्वसुर से प्राप्त धन को लौटाकर पुनर्विवाह कर सकती थी। इसके अलावा यह प्रावधान किया गया था कि यदि किसी स्त्री के संतान न हो और उसका पति विदेश गया हो, तो उसे एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। संतान होने पर अधिक समय तक प्रतीक्षा करना चाहिये। यदि पति स्त्री के भरण-पोषण का प्रबंध कर गया हो, तो उसे सन्तान रहित दस वर्ष तथा सन्तान सहित बारह वर्ष प्रतीक्षा करनी चाहिये।

इस काल में समाज में नियोग प्रथा का भी प्रचलन था। पति के नपुसंक होने पर स्त्री किसी अन्य पुरुष से संतान प्राप्त कर सकती थी। ऐसी संतान घृणित दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। इस काल में तलाक प्रथा भी थी, जिसे कौटिल्य ने 'मोक्ष' का नाम दिया है। यह अधिकार पति-पत्नी दोनों को प्राप्त था। पत्नी व्यभिचारी, राजद्रोही, प्रवासी, नपुंसक, हत्यारे पति को तलाक दे सकती थी। स्त्री से दुःखी पति अपने पत्नी के माता-पिता से प्राप्त धन को लौटाकर अपनी पत्नी को तलाक दे सकता था। मौर्यकाल में आठों प्रकार के विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस व पैशाच) प्रचलित थे। आरंभिक चार विवाहों में तलाक प्रथा मान्य न थी, जबकि अन्तिम चार विवाहों में इसे मान्यता प्राप्त थी।

विवाह संबंध प्रायः अपनी जाति में ही हुआ करते थे, किन्तु अन्तर्जातीय विवाहों का भी प्रचलन था। गोत्र विवाह एवं सपिण्ड विवाह पाप समझे जातें थे।

गुप्तकाल में नारी की स्थिति

गुप्तकाल में नारी की स्थिति वैदिक काल की नारी के समान अच्छी न होते हुए भी संतोषजनक थी। स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी माना जाता था एवं सभी धार्मिक अवसरों या कार्यों पर उसका उपस्थित रहना आवश्यक होता था। वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' में स्त्रियों के कुछ ऐसे कर्तव्यों का वर्णन किया है, जो परिवार के सम्मान तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि करने के लिये आवश्यक समझे जाते थे।

गुप्तकाल में स्त्रियों की शिक्षा की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। इस काल में अनेक विदुषी स्त्रियां उत्पन्न हुईं। 'अमरकोष' में ऐसी स्त्रियों का वर्णन किया गया है, जो वेद मंत्रों की शिक्षा देती थीं। इस काल में स्त्रियों को विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। शीलाभट्टारिका नामक विदुषी स्त्री इसी काल में हुई। भोज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में शीलाभट्टारिका को पांचाली रीति का सिद्धहस्त प्रयोक्ता माना है। शूद्रक ने अपने नाटक मृच्छकटिकम् ने ऐसी अनेक स्त्रियों का वर्णन किया है, जो संगीत तथा नृत्य में निपुण होती थीं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती भी शिक्षित थी। इस काल में स्त्रियों द्वारा प्रेम पत्र लिखे जाने का भी उल्लेख मिलता है। कालिदास के अनुसार शकुन्तला ने दुष्यन्त को कई प्रेम पत्र लिखे थे।

इस काल में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था एवं स्त्रियां सार्वजनिक समारोहों में भाग लेती थीं। कालिदास द्वारा इन्दुमती के स्वयंवर का किया गया वर्णन इस बात की पुष्टि करता है। गुप्तकाल में आठों प्रकार की विवाह प्रणालियों का प्रचलन था, किन्तु ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य विवाह ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। गान्धर्व विवाह का भी प्रचलन था, यथा दुष्यन्त-शकुन्तला ने गान्धर्व विवाह ही किया था। वात्सयायन ने इस प्रकार के विवाहों का समर्थन किया है। स्वयंवर प्रथा का भी प्रचलन था। कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन किया है।

दहेज प्रथा आंशिक तौर पर ही प्रचलित थी। बाल विवाहों का प्रचलन न था। बहु विवाह होते थे। उदाहरणार्थ; चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कुबेरनागा तथा ध्रुवदेवी से विवाह किया था। विधवा विवाह भी होते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने भाई रामगुप्त की मृत्यु के बाद उसकी विधवा ध्रुवदेवी से विवाह किया था। नारद एवं पाराशर स्मृतियों में तलाक तथा पुनर्विवाह का समर्थन किया गया है। इस काल में सती प्रथा भी प्रचलित थी। एरण के शिलालेख में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी के उसके साथ सती हो जाने का उल्लेख है। बृहस्पति ने विधवा स्त्रियों के सती हो जाने पर बल दिया है।

गुप्तकालीन समाज में वेश्याएं भी थीं। इन्हें भी समाज में सम्मानित दृष्टि से देखा जाता था। ये संगीत एवं नृत्य में निपुण होती थीं। ये वेश्याएं जिस गंधर्वशाला में

संगीत तथा नृत्य की शिक्षा प्राप्त करती थीं, वहां अन्य वर्गों के लोग अपनी कन्याओं को शिक्षा हेतु नहीं भेजेते थे। शूद्रक ने एक वेश्या वसन्तसेना का वर्णन किया है, जिसके प्यार में **चारुदत्त** नामक वैश्य युवक अपने प्राण देने तक को तैयार हो गया था।

हालांकि इस काल में स्त्रियों की दशा वैदिक काल तथा महाकाव्य काल की भांति अच्छी न थी, तथापि परिवार में उनके अधिकार तथा सम्मान सुरक्षित था। इन्दुमती की मृत्यु पर अज ने शोकातुर होकर कहा था, तू मेरी गृहिणी, सचिव, सखी और ललित कलाओं में प्रिय शिष्या थी। यह तथ्य तत्कालीन समाज में नारी की सम्मानपूर्ण स्थिति को प्रकट करता है।

राजपूत काल में नारियों की दशा

राजपूत काल में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थी। अनेक अवसरों पर वे स्वयं अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित होकर रणक्षेत्र में लड़ने जाती थीं। जैसे सिन्ध के राजा दाहिर की पत्नी ने भी मुहम्मद बिन कासिम के विरुद्ध युद्ध किया था। राजपूत स्त्रियां शीलवती, चरित्रवान तथा पतिव्रता होती थीं। समाज में सती प्रथा अब प्रबल रूप से विद्यमान होने लगी थी। इसके साथ ही साथ जौहर प्रथा की भी शुरूआत हुई। इसके अन्तर्गत जब शत्रुओं से युद्ध में विजय की कोई आशा न रह जाती थी, तो राजपूत स्त्रियां अपने शील की रक्षा के लिये जीवित ही आग में जलकर मर जाती थीं। पर्दा प्रथा अभी प्रचलित नहीं हुई थीं। अलबरूनी ने लिखा है, "सभी स्त्रियां शिक्षित हुआ करती थीं तथा सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लेती थीं। कन्याएं खेलना, नाचना तथा चित्र बनाना भी सीखती थीं।" इस युग में अनेक विदुषी स्त्रियां हुईं। भास्काराचार्य की पुत्री लीलावती गणित में दक्ष थी। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी श्रेष्ठ कवयित्री थी। मण्डन मिश्र की पत्नी भारती ने शंकराचार्य को भी शास्त्रार्थ में हरा दिया था। इस काल में कश्मीर की रानी दिद्दा तथा काकन्तीय रानी रूद्राम्ब आदि महिला शासिकाएं भी हुईं।

इसके साथ ही दूसरी तरफ समाज में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था। दक्षिण में देवदासी प्रथा ने वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त समाज में कन्या हरण की प्रथा भी प्रचलित थी।

स्त्रियों की दशा में गिरावट के कारण–भारत में विभिन्न कालों में स्त्रियों की दशा निरन्तर गिरती ही गयी। इसके लिये निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है–

(1) पहला कारण यह था कि वैदिक काल के पश्चात् स्त्रियों की शिक्षा की निरन्तर उपेक्षा की गयी, जिससे वे पुरुषों पर निर्भर हो गयीं।

(2) पर्दा प्रथा ने भी स्त्रियों की स्वतंत्रतां का दमन कर दिया, जिससे स्त्रियों की दशा में गिरावट आने लगी।

(3) बाल-विवाह, अनमेल विवाह एवं मदिरा पान ने भी स्त्रियों की दशा को गिराया है। बाल-विवाह के कारण लड़की का विवाह बचपन में ही कर दिया जाता था, जिससे उसे विकास के दौर से गुजरने का अवसर ही नहीं मिल पाता था। अनमेल विवाहों ने भी नारियों की दशा को विविध तरीकों से गिराया। मदिरा पान के कारण पुरुष अपनी स्त्रियों को पीटने लगे। इससे उनकी स्थिति में गिरावट आती गयी।

(4) भारतीय समाज की पुत्रकामी मानसिकता के कारण आरम्भ से ही पुत्र को पुत्री की तुलना में अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। अतः स्त्रियों की स्थिति गिरती चली गयी।

(5) भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों को मात्र उपभोग की वस्तु समझा जाता है तथा उनका कार्यक्षेत्र मात्र घर की चारदीवारी तक सीमित माना जाता है, अतः उनकी स्थिति गिरती चली गयी।

चाहे कुछ भी हो, वस्तुतः प्राचीन भारत में स्त्रियों की दशा भारतीय संस्कृति का एक गौरवपूर्ण अध्याय है।

संदर्भ

1. महाभारत, शान्ति पर्व 144/66.
2. मनुस्मृति, 3/56-62.
3. शाकुन्तल, 4/18.
4. अल्तेकर, ए.एस. : पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ. 1.
5. मृग 10/109.
6. ऋग्वेद 10/27/12.
7. ऋग्वेद 10/27/2.
8. ऋग्वेद 10/85/46.
9. मैत्रायणी संहिता 1/10/11, तैतिरीय संहिता 2/3/4/1.
10. ऋग्वेद, 1/112/9.
11. ऋग्वेद, 3/122.
12. ऋग्वेद, 1/109/2.
13. ऋग्वेद, 10/145/3-4.
14. ऋग्वेद, 1/162/11, 1/71/1, 7/26/3, 10/43/1.
15. मजूमदार, आर.सी. : वैदिक एज, पृष्ठ 390.
16. ऋग्वेद, 7/76/3.

17. ऋग्वेद, 10/40/2, 10/18/18.
18. मैक्डॉनल एवं कीथ-वैदिक इण्डेक्स, खण्ड 1, पृ. 541.
19. दयानंद सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृष्ठ 71.
20. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. 346.
21. वृहदारण्यक उपनिषद्, 3/6/8.
22. पारस्कर गृह्यसूत्र 1/8/21, आश्वलायन गृह्य सूत्र 1/6/11.
23. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र 1/19/2, गोभिल गृह्यसूत्र 3/4/6.
24. गौतम धर्म सूत्र 1/4/9.
25. गौतम धर्मसूत्र 1/4/4.
26. रामायण, 7/9/10.
27. रामायण, 5/28/2.
28. रामायण, 1/17/15.
29. रामायण, 2/20/25.
30. रामायण, 5/14/19.
31. रामायण, 4/16/12.
32. रामायण, 2/26/4.
33. रामायण, 5/10/37-49.
34. रामायण, 2/9/15-16.
35. रामायण, 2/33/8.
36. रामायण 6/12/28.
37. रामायण, 6/111/67.
38. रामायण, 2/45/25,6/114/24-30.
39. रामायण, 3/37/14.
40. रामायण, 2/24.
41. रामायण, 2/117/23-24.
42. रामायण, 2/118/2-9.
43. रामायण, 2/14/14.
44. रामायण, 6/66/20.
45. रामायण, 1/36.
46. रामायण, 2/3/18.
47. रामायण, 6/127/5.
48. महाभारत, शल्य 15/20.
49. महाभारत, अनु. 46/14, 20, 20, 20/14.
50. महाभारत, आदि 74/41-42, अश्व. 90/47, अनु. 46/15.
51. महाभारत, आदि पर्व 134/12..
52. महाभारत, अनु. 45, 5-6.
53. महाभारत, वि. 3/17.
54. महाभारत, आश्रम 17/17.

55. महाभारत, आदि 128/12 व आ. 17/20, 15/2.
56. महाभारत, आदि 198/16.
57. महाभारत, आश्रम 14/4.
58. महाभारत, अश्व. 85/18.
59. महाभारत, सभा 33/52.
60. महाभारत, आदि पर्व, 158/12.
61. महाभारत 1/138/71-72.
62. महाभारत 16/7/18.
63. महाभारत, 16/7/73-74.
64. अल्तेकर, ए.एस. : पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ. 122; मजूमदार, आर.सी. : द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 567-68.
65. अल्तेर, ए.एस. : वही, पृ.122.
66. अल्तेकर, ए.एस. : पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ. 168.
67. कौटिल्य अर्थशास्त्र : धर्मस्थीय प्रकरण.

□

5

प्राचीन भारत में शिक्षा

शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करती है। प्राचीन भारतीय इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे। अतः उन्होंने शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था की। प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली ने वैदिक साहित्य के संरक्षण का काम किया। इस शिक्षा प्रणाली के कारण ही प्राचीन भारत में दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन आदि क्षेत्रों में असाधरण विकास हुआ।

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति

वैदिक काल–वैदिक काल में अध्यापन का कार्य गुरुओं द्वारा किया जाता था। अथर्ववेद में विद्याध्ययन पर प्रकाश डाला गया है। छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक उपनिषदों से पता चलता है कि कई विद्यार्थी गुरु के पास आश्रम में जाते थे तथा कई घर पर ही शिक्षा प्राप्त करते थे। आर्यों में शिक्षा भी एक आवश्यक संस्कार थी। जहाँ यूनान के एथेन्स में दस प्रतिशत तथा स्पार्टा में चार प्रतिशत व्यक्ति साक्षर थे, वहीं प्राचीन भारत में संभवतः शत प्रतिशत व्यक्ति साक्षर रहे होंगे।

बौद्ध-युग–बौद्ध-युग में भी शिक्षा का बहुत प्रसार था। इस काल में अनेक विशाल विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। बौद्ध विहारों में भिक्षु अध्यापन का कार्य करने लगे। ब्राह्मण तथा जैन साधु भी शिक्षा प्रदान करते थे। चीन, जापान तथा कई अन्य देशों से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत आते थे।

प्राचीन भारत की शिक्षा के उद्देश्य एवं विशेषतायें

प्राचीन भारत की शिक्षा प्रद्धति के मुख्य रूप से चार उद्देश्य थे–(i) चरित्र निर्माण, (ii) मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, (iii) व्यक्ति में उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य की भावना जागृत करना तथा (iv) प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति को संरक्षण प्रदान करना। प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति की कुछ विशेषताएं भी थीं, जो इस प्रकार थीं:-

उपनयन संस्कार तथा ब्रह्मचर्य आश्रम–प्राचीन भारत में शिक्षा का प्रारंभ उपनयन संस्कार से होता था। इसके अन्तर्गत विद्यार्थी अध्ययन के लिये गुरू के पास जाता था।

यह एक आवश्यक संस्कार माना जाता था और 7-8 वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। व्यक्ति के जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष का भाग ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। इसमें विद्यार्थी गुरू के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करता था। विद्यार्थी को अनुशासन में रहना पड़ता था तथा गुरू की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। उसे संयम तथा सदाचार से रहना पड़ता था। उसकी वेश-भूषा एवं भोजन साधारण होता था एवं उसे मांस, मदिरा, गंध, रस, स्त्री आदि में दूर रहना पड़ता थ। पहले विद्यार्थी गाँव से भिक्षा मांगकर काम चलाते थे, किन्तु कालान्तर में नालन्दा तथा तक्षशिला आदि विश्वविद्यालयों में उनके भोजन की व्यवस्था की जाती थी। विद्यार्थी को विनयशील बनाने का प्रयत्न किया जाता था।

विद्यार्थी–विद्यार्थी दो तरह के होते थे-प्रथम अन्तेवासी कहलाते थे, जो लगातार गुरू के पास रहते थे तथा अध्ययन समाप्ति पर घर लौटते थे। दूसरी तरह के विद्यार्थी साधरण होते थे, जो प्रतिदिन अध्ययन के लिये गुरू के पास जाते थे और अध्ययन करके अपने घर लौट जाते थे।

गुरूकुल प्रणाली–आरंभिक शिक्षा के बाद विद्यार्थी उच्च शिक्षा हेतु गुरुकुल में जाता था। गुरुकुल वनों में शांतिमय वातावरण में होते थे, किन्तु कुछ गुरुकुल शहरों अथवा गाँवों में भी होते थे, जैसे तक्षशिला का विश्वविद्यालय। राज्य द्वारा दान में दी गई कुछ ग्रामों की आय से गुरुकुल का खर्चा चलता था। संपन्न लोग भी गुरुकुलों को दान देते थे। गुरुकुल में सेवावृत्ति, स्वावलम्बन तथा सादगी पर बल दिया जाता था। गुरू सभी विद्यार्थियों को समान समझता था तथा विद्यार्थियों में परस्पर भ्रातृत्व भाव रहता था। राजा और रंक दोनो के पुत्रों के साथ गुरुकुल में समान व्यवहार किया जाता था। उनका भोजन एवं वस्त्र एक जैसे होते थे। इस प्रकार गुरुकुल में विद्यार्थियों में परस्पर सहानुभूति, सहिष्णुता व प्यार रहता था।

गुरू तथा शिष्य–प्राचीन काल में गुरू तथा शिष्य में मधुर संबंध थे। शिष्य गुरू को अपने पिता तुल्य मानता था तथा पुत्र के समान उसकी सेवा करता था। गुरू भी अपने शिष्यों को अपने पुत्र के समान मानता था। वह उनकी शिक्षा के साथ-साथ खान-पान, वस्त्र आदि चिकित्सा का भी प्रबन्ध करता था।

शिक्षण-शुल्क–सम्पन्न विद्यार्थी शिक्षा समाप्ति के पहले या बाद में दक्षिणा के रूप में गुरू को शिक्षण शुल्क देते थे जो विद्यार्थी निर्धन होते थे, वे दिन में तो गुरू की सेवा एवं गुरूकुल का कार्य करते थे तथा रात्रि के समय गुरू से शिक्षा प्राप्त करते थे। वे भिक्षा द्वारा अपने भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था करते थे। तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि विश्वविद्यालयों में केवल प्रवेश शुल्क लिया जाता था।

शिक्षा की अवधि–सामान्यतः व्यक्ति की उच्च शिक्षा उसकी बारह वर्ष की

अवस्था में प्रारंभ होती थी और चौबीस वर्ष की अवस्था में समाप्त हो जाती थी। विद्यार्थी के अध्ययन समाप्त होने पर "समावर्तन संस्कार" किया जाता था।

अध्ययन के विषय–वैदिक काल तथा महाभारत काल में वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, दर्शन, कला आदि अध्ययन के प्रमुख विषय थे। गुरूकुलों में दो तरह की शिक्षा दी जाती थी-परा विद्या एवं अपरा विद्या। ब्राह्मणों को धर्म-कर्म की, क्षत्रियों का धनुर्विद्या व घुड़सवारी की, वैश्यों को वाणिज्य व कृषि की तथा शूद्रों को विविध कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध युग में धुनर्विद्या, सर्प विद्या, जादू, गणित, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, चिकित्सा, मूर्ति भवन थोत निर्माण विद्या की शिक्षा दी जाती थी। कालान्तर में चित्रकला तथा गृह निर्माण कला पर भी बल दिया जाने लगा। अजन्ता व बाघ की गुफाएं, एलिफण्टा, महाबलिपुरम, राजगृह तथा अन्य स्थानों के कलात्मक अवशेषों से पता चलता है कि उस युग में ललित कलाओं की शिक्षा अवश्य दी जाती थी। इस प्रकार सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिये अध्ययन के विषय निश्चित थे।

शिक्षा प्रणाली–वैदिक काल में चूंकि लिपिबद्ध ग्रंथ नहीं थे, अतः शिक्षा मौखिक रूप से दी जाती थी। विद्यार्थियों को श्लोकों को रटना पड़ता था। गुरू प्रत्येक विद्यार्थी को अलग-अलग पढ़ाता था। अतः वह अधिक शिष्यों को शिक्षा नहीं दे पाता था। तक्षशिला तथा नालन्दा विश्वविद्यालय में एक गुरू 15-20 विद्यार्थियों को शिक्षा देता था। गुरू अपने विषय में पारंगत होते थे। प्रत्येक विद्यार्थी के मानसिक विकास की ओर ध्यान दिया जाता था। मन्द बुद्धि विद्यार्थियों को कुशलता से पढ़ाया जाता था। वाद-विवाद द्वारा भी विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी एवं उनमें वाक्पटुता, चिन्तन, मनन, निरीक्षण आदि प्रवृत्तियों उत्पन्न की जाती थीं।

अन्वेषण कार्य–गुरू अपना खाली समय विभिन्न विद्याओं के अन्वेषण में लगाते थे। इसके फलस्वरूप विभिन्न विधाओं पर अनेक ग्रंथ लिखे गये तथा साहित्य का बहुत विकास हुआ।

परीक्षाऐं, पदवियाँ तथा उपाधियाँ–प्राचीन भारत की शिक्षा में न तो परीक्षाऐं होती थीं और न ही विद्यार्थियों को कोई उपाधियाँ मिलती थीं। इस काल में गुरू अपने विद्यार्थियो की मौखिक परीक्षा लेता था। समावर्तन संस्कार से पूर्व विद्यार्थी को विद्वानों की बैठकों में बुलाया जाता था। वहां उनसे विभिन्न प्रश्न पूछे जाते थे तथा उनके ज्ञान की परीक्षा ली जाती थी। कालान्तर में विद्यार्थियों को ठपाधियाँ दी जाने लगीं।

स्त्री शिक्षा–वैदिक युग में स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। इस काल में अनेक विदुषी स्त्रियाँ हुईं। स्त्रियों की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य उन्हें उत्तम गृहणी तथा श्रेष्ठ माता बनाना था। बालिकाओं के पृथक् गुरूकुल होते थे। स्त्रियों को ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी।

विशिष्ट शिक्षण संस्थाऐं-बौद्ध काल में सुसंगीत शिक्षण संस्थाओं का उद्भव हुआ। बौद्ध विहारों में शिक्षा का कार्य किया जाता था। कालान्तर में नालन्दा, तक्षशिला तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों का उद्भव हुआ।

शिक्षा के केन्द्र पाँच प्रकार के थे

(i) विशाल राजधानियाँ-प्राचीन काल में राजा विद्वान होने के कारण अपनी राजधानी में कई विद्वानों को संरक्षण देते थे। दूर-दूर से विद्यार्थी इन विद्वानों के पास शिक्षा ग्रहण करने आते थे। अतः ये राजधानियाँ शिक्षा का केन्द्र बन गयीं। जैसे-कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जैन, तक्षशिला, पैठन, कल्याणी आदि।

(ii) प्रमुख तीर्थ स्थान- प्रमुख तीर्थ स्थानों पर अनेक विद्वान, ब्राह्मण एवं आचार्य रहते थे। ये अध्यापन का कार्य करते थे। बनारस, काशी, उज्जैन, नासिक आदि तीर्थ स्थान शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे।

(iii) बौद्ध विहार-बौद्ध विहार बौद्ध धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा शास्त्र के केन्द्र थे।

(iv) हिन्दू मन्दिर-हिन्दू मन्दिर हिन्दू धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा शास्त्र के केन्द्र थे।

(v) अग्रहार ग्राम-ब्राह्मण विद्वानों को, जो अध्यापन एव धार्मिक कार्य करते थे, राज्य की ओर से आय हेतु ग्राम दिये जाते थे, जो अग्रहार कहलाते थे। ये ग्राम भी उच्च शिक्षा के केन्द्र होते थे। उदाहरणतः सर्वज्ञपुर तथा राष्ट्रकूट राज्य का काडिपुर गाँव।

प्राचीन भारत के प्रमुख विश्वविद्यालय

तक्षशिला-तक्षशिला प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। वह पश्चिमी पंजाब के रावलपिण्डी नामक नगर से बत्तीस किलोमीटर दूर स्थित था। सीमान्त राज्य होने के कारण इसका सामरिक महत्व था, अतः निरन्तर बाहरी आक्रमणों से यह नष्ट हो गया। फाह्यान के समय में तक्षशिला में बौद्ध धर्म उन्नत अवस्था में था, किन्तु इत्सिंग की यात्रा के समय तक्षशिला का विध्वंस हो रहा था।

तक्षशिला शिक्षा का जगतविख्यात केन्द्र था। यहाँ अनेक आचार्य एवं विद्वान रहते थे। छात्र गुरुओं के पास रहकर अध्ययन करता था। एक आचार्य के पास सौ-सौ छात्र पढ़ते थे। विद्यार्थी सोलह वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा प्रारम्भ करता था। शिक्षा अवधि 6 से 8 वर्ष तक होती थी। निर्धन शिष्य दिन में गुरू की सेवा तथा काम करते थे एवं रात्रि को विद्याध्ययन करते थे। शिष्यों को गुरू पुत्र के समान रखता था। वह छात्र के उच्च व सादे जीवन तथा उत्तम आचरण पर ध्यान देता था। यहाँ पर धार्मिक, साहित्यिक, धनुर्विद्या, हस्त विद्या, मन्त्र विद्या, शल्य विद्या तथा चिकित्सा आदि अध्ययन के मुख्य विषय थे। गुरू ही अपना पाठ्यक्रम तथा शिक्षा की अवधि निश्चित करता

आदि आचार्य भी तिब्बत गये। कुमारजीव, परमार्थ, धर्मदेव, सुधारकर सिंह आदि आचार्य बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु चीन गये।

पाठ्यक्रम–आरंभ में नालन्दा विश्वविद्यालय में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा बौद्ध दर्शन, संस्कृति व साहित्य की शिक्षा दी जाती थी। कालान्तर में वहाँ अन्य धर्मों के दर्शन व साहित्य की शिक्षा की व्यवस्था की गयी। इसमें सभी धर्मों व जातियों के व्यक्तियों को प्रवेश दिया जाता था। बौद्ध साहित्य व दर्शन, वेद, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, व्याकरण, तंद्ध-मंत्र, रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, सांख्य, योग, न्याय दर्शन, शिल्प आदि अध्ययन के मुख्य विषय थे। गृह-नक्षत्रों के अध्ययन हेतु एक वेधशाला भी थी। वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ द्वारा पठन-पाठन होता था। कई आचार्य यहाँ पर अध्ययन करने के लिये आते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय का पतन–ग्यारहवीं सदी तक नालन्दा विश्वविद्यालय शिक्षा जगत का गौरत बना रहा। ग्याहरवीं शताब्दी में पालवंशीय शासकों द्वारा विक्रम शिला, विश्वविद्यालय को संरक्षण देने एवं तुर्को के आक्रमणों एवं अमानुषिक कार्यों से नालन्दा विश्वविद्यालय का पतन हो गया।

वल्लभी–वल्लभी प्राचीन काल में व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था तथा एक सम्पन्न नगर था।राजा तथा सम्पन्न लोग शिक्षण संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान देते थे। मैत्रक नरेश ध्रुव प्रथम की बहिन की पुत्री दया ने वल्लभी में प्रथम बौद्ध विहार स्थापित किया तथा अचार्य भदन्त स्थिरमति ने दूसरा बौद्ध विहार स्थापित किया। विख्यात बौद्ध विद्वान गुणमती तथा स्थिरमति इस विहार में रहे थे।शनैः शनैः यहाँ कई बौद्ध विहारों की स्थापना हुई। ह्वेनसांग तथा इत्सिंग ने वल्लभी की यात्रा की थी।

छठी से बारहवीं शताब्दी तक एक वल्लभी विश्वविद्यालय शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा। धर्म, अर्थशास्त्र, नीति (कानून), चिकित्सा शास्त्र आदि अध्ययन के मुख्य विषय थे। वल्लभी विश्वविद्यालय में एक विशाल पुस्तकालय भी था। इस विश्वविद्यालय को राजा तथा सम्पन्न लोग उदारता पूर्वक सहायता देते थे। वल्लवी के आचार्यो की विद्वता की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। यहाँ पर दूर-दूर के प्रदेशों के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। शिक्षा समाप्ति के बाद विद्यार्थी राजसभाओं में विद्वानों के सम्मुख तर्कों तथा ज्ञान द्वारा अपनी योग्यता प्रकट करते थे। इसमें सफल व्यक्तियों को राजकीय सेवा में उच्च पदों पर लगाया जाता था।

विक्रमशिला– विक्रमशिला विश्वविद्यालय बिहार में भागलपुर से लगभग चौबीस मील दूर पत्थर घाटा स्थान पर स्थित था। इसके संस्थापक पाल नरेश थे। वह शिक्षा का विख्यात केन्द्र था। विद्यार्थियों को प्रवेश परीक्षा देनी पड़ती थी। यहाँ विदेशों से भी विशेषकर तिब्बत से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। श्री गोखले ने लिखा है, “सचमुच, विद्यालय के केन्द्र के रूप में विक्रशिला की सफलता का प्रचुर प्रमाण इस

बात में मिलता है कि उसने बहुत बड़ी संख्या में प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा किये, उसने विलक्षण धर्मात्माओं को जन्म दिया, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा ज्ञान तथा धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिये और उनके इसी योगदान के आधार पर तिब्बत जैसे एक पूरे देश की सभ्यता तथा संस्कृति का वस्तुतः निर्माण हुआ।" भोजन वस्त्र व निवास की निःशुल्क व्यवस्था थी। रत्नव्रज, लीलाव्रज, गतरक्षित, दीपंकर, श्रीज्ञान, कमलरक्षित आदि वहां के विख्यात आचार्य थे। दीपंकर श्रीज्ञान ने दो सौ पुस्तकें लिखीं। इस विश्वविद्यालय में एक भव्य पुस्तकालय, बोधिसत्व की सुन्दर प्रतिमा तथा अनेक तांत्रिक देवालय थे। धर्म, साहित्य, व्याकरण, न्याय दर्शन, तंत्र-मंत्र शास्त्र आदि अध्ययन के मुख्य विषय थे। शिक्षा समाप्त होने पर पाल नरेश उपाधियां देते थे। मध्य युग में विक्रमशिला वज्रयान सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। 1203 ई. में मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने इसे नष्ट कर दिया।

ओदन्तपुरी–यहाँ भी एक बौद्ध विहार विश्वविद्यलाय के रूप में परिणित हो गया। पाल शासकों के उदय के समय तक यह शिक्षा का विख्यात केन्द्र बन चुका था। यहाँ के आचार्य बड़े विद्वान थे। पाल शासकों ने इस विश्वविद्यालय को उदारतापूर्वक संरक्षण दिया। यहां एक विशाल पुस्तकालय था। यहाँ एक हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। प्रभाकर यहाँ का प्रसिद्ध विद्वान था। ओदन्तपुरी विश्वविद्यालय ने बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया तथा तिब्बत में बौद्ध विहारों के निर्माण को प्रेरणा दी।

कश्मीर–अलबेरूनी ने कशमीर को शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बताया है। यहाँ के विद्वान अलग-अलग शिक्षा केन्द्र चलाते थे। यहाँ पर अन्य देशों से भी विद्यार्थी आते थे।

इनके अतिरिक्त वाराणसी, नवद्वीप, वल्लभी धारा, कन्नौज, उज्जैन आदि शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण भारत में मदरा नामक संस्था थी, जिसने कवियों लेखकों व आचार्यो को संरक्षण प्रदान किया। धारा नगर का शारदा सदन नामक महाविद्यालय भी पठन-पाठन का प्रमुख केन्द्र था।

इस प्रकार प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था बहुत उन्नत थी, अतः भारतीयों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की, किन्तु मुस्लिम आक्रमणकारियों ने इस शिक्षण प्रणाली को नष्ट कर दिया।

□

6

प्राचीन भारत में सामाजिक एवं धार्मिक दशा

सामाजिक दशा

सिन्धु घाटी की सामाजिक दशा

प्राचीन भारतीय इतिहास का आरंभ सिन्धु घाटी सभ्यता के साथ होता है। खुदाई में प्राप्त खण्डहरों से पता चलता है कि सिन्धु घाटी के लोगों का सामाजिक जीवन उन्नत रहा होगा। एस. आर. शर्मा के अनुसार, "सिन्धु घाटी के लोगों का सामाजिक जीवन मिश्र तथा बेवीलान के लोगों के सामाजिक जीवन से कहीं अधिक श्रेष्ठ था।"[1] सैन्धवकालीन समाज की विशेषताएं इस प्रकार थीं–

(i) **सामाजिक संगठन**– सैन्धव समाज चार वर्गों में विभक्त था। विद्वान, योद्धा, व्यापारी तथा श्रमजीवी। सामाजिक ढ़ांचा सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था।

(ii) **परिवार**–यह सामाजिक जीवन की मूल ईकाई थी। परिवार मातृ सन्तात्मक होते थे।

(iii) **खान-पान**–गेंहू, जौ, चावल, आदि मुख्य खाद्य पदार्थ थे । तिल, खजूर, तरबूज व नींबू भी प्रयोग होते थे। सैन्धव लोग मछली, बैल, भेड़ सूअर, मुर्गे, कछुए आदि का मांस खाते थे तथा गाय, भैंस एवं बकरी का दूध पीते थे। खुदाई में प्राप्त सिलबट्टे उनके स्वादु होने की पुष्टि करते हैं।

(iv) **वेश-भूषा**–सैन्धव लोग सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र पहनते थे। साधारण वर्ग के लोग कमर के ऊपर कुछ नहीं पहनते थे, जबकि उच्च वर्ग के लोग इसे शाल से ढकते थे। स्त्रियां घाघरा तथा अंगरखा पहनती थीं। खुदाई में प्राप्त एक मूर्ति में एक स्त्री को नुकीली टोपी पहने दिखाय गया है।

(v) **आभूषण**– स्त्री और पुरुष दोनों ही सोने-चांदी के बने आभूषण पहनते थे पुरुष हार, कुण्डल, कड़े, बालियां चूड़ियाँ, नथें, पायजेब आदि स्त्रियों के प्रमुख आभूषण थे। गरीब लोग तांवे, मिट्टी व हड्डी के बने आभूषण पहनते थे।

(vi) **केश श्रृंगार**– सैन्धवों की केश श्रृंगार में भी रूचि थी। स्त्रियाँ लम्बे बाल

पहनती थीं एवं सिर के बीच मांग निकालकर चोटी करती थीं। कुछ बालों का जूड़ा बनाकर उसे पीछे फीते से बांध लेती थीं। पुरुष दाढ़ी-मूंछ रखते थे, खुदाई में दर्पण, हाथी दांत की कंघियां, हाथीदांत, मिट्टी व धातु के बने श्रृंगारदान एवं काजल या सिंदूर रखने की छोटी डिब्बियां मिली हैं।

(vii) **मनोरंजन**–बच्चे तांबे, मिट्टी व हाथीदांत के खिलौनों द्वारा अपना मनोरंजन करते थे। शिकार करना, मछली पकड़ना, चौपड़, रथ दौड़, शतरंज आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। खुदाई से प्राप्त अवशेषों के अनुसार वे मुर्गों, तीतरों व बटेरों को लड़ाकर भी अपना मनोरंजन करते थे। खुदाई में प्राप्त नर्तकी की कांस्य मूर्ति तथा मुद्राओं पर अंकित तबले व ढोल की आकृतियों से सिन्धुवासियों के नृत्य व संगीत प्रेमी होने का पता चलता है।

(viii) **मृतक संस्कार**–सिन्धु घाटी में मृतक संस्कार की तीन विधियां प्रचलित थीं-(1) मृत्यु के बाद पूरे मृत शरीर को जमीन में गाड़ दिया जाता था। (2) शव को पशु पक्षियों के खाने के लिये छोड़ दिया जाता था तथा अवशेषों को दफना दिया जाता था (3) शव को जला दिया जाता था तथा राख को घड़ों में भरकर जमीन में गाड़ दिया जाता था।

(ix) **नारी की स्थिति**–सैन्धव सभ्यता में नारी की दशा सम्मानजनक थी। पर्दा प्रथा प्रचलित नहीं थी। शिशु पालन एवं गृहस्थी स्त्रियों का प्रमुख कार्य माना जाता था। वे अतिरिक्त समय में सूत कातती थीं एवं धार्मिक व सामाजिक कार्यों में पुरुषों के साथ भाग लेती थीं।

ऋग्वेदकालीन सामाजिक स्थिति

आर्य परिश्रमी एवं सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा श्रेष्ठ मानवीय आदर्शों में विश्वास करते थे। डॉ. बी.एन. पुरी ने लिखा है, आर्यों के सामाजिक जीवन का प्रमुख आधार जीवन की सादगी एवं विचारों की श्रेष्ठता थी।"

गृह निर्माण एवं विकास–आरंभ में आर्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते थे, किन्तु भारत में आने के बाद वे घर बनाकर रहने लगे। उनके घर मिट्टी, लकड़ी व फूस के बने तथा स्वच्छ, खुले तथा हवादार होते थे।

परिवार–परिवार आर्यों के सामाजिक जीवन का मूल आधार था। पिता ही परिवार का मुखिया होता था। उसे कुलपति कहते थे। परिवार के सभी सदस्यों को उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता था। अनुशासनहीन सदस्य को वह कठोर दण्ड दे सकता था। इस समय संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी तथा पारिवारिक जीवन सुखी था।

विवाह पद्धति एवं स्त्रियों की दशा–ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी

थी। स्त्रियों की दशा तथा विवाह पद्धति के विस्तृत अध्ययन के लिये अध्याय संख्या चार देखें।

वर्ण व्यवस्था–ऋग्वैदिक काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। वर्ण व्यवस्था का विस्तृत विवेचन अध्याय संख्या दो में किया जा चुका है।

खान-पान–आर्यों का खान-पान सादा था। गेंहूँ, जौ, चावल, मक्खन, फल आदि मुख्य खाद्य पदार्थ थे तथा विशेष अवसरों पर वे मांस भी खाते थे। आर्य लोग सुरा के दोषों से परिचित होते हुए भी सुरा पान करते थे। सुरापान बुरा नहीं समझा जाता था, किन्तु ब्राह्मण इससे घृणा करते थे।

वेश-भूषा–आर्य तीन प्रकार के वस्त्र पहनते थे–(i) नीवी, यह कमर से नीचे की धोती थी। (ii) वास, यह शरीर पर शाल की भांति ओढ़ा जाता था, (iii) अधिवास, यह वस्त्र वास के ऊपर पहना जाता था। आगे सूती, ऊनी एवं रेशमी रंग-बिरंगे वस्त्र पहनते थे। इस काल में हार, कुण्डल, अंगद, कण्ठे, गजरे, भुजबंद, कंगन एवं अंगूठी आदि प्रमुख आभूषण थे। आर्य फूलमालाएं भी पहनते थे। पुरुष दाढ़ी रखते थे तथा स्त्रियां बालों में सुगंधित तेल लगाती थीं।

आमोद-प्रमोद–संगीत, नृत्य, घुड़दौड़, रथदौड़, मल्ल युद्ध आदि आर्यों के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। आर्य लोग जुआं भी खेलते थे। ऋग्वेद में एक जुआंरी की दुर्दशा का वर्णन है। आर्य लोग आखेट भी खेलते थे।

नैतिकता–आर्य नैतिक दृष्टि से बड़े उच्च विचारों वाले थे। उनका आचार-विचार बड़ा पवित्र था। वे अतिथि सत्कार करना, बड़ों का आदर करना, छोटों से स्नेह रखना आदि अपना कर्तव्य मानते थे। आर्य लोग समाज सेवी थे तथा अपहरण, लूट-पाट, व्यभिचार एवं चोरी से घृणा करते थे।

उत्तर वैदिक काल में सामाजिक दशा

उत्तर वैदिक काल में सामाजिक जीवन में कुछ जटिलता आने लगी तथा ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ने लगा।

संयुक्त परिवार प्रथा–संयुक्त परिवार प्रथा समाज का मूल आधार थी तथा परिवार का सबसे वृद्ध सदस्य ही परिवार का मुखिया होता था एवं परिवार के अन्य सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे। वह परिवार के सभी सदस्यों की उन्नति करना अपना कर्तव्य समझता था। पिता का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी माना जाता था।

स्त्रियों की स्थिति–उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आने लगा था। विस्तृत विवरण के लिये अध्याय चार देखिये।

भोजन तथा वस्त्र–इस काल में आर्यों का खान-पान एवं रहन सहन ऋग्वैदिक कालीन आर्यों के समान ही था। रोटी, दूध से बने पदार्थ, फल मांस आदि भोजन के प्रमुख अंग थे। अथर्ववेद में मांस खाने को बुरा बतलाया गया है। इस काल में आर्य सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र पहनते थे।

मनोरंजन–इस काल में रथदौड़, जुआं, संगीत, नृत्य, नाटक आदि आर्यों के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे।

रीति-रिवाज–इस काल में जन्म से लेकर मृत्यु तक के अनेक रीति रिवाजों का विकास हुआ तथा इन रीति रिवाजों के विकास के साथ ही ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ा।

वर्ण व्यवस्था–उत्तर वैदिक काल में भी ऋग्वैदिक काल की भांति समाज चार वर्णों में विभक्त था, किन्तु इस काल में वर्ण व्यवस्था में कठोरता आने लगी थी। इसके विस्तृत अध्ययन के लिये अध्याय संख्या दो देखिये।

आश्रम व्यवस्था–उत्तर वैदिक काल में मानव जीवन को चार आश्रमों में बांटा गया था–ब्रह्मचार्यश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम। इनका विस्तृत वर्णन अध्याय संख्या दो में किया जा चुका है।

शिक्षा–उत्तर वैदिक काल में वेद शिक्षा के मुख्य अंग थे। अध्ययन तथा अध्यापन कार्य मौखिक रूप से होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के उपनयन के साथ ही उनकी शिक्षा आरंभ हो जाती थी। शतपथ ब्राह्मण में इस संबंध में विशेष वर्णन किया गया है।[2] शूद्रों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार न था। गणित, व्याकरण, छन्द, भाषा आदि शिक्षा के मुख्य विषय थे। बालकों को शारीरिक एवं नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। शिक्षा के द्वारा बालक का चरित्र निर्माण करने का प्रयत्न किया जाता था।

महाकाव्यकालीन सामाजिक स्थिति

वर्ण व्यवस्था–इस काल तक समाज में वर्ण व्यवस्था काफी विकसित हो चुकी थी। महाकाव्य काल में वर्ण व्यवस्था के विस्तृत अध्ययन के लिये अध्याय संख्या दो देखिए।

आश्रम व्यवस्था–इस काल में मान्य जीवन चार आश्रमों में विभक्त था। इस समय आश्रम व्यवस्था में कुछ शिथिलता आ रही थी। इस समय गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। स्त्रियों को भी आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार था। उदाहरणार्थ पाण्डु तथा धृतराष्ट्र के साथ उनकी पत्नियों ने भी वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया था।

विवाह–इस काल में समाज में आठ प्रकार के विवाह—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच—प्रचलित थे। इनका विस्तृत वर्णन अध्याय संख्या तीन में कर दिया गया है।

स्त्रियों की दशा–महाकाव्य काल में स्त्रियों की दशा संतोषजनक थी। महाकाव्यकालीन नारियों की स्थिति का वर्णन अध्याय संख्या चार में किया जा चुका है।

भोजन–इस युग में लोग शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के थे। गौ मांस खाना महान पाप माना जाता था। मदिरापान भी किया जाता था।

वेश-भूषा–वेश-भूषा सादी थी। पुरुष सिर पर पगड़ी पहना करते थे। खुशी के अवसर पर सफेद एवं शोक के अवसर पर काले वस्त्र पहने जाते थे। धनी लोग रेशमी तथा साधारण लोग सूती वस्त्र पहनते थे।

आभूषण–इस काल में स्त्री तथा पुरूष दोनों आभूषणों के शौकीन थे। धनी लोग सोने, चांदी व रत्नों से जड़े तथा निर्धन लोग पीतल, मूंगा एवं कौड़ी के आभूषण पहनते थे।

मनोरंजन–संगीत, नृत्य, आखेट, मल्लयुद्ध, जुआं, रथदौड़, घुडदौड़, आदि इस युग में मनोरंजन के प्रमुख साधन थे।

शिक्षा–इस काल में शिक्षा काफी विकसित हो चुकी थी। बालक को पांच वर्ष की आयु में शिक्षा देना आरंभ किया जाता था। इस काल में लिपि का पूर्णतः विकास हो जाने के बावजूद शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी। सामान्यतः शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। मनु ने शुल्क लेने वाले गुरू एवं देने वाले छात्र दोनों की निंदा की है। इस समय शिक्षा का व्यय राजा, श्रेष्ठि तथा सम्पूर्ण ग्राम मिलकर उठाता था।

मौर्यकालीन सामाजिक दशा

जाति प्रथा–अशोक के अभिलेखों तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तत्कालीन समाज में प्रचलित जाति प्रथा के संबंध में पता चलता है। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊंचा था। मैगस्थनीज के अनुसार ब्राह्मणों से किसी तरह का कर नहीं लिया जाता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में चारों वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख किया है। मैगस्थनीज ने जाति प्रथा के स्वरूप को जटिल बताया है, किन्तु उस समय भी अन्तर्जातीय विवाह हो सकते थे तथा लोग अपने व्यवसाय में परिवर्तन कर सकते थे। मेगस्थनीज ने तत्कालीन समाज को सात जातियों में बांटा है–

(i) दार्शनिक, (ii) कृषक, (iii) शिल्पकार, (iv) सैनिक, (v) गुप्तचर, (vi) गोपालक एवं (vii) आमात्य। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है, "मेगस्थनीज द्वारा किया गया विभाजन, सामाजिक विभाजन की अपेक्षा आर्थिक विभाजन प्रतीत होता है।"[3]

विवाह प्रथा–इस काल में समाज में पहले की भांति ही आठ प्रकार के विवाहों का प्रचलन था। कौटिल्य ने इनमें प्रथम चार को धर्मसंगत तथा अंतिम चार को अवैध

माना है। कन्या का विवाह सामान्यतः बारह वर्ष तथा पुरूष का विवाह सामान्यतः सोलह वर्ष में कर दिया जाता था। बहु पत्नी विवाह प्रथा भी प्रचलित थी। अशोक व बिन्दुसार के एक से अधिक पत्नियां थीं। मेगस्थनीज ने विवाह के तीन उद्देश्य बताये हैं, (i) पत्नी प्राप्त करने हेतु, (ii) भोग हेतु एवं (iii) सन्तानोत्पत्ति हेतु। तलाक प्रथा, नियोग प्रथा एवं विधवा विवाह का भी प्रचलन था।

स्त्रियों की स्थिति–मौर्यकाल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ गिरावट आने लगी थी। विस्तृत विवरण के लिये अध्याय संख्या चार देखिये।

दास प्रथा–अशोक के अभिलेखों तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तत्कालीन समाज में दास प्रथा के प्रचलन का भी पता चलता है। वस्तुतः यूनानी दासों के मुकाबले भारतीय दासों की स्थिति काफी अच्छी थी। डॉ. रोमिला थापर ने लिखा है, "भारतीय दास यूनानी डौलोस से भिन्न था, क्योंकि वह स्वयं धन कमा सकता था तथा अपने पास सम्पत्ति रख सकता था।"[4] तत्कालीन समाज में दासों की अच्छी दशा देखकर मेगस्थनीज यह अनुमान भी नहीं लगा पाया था कि यहां दास प्रथा प्रचलित थी। सामान्यतः अनार्य दास होते थे। आर्थिक संकट से आर्य भी कुछ समय के लिये दास हो सकते थे, किन्तु उनकी संतान दास नहीं कहलाती थी। भारत में दासों के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार होता था। दास अपने स्वामी को निश्चित धन चुकाकर दासता से मुक्त हो सकता था। इसके अलावा दास अतिरिक्त समय में कार्य कर धन कमा सकते थे तथा सम्पत्ति रख सकते थे।

भोजन–इस काल में शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के लोग थे। जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव से लोग मांसाहार से दूर हो रहे थे। चावल, गेंहू की रोटी, सब्जियां आदि मुख्य खाद्य पदार्थ थे। इसके अलावा अशोक के अभिलेख से पता चलता है कि भोजन में कई तरह के मांस का प्रयोग होता था। मेगस्थनीज की इण्डिका से भोज करने के तरीकों के वारे में पता चलता है। अर्थशास्त्र में कई तरह की मदिराओं का उल्लेख है। मदिरापान मदिरालय में किया जाता था। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय विशेष अवसरों पर ही मदिरा पान करते थे।

मनोरंजन–संगीत, नृत्य, रथ दौड़, घुड़ दौड़, मल्लयुद्ध, नाटक, जुआ, आखेट आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। मेले एवं उत्सव भी आयोजित होते थे, जहा नर्तक, नट, वादक आदि अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। अशोक के अभिलेख तथा मेगस्थनीज के विवरण से 'विहार यात्राओं' का भी पता चलता है।

चिकित्सा प्रबंध–अशोक के शिलालेख के अनुसार उसने अपने साम्राज्य तथा आस-पास के गांवों में औषधालय खुलवाये, जहां रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती थी। वैद्यों को सरकार द्वारा भूमि अनुदान में मिलती थी। डॉ. डी.आर. भण्डारकर

ने लिखा है, "यह निःसंदेह आश्चर्यजन बात है कि रोगी मनुष्यों तथा पशुओं के लिये मुफ्त चिकित्सा प्रबंध की प्रथा, जो पश्चिमी भारत में 18 वीं सदी में प्रचलित थी, भारत में ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी के प्राचीन समय में स्थापित थी।"[5]

नैतिक स्तर–मौर्यकाल में भारतीयों का नैतिक स्तर बड़ा ऊंचा था। वे राजकीय आज्ञाओं का पालन करते थे तथा झूंठ, चोरी आदि से घृणा करते थे। वे यज्ञों के अतिरिक्त मदिरापान नहीं करते थे। इस समय लोग अपने घरों पर ताले नहीं लगाते थे, जिससे उनके नैतिक होने का पता चलता है। वे लोग न्यायालयों की शरण बहुत कम लेते थे। प्रजा में नैतिक सिद्धांतों के प्रचार हेतु धर्म महापात्र नामक अधिकारी थे।

शुंगकालीन सामाजिक दशा

पतंजलि के महाभाष्य से शुंगकालीन समाज के बारे में पता चलता है। स्त्रियों को काफी सम्मान व स्वतंत्रता प्राप्त थी। ब्राह्मणों का समाज में सर्वोच्च स्थान था। यवन भी इस समय भारतीय समाज के अंग थे तथा उनका सबसे नीचा स्थान था।

सातवाहनकालीन सामाजिक दशा

इस समय यद्यपि समाज चार वर्णों में विभक्त था, किन्तु व्यवसाय के आधार पर समाज में अनेक उपजातियां जन्म ले रही थीं यथा-हालिक तथा गोलक। इस काल में परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति ही परिवार का मुख्रिया होता था, जो कुटुम्बिन कहलाता था। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे। वाशिष्ठी पुत्र शातकर्णि का शक शासक रूद्रदामन की पुत्री से विवाह समाज में अन्तर्जातीय विवाहों के प्रचलन की ओर संकेत करता है। इस काल में स्त्रियों की दशा काफी अच्छी थी तथा आवश्यकता होने पर वे शासन संचालन भी करती थीं। जैसे शातकर्णि प्रथम की मृत्यु पर उसकी पत्नी नागनिका ने शासन किया था। नागनिका के नानाघाट अभिलेख के अनुसार उसने अपने पति के साथ अश्वमेध यज्ञ में भी भाग लिया था। नासिक प्रशस्ति के अनुसार इस समय विधवाओं की दशा अच्छी थी।

गुप्तकालीन सामाजिक दशा

फाह्यान, ह्वेनसांग आदि चीनी यात्रियों के यात्रा विवरणों तथा पुराणों, स्मृतियों व तत्कालीन साहित्य से गुप्त समय की सामाजिक दशा का पता चलता है, जो इस प्रकार है–

संयुक्त परिवार प्रथा–परिवार संयुक्त होते थे। वृद्ध पिता ही परिवार का मुखिया होता था। परिवार के अन्य सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे। परिवार के विभाजन को अच्छा नहीं माना जाता था। ऐसे परिवारों (संयुक्त) में तीन-चार पीढ़ियों

के सदस्य एक साथ रहते थे। परिवार का बंटवारा होने पर सभी पुत्रों में पैतृक सम्पत्ति समान रूप से बांट दी जाती थी।

खान-पान–इस काल में शाकाहारी तथा मांसाहारी लोग दोनों थे। फाह्यान ने लिखा है कि लोग मांस, मदिरा और यहां तक प्याज व लहसुन का प्रयोग नहीं करते, किन्तु फाह्यान का यह कथन देश की जैन एवं बौद्ध प्रजा के लिये उर्पुयुक्त माना जा सकता है, अन्य वर्गों के लिये नहीं। उस समय के हिन्दू ग्रंथों के अनुसार हिन्दू शराब तथा मांस का प्रयोग करते थे। यहां तक की स्त्रियां भी शराब पीती थीं। शराब बेचने वालों को सरकार से लाइसेंस लेना पड़ता था।

रहन-सहन–गुप्तकाल में पुरुष धोती, कुरता व पगड़ी तथा स्त्रियां साड़ी एवं पेटीकोट पहनती थीं। इस समय लोग सिथियन ढंग के वस्त्र भी पहनते थे। गुप्त सम्राट् सिथियन कोट तथा पायजामे पहननें लगे थे। लोग सामान्यतः सूती कपड़े तथा त्यौहारों पर रेशमी कपड़े पहनते थे। जूतों का प्रयोग कम होता था।

आभूषण व श्रृंगार–इस काल में पुरुष एवं स्त्रियां सोने व चांदी के आभूषण पहनते थे। स्वर्णहार, कड़े, अंगूठियां आदि स्त्रियों के प्रमुख आभूषण थे। अजन्ता की गुफा से प्राप्त चित्र इस ओर संकेत करते हैं कि स्त्रियां अनेक तरह से अपने बालों को संवारती थीं। वे क्रीम, पाउडर, सुरखी आदि का भी प्रयोग करती थीं।

आमोद-प्रमोद–शिकार, जुआं, रथ दौड़, मुर्गों व भेड़ों की लड़ाइयां, संगीत, नृत्य, नाटक आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। लड़के व लड़कियां गेंद खेल कर तथा झूला झूलकर मन बहलाते थे। दीपावली, दशहरा, होली आदि त्यौहार धूम धाम से मनाये जाते थे।

जाति प्रथा–गुप्त काल में भी समाज चार वर्णों में विभक्त था। प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कर्तव्य का पालन करता था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि गुप्त सम्राट ब्राह्मणों का बहुत सम्मान करते थे तथा उन्हें दान देने के समय वे अपना ताज भी उतार लेते थे। ब्राह्मणों को तीन विवाह करने का विशेष अधिकार था। ब्राह्मण चाहे कितना ही जघन्य अपराध कर ले, उसे मृत्यु दण्ड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण की हत्या घोर पाप माना जाता था। क्षत्रियों व वैश्यों की दशा अच्छी थी, किन्तु शूद्रों की स्थिति अच्छी न थी।

इस काल में सभी जातियों का व्यवसाय निश्चित होने के बावजूद जाति प्रथा में लचीलापन था। अतः ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का, वैश्य क्षत्रिय का तथा क्षत्रिय ब्राह्मण का कार्य भी कर सकते थे। कई ब्राह्मणों एवं वैश्यों ने राजवंशों की स्थापना की। वाकाटक वंश के शासक ब्राह्मण तथा गुप्त वंश के शासक वैश्य थे। इस काल में एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यवसाय में आसीनी से कदम रख सकता था।

इस काल में अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह होते थे। इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह प्रथा भी प्रचलित थी।

अनुलोम विवाह–यदि किसी उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर लेता था, तो उसे अनुलोम विवाह कहा जाता था, जैसे- ब्राह्मण पुरुष का क्षत्रिय स्त्री के साथ विवाह तथा क्षत्रिय पुरुष का वैश्य स्त्री के साथ विवाह। ऐसे विवाहों का उस समय प्रचलन था। जैसे वाकाटक वंश के ब्राह्मण शासक रूद्रसेन ने गुप्त वंश के वैश्य शासक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती के साथ विवाह किया था।

प्रतिलोम विवाह–यदि किसी निम्न वर्ण का पुरुष अपने से ऊंचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर लेता था, तो उसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता था। जैसे वैश्य पुरुष का क्षत्रिय स्त्री के साथ अथवा क्षत्रिय पुरुष का ब्राह्मण स्त्री के साथ विवाह। गुप्त काल में प्रतिलोम विवाह भी प्रचलित थे। उदाहरणार्थ; कदम्ब नरेश काकुस्थवर्मन, जो ब्राह्मण था, ने अपनी पुत्री का विवाह वैश्य जाति के गुप्त शासक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के साथ किया था।

अस्पृश्यता–गुप्त काल में उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों अथवा शूद्रों को चाण्डाल कहते थे एवं उनसे घृणा करते थे। चाण्डालों के जीवन पर अनेक प्रतिबंध थे। उन्हें रात को नगरों तथा गांवों में घूमने का अधिकार न था। दिन में भी वे सवर्णों से अलग रहते थे। फाह्यान ने लिखा है कि चाण्डाल लोग नगर में आने के समय लकड़ी के टुकड़े बजाते हुए चलते थे, ताकि लोगों को उनके आगमन का पता चल जाये तथा वे उनसे दूर रहें।

आश्रम व्यवस्था–गुप्तकाल में भी मानव जीवन 25-25 वर्ष के चार भागों में विभाजित था–(i) ब्रह्मचर्याश्रम, (ii) गृहस्थाश्रम, (iii) वानप्रस्थाश्रम तथा (iv) संन्यासाश्रम। ऐसा माना जाता था कि इन आश्रमों के अनुसार मनुष्य आदर्श जीवन व्यतीत करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता था। गुप्त काल में लोग इन आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयास करते थे।

दास प्रथा–गुप्तकाल में दास प्रथा का भी प्रचलन था। युद्ध में परास्त लोगों को बन्दी बनाकर दास बना दिया जाता था। ऋण न चुकाने वाले लोगों को भी दास बना दिया जाता था। हारे हुए जुआंरी को भी दास बनना पड़ता था। ऋणकर्ता, जुआंरी एवं युद्धबंदी यदि निश्चित धनराशि अपने स्वामी को चुका देते थे, तो उन्हें दासता से मुक्त कर दिया जाता था। इस समय दासों का क्रय विक्रय भी होता था। यदि कभी कोई दास अपने स्वामी की प्राण रक्षा करता था, तो वह दासता से मुक्त कर दिया जाता था। यूरोप की तुलना में भारत में दासों की स्थिति अत्यन्त अच्छी थी। वे सम्पत्ति रख सकते

थे, धन कमा सकते थे तथा दासता से मुक्त हो सकते थे। उन्हें मारा पीटा नहीं जाता था और न ही उनके साथ गाली गलौच की जाती थी।

नैतिक स्तर–गुप्तकालीन लोग दानी, दयालु तथा ईमानदार थे। उनका आचरण शुद्ध था। धनी लोगों द्वारा देश के विभिन्न भागों में अनेक चिकित्सालय स्थापित किये गये। इनमें निर्धनों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती थी। इसके अतिरिक्त अनेक विश्रामगृहों का भी निर्माण करवाया गया। लोग अतिथि सेवा करना अपना कर्तव्य मानते थे।

हर्षकालीन सामाजिक स्थिति

ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री, जो हर्ष के समय में भारत आया था, ने अपने यात्रा विवरण में भारत में चार वर्णों के अतिरिक्त् एक मिश्रित जाति भी मानी है। संभवतः वह यहां की उपजातियों को ठीक प्रकार से नहीं समझ सका। ह्वेनसांग के अनुसार समाज में ब्राह्मणों का काफी सम्मान था एवं इस देश को ब्राह्मण देश कहा जाता था। क्षत्रियों का जीवन सरल था। वैश्य व्यापार करते थे तथा शूद्र कृषि में संलग्न थे। ह्वेनसांग के अनुसार अछूत लोग नगर से बाहर रहते थे। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह से मिश्रित जातियों का जन्म हुआ।

समाज में स्त्रियों की दशा अच्छी थी। अभी उनकी शिक्षा की तरफ ध्यान दिया जाता था। हर्ष की बहिन राज्यश्री शिक्षित थी। इस समय गेंहू की रोटी, चावल, दूध, दही, घी, मक्खन, फल आदि मुख्य खाद्य पदार्थ थे। लोग प्रायः लहसुन तथा प्याज नहीं खाते थे। कुछ लोग मांस खाते थे, किन्तु बैल, गधे, कुत्ते, बन्दर आदि का मांस खाने पर प्रतिबंध था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शराब पीते थे। निम्न वर्गों में इसका प्रचलन कम था।

हर्ष के समय में लोग स्नान करने के बाद ही भोजन ग्रहण करते थे। मिट्टी तथा काष्ठ के बर्तन एक बार ही प्रयोग में लाये जाते थे तथा झूंठे बर्तन धोकर ही प्रयोग में लिय जाते थे। इस समय देश में ऊनी, सूती व रेशमी वस्त्र उन्नत था। जूतों का प्रयोग प्रायः बहुत कम होता था। इस काल में शतरंज, आखेट, पशु युद्ध आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। संगीत तथा नृत्य भी उन्नत था। लोगों का नैतिक स्तर बड़ा ऊंचा था। वे किसी को धोखा देना पाप समझते थे।

राजपूतकालीन सामाजिक दशा

वर्ण व्यवस्था–इस युग में समाज चार वर्णों में विभक्त था–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मणों का समाज में सर्वोच्च स्थान था। शूद्रों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उन्हें वेदों को पढ़ने का अधिकार न था। यदि कोई शूद्र वेदों को पढता था, तो उसकी जबान काट दी जाती थी। इस काल में समाज कई उपजातियों में बंट चुका था।

कल्हण ने राजतरंगिणी में 64 जातियों का उल्लेख किया है। इस युग में वर्ण व्यवस्था बहुत कठोर बन चुकी थी तथा वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन संभव न था। अलबरूनी ने लिखा है, "हिन्दुओं की जाति परायण कट्टरता का शिकार विदेशी जातियां होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। उनके साथ खान-पान का संबंध नहीं रखते हैं। उनका विचार है कि इस तरह का व्यवहार करने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे।" इस काल में लिपिक के पद पर काम करने वाले व्यक्तियों के रूप में कायस्थ जाति का जन्म हुआ।

विवाह–यद्यपि स्वजातीय विवाह पर बल दिया जाता था, किन्तु अन्तर्जातीय तथा अर्न्तधार्मिक विवाह भी प्रचलित थे। अनुलोम विवाह के अन्तर्गत ब्राह्मण कवि राजेश्वर ने चौहान राजकुमारी अवन्ति सुन्दरी के साथ तथा गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द्र ने बौद्ध राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया था। बाल विवाह भी प्रचलित हो रहे थे, जिसकी पुष्टि स्वंय अलबरूनी करता है। स्त्रियों को पति के वरण की स्वतंत्रता थी। सगोत्र विवाह नहीं होते थे। स्वयंवर प्रथा भी विद्यमान थी। राजा तथा सामंत बहु विवाह करते थे, किन्तु जनसाधारण, एक विवाह ही करता था। विधवा विवाह प्रचलित नहीं थे।

स्त्रियों की दशा–राजपूत काल में स्त्रियों की दशा संतोषजनक थी। स्त्रियों की दशा के विस्तृत वर्णन हेतु अध्याय संख्या चार देखिये।

धार्मिक स्थिति

सैन्धवकालीन धार्मिक स्थिति

खुदाई में प्राप्त मोहरों, मूर्तियों तथा ताबीजों से सैन्धव लोगों के धार्मिक जीवन की निम्न विशेषताएं उभर-कर सामने आती हैं–

(1) मातृदेवी की पूजा–खुदाई में प्राप्त नारी की मूर्तियों से पता चलता है कि सिन्धु-वासी मातृदेवी की पूजा करते थे। मि. मैके तथा सर जॉन मार्शल का मानना है कि सिन्धुवासी सबसे अधिक श्रद्धा मातृदेवी के प्रति रखते थे। उसे पशुबलि अथवा नरबलि भी दी जाती थी।

(2) शिव की पूजा–खुदाई में ऐसी मुद्राऍं मिली हैं, जिन पर एक व्यक्ति का चित्र है, जिसके तीन मुख है, सिर पर सींग है तथा चारों तरफ पशु है। संभवतः यह पशुपति नाथ शिव का चि़त्र है। विद्धानों के अनुसार चित्र के सिर पर सींग त्रिशूल के समान है तथा शिवजी के नन्दी बैल के समान ही पशुओं में भी बैल है। अतः यह शिव का चित्र है। श्री के.एन. शास्त्री ने शिव के दर्जे को मातृदेवी के बाद माना है।

(3) लिंग पूजा–खुदाई में लाल पत्थर, नीले पत्थर व सामान्यतः पत्थर के बने चार फुट तक ऊंचे शिव लिंग मिले हैं। इसे वहां लिंग पूजा के प्रचलन का पता चलता है।

सिन्धुवासी इसे प्रजनन शक्ति मानते थे। आधुनिक समय में लिंग पूजा सिन्धुवासियों की ही देन है। खुदाई में प्राप्त प्रस्तर योनियों से योनि पूजा के प्रचलन के भी संकेत मिलते हैं।

(4) पशु पूजा–खुदाई में प्राप्त मोहरों से पता चलता है कि सैन्धव बाघ, हाथी, बैल आदि पशुओं की पूजा करते थे। सांपों को दूध पिलाने का भी प्रचलन था। घड़ियाल सर्वश्रेष्ठ जल जन्तु माना जाता था। संभवतः सूर्य की पूजा भी की जाती थी। खुदाई में प्रत्येक घर में प्राप्त अग्नि कुण्ड से पता चलता हे कि सिन्धुवासी अग्नि पूजा एवं यज्ञादि में भी विश्वास रखते थे।

(5) वृक्ष पूजा–खुदाई में प्राप्त मुद्राओं पर अंकित चित्रों से पता चलता है कि सिन्धुवासी पीपल, नीम, बबूल, तुलसी, खजूर इत्यादि वृक्षों की पूजा करते थे।

(6) धार्मिक परम्पराएं–खुदाई में प्राप्त मोहरों से सैन्धव लोगों के साकार ईश्वर का उपासक होने का पता चलता है। खुदाई में प्राप्त तावीज इस बात को बताते हैं कि वे अन्धविश्वासी थे। पूजा में धूप-दीप का प्रयोग होता था। देवताओं को नृत्य एवं संगीत द्वारा प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता था। योग साधना का भी प्रचलन था।

ऋग्वैदिकालीन धार्मिक स्थिति

आर्य बहुदेववाद में विश्वास करते थे तथा यज्ञ द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे। इस काल के धार्मिक जीवन की विशेषताएं इस प्रकार थीं–

प्रमुख देवी देवता–आर्य प्रकृति को महान शक्ति समझते थे। उनके प्रमुख देवी देवता इस प्रकार थे–

(1) वरुण–यह आर्यों का सर्वश्रेष्ठ देवता या तथा आर्यों का विश्वास था कि कोई भी पापी उसकी नजर से नहीं बच सकता। ऋग्वेद के एक सूक्त में लिखा हुआ है–"हे वरुण। मैं सच्चे हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि आप उन पापों से, जो हमने किये है, हमारा उद्धार करो।[6]

(2) इन्द्र–इन्द्र युद्ध एवं वर्षा का देवता था। वर्षा न होने पर आर्य इन्द्र को प्रसन्न करने हेतु यज्ञ करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त में लिखा है, "हे इन्द्र, तुम वज्रपाणि हो। तुमने वर्षा करके हम पर अपार कृपा की। तुमने हमारी प्रार्थना को कभी अस्वीकार नहीं किया।"[7] आर्य युद्ध में विजय प्राप्त हेतु भी इन्द्र को प्रसन्न करने का प्रयास करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त के अनुसार, "हे इन्द्र ! हमारे पास लड़ने की पर्याप्त शक्ति है, क्योंकि तुम हमारे रक्षक हो। हम तुम्हारी सहायता से शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

(3) अग्नि–अग्नि भक्त द्वारा दी गयी आहुति को देवता तक पहुँचाती थी। अतः इसका विशेष महत्व था।

महाकाव्यकालीन धार्मिक स्थिति

इस काल में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती दुर्गा आदि देवी देवताओं की पूजा की जाती थी। इस युग में ब्रह्मा को सृष्टा, विष्णु को पालक तथा शिव को संहारक माना जाने लगा। कृष्ण व राम को विष्णु का अवतार मानने से अवतारवाद के सिद्धांत का जन्म हुआ। इस काल में यज्ञ के महत्त्व में वृद्धि हो रही थी। मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान, तप व भक्ति पर बल दिया जा रहा था। गीता इस युग का सर्वप्रमुख धार्मिक ग्रंथ है।

मौर्यकालीन धार्मिक स्थिति

ब्राह्मण धर्म–मौर्य काल में ब्राह्मण वर्ग समाज में सर्वोच्च था तथा उसे काफी सम्मान प्राप्त था। कौटिल्य ने ब्राह्मण धर्म के अनेक देवताओं का वर्णन किया है, ब्राह्मण धर्म में यज्ञ, कर्मकाण्ड, श्राद्ध आदि ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित करवाये जाते थे। मेगस्थनीज के अनुसार शिव तथा कृष्ण उस युग के लोकप्रिय देवता थे तथा गंगा नदी की भी पूजा की जाती थी। तीर्थ यात्राओं का भी प्रचलन था। ब्राह्मणों का अन्तिम लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति था। यह भारत का बड़ा लोकप्रिय धर्म था।

आजीविक सम्प्रदाय–इसका संस्थापक गोसाल था। ये लोग नग्न संन्यासी की भांति कठोर जीवन व्यतीत करते थे। अशोक ने इस संन्यासियों को बाराबर की पहाड़ियों में निवास हेतु दो गुफाएं प्रदान की थीं। स्तंभ लेख सप्तम के अनुसार अशोक ने धर्म महामात्रों को इन आजीविकों की भलाई का ध्यान रखने के आदेश दिये थे। अशोक के पौत्र दशरथ ने नागार्जुनी पहाड़ियों में आजीविकों को निवास हेतु गुफाएं दी थीं। डॉ. भण्डारकर ने आजीविक सम्प्रदाय को दो भागों-जैनियों का तथा ब्राह्मणों का, में बांटा है।

जैन धर्म–इस समय जैन धर्म भी उन्नत था। ये लोग अहिंसावादी थे। अशोक ने जैनियों के प्रति भी सहिष्णुता की नीति अपनायी। वैश्य वर्ग का इस धर्म की तरफ विशेष झुकाव था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जीवन के अन्तिम काल में जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। अशोक का पौत्र सम्प्रति भी जैन धर्म का अनुयायी था।

बौद्ध धर्म–मौर्यकाल में सर्वाधिक विकास बौद्ध धर्म का हुआ। अशोक ने बौद्ध धर्म अपनाकर न केवल उसका समूचे भारत में प्रसार किया, अपितु उसे लंका, बर्मा, हिमालय तथा यवन तक पहुँचा दिया। इसके साथ, ही इस काल में बौद्ध धर्म में विघटनकारी प्रवृत्तियां जन्म ले रही थीं। अशोक ने पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगति का आयोजन किया था। सारनाथ अभिलेख से पता चलता है कि उसने संघ में फूट डालने वाले भिक्षुओं को संघ से निकष्कासित करने की चेतावनी दी।

अशोक ने सभी धर्मों के प्रति सहनशीलता को अपनाया तथा कुछ नैतिक सिद्धांतों के संग्रह द्वारा अपने धम्म की स्थापना कर उसका प्रचार करने का प्रयत्न किया। डॉ.

राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है, "उसने धार्मिक उदासीनता की नीति नहीं अपनायी थी, बल्कि देश के सभी धर्मों के सार तथा अच्छे सिद्धांतों का उत्साहपूर्वक प्रचार करने को अपनाया था।"[9]

गुप्तकालीन धार्मिक स्थिति

गुप्त शासक यद्यपि हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, किन्तु धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु थे। गुप्त काल में विभिन्न धर्मों की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है-

(1) हिन्दू धर्म-डॉ. कीथ तथा मैक्समूलर के अनुसार गुप्तकाल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म भारत में पुनः लोकप्रियता प्राप्त करने लगा। गुप्त शासकों ने हिन्दू धर्म में सुधार करने हेतु निम्नलिखित कदम उठाये।

(i) वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत आदि पुराणों के नये संशोधित संस्करण तैयार किये गये।

(ii) रामायण एवं महाभारत के भी संशोधित संस्करण तैयार हुए।

(iii) संस्कृत भाषा को राष्ट्रीय भाषा घोषित किया गया।

(iv) हिन्दू देवताओं की असंख्य मूर्तियों का निर्माण कर उन्हें वस्त्रों तथा जेवरों से अलंकृत किया गया। इसके अलावा अनेक सुन्दर मन्दिर निर्मित किये गये।

(v) सरकार द्वारा ब्राह्मणों को अनुदान देकर हिन्दू धर्म का प्रचार करने के लिये प्रेरित किया गया।

(vi) शिव, सरस्वती, विष्णु, दुर्गा, लक्ष्मी, सूर्य आदि देवी-देवताओं की उपासना पर विशेष बल दिया गया।

(vii) गुप्त शासकों ने अश्वमेघ यज्ञ कर चक्रवर्ती सम्राट की उपाधि धारण की तथा वैदिक संस्कारों का प्रसार किया।

गुप्त काल में हिन्दू धर्म की निम्नलिखित शाखाओं की उन्नति हुईः

(i) वैष्णव मत-गुप्त सम्राट इसी मत के अनुयायी थे। वे विष्णु व लक्ष्मी की पूजा करते थे। मथुरा के शिलालेख तथा नालन्दा की मोहरों में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा अपने लिये। 'परम भागवत' की उपाधि का प्रयोग करने से उसके वैष्णव होने का पता चलता है। स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर विष्णु तथा लक्ष्मी का चित्र होने से तथा समुद्रगुप्त के सिक्कों पर गरुड़ का चित्र होने से उनके वैष्णव होने का पता चलता है। इस प्रकार गुप्तकाल में वैष्णव धर्म का काफी प्रचार हुआ।

(ii) शैव धर्म-गुप्तकाल में शैव धर्म का भी काफी प्रसार हुआ। कुछ गुप्त शासक शैव मत के अनुयायी थे। इस काल में भूमरा में शिव का मंदिर तथा अजयगढ़ में पार्वती का मंदिर बनवाया गया। इस के अतिरिक्त शिव-पार्वती की अनेक मूर्तियां

बनायी गयीं। संस्कृत का विख्यात कवि कालिदास भी शैव मत का अनुयायी था। कालान्तर में हूण शासक मिहिरकुल ने भी शैव मत को स्वीकार कर लिया था।

(2) **बौद्ध धर्म**–इस काल में बौद्ध धर्म मौर्य काल की तुलना में कमजोर पड़ चुका था, किन्तु फिर भी महत्त्वपूर्ण धर्म था। फाह्यान के अनुसार मथुरा, कश्मीर, गान्धार, पंजाब, बंगाल आदि प्रदेशों में इसका प्रचार था। इन प्रदेशों में बने मठों में हजारों भिक्षु रहते थे। मध्य भारत में यह लोकप्रियता खो चुका था1 बौद्धों के कपिलवस्तु, कुशीनगर, बुद्धगया आदि तीर्थ वीरान हो चुके थे। बौद्ध धर्म हीनयान तथा महायान नामक दो वर्गों में विभक्त था। हीनयान मूर्ति पूजा का विरोधी था, जबकि महायान इसका समर्थक था। महायान बुद्ध की व बोधिसत्वों की मूर्तियां बनाकर पूजा करता था एवं हीनयान की तुलना में लोकप्रिय था। महायान में अनुयायियों हेतु भिक्षु या भिक्षुणी बनना आवश्यक न था, किन्तु महायान में यह आवश्यक था। गुप्त सम्राट यद्यपि वैष्णव मत के अनुयायी थे, तथापि उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी।

(3) **जैन धर्म**–यह मात्र मथुरा तथा पश्चिमी व दक्षिणी भारत के प्रदेशों तक सीमित रह गया था। उत्तरी भारत में इसे राजकीय संरक्षण प्राप्त न हो सका, किन्तु दक्षिण भारत में कुछ राजाओं ने इसे संरक्षण दिया था। यह दो सम्प्रदायों में विभक्त था—श्वेताम्बर, इसके मुख्य केन्द्र मथुरा तथा वल्लभी थे तथा दिगम्बर, यह मुख्यतः कर्नाटक तथा मैसूर में प्रचलित था। गुप्त काल में इस धर्म का प्रभाव कम हो रहा था, अतः फाह्यान ने अपने यात्रा विवरणों में इसका उल्लेख नहीं किया है। कुमारगुप्त के शिलालेखों से पता चलता है कि उत्तरीय जनपद के रिपुहन शंकर ने उदयगिरी गुफा के मुख पर पार्श्वनाथ की मूर्ति निर्मित करवायी थी। गोरखपुर के समीप प्राप्त स्कन्दगुप्त के काल के जैन शैल स्तंभ से पंच तीर्थंकर की मूर्ति की स्थापना का पता चलता है। इसी काल में 512 ई. में वल्लभी में जैन धर्म की दूसरी सभा अयोजित की गयी थी।

इस प्रकार यद्यपि गुप्त सम्राट हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, तथापि उन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी थी। फाह्यान के अनुसार गुप्त सम्राट जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म को उदारतापूर्वक संरक्षण देते थे। गुप्त दरबार में असंग, वसुबन्धु, अमरकर्ड देव आदि बौद्ध विद्वान् थे। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त ने नालन्दा के मठ को विख्यात विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस काल में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियाँ बनायी गयीं। इस काल में सभी धर्मों के लोग आपस में मिल-जुलकर रहते थे।

हर्षकालीन धार्मिक जीवन

बौद्ध धर्म–हर्ष के समय में बौद्ध धर्म महायान तथा हीनयान नामक दो सम्प्रदायों में विभक्त था। इनमें महायान सम्प्रदाय लोकप्रिय था। इनके अतिरिक्त ह्वेनसांग ने

बौद्ध धर्म की 18 शाखाएं बतलायी हैं, जिनमें स्थविर, महासांघिक, माध्यमिक, योगाचार आदि प्रमुख थीं। इन सम्प्रदायों के कारण बौद्ध धर्म की एकता लुप्त हो चुकी थी। बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था तथा गया व कपिलवस्तु उजड़ चुके थे। इसके बावजूद देश के विभिन्न भागों में स्थित मठों में हजारों भिक्षु रहते थे। ह्वेनसांग ने देश में 500 बौद्ध विहारों को देखा था तथा मध्य प्रदेश में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचलन बतलाया था। हर्ष ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु काफी प्रयत्न किये, मगध, उड़ीसा, दक्षिणी कोसल, नालन्दा विश्वविद्यालय आदि महायान सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र थे। किन्तु फिर भी बौद्ध धर्म निरन्तर कमजोर पड़ता जा रहा था।

हिन्दू धर्म–ह्वेनसांग ने लिखा है कि भारत को ब्राह्मणों का देश समझा जाता था। इससे देश में हिन्दू धर्म के विकास तथा लोकप्रियता का पता चलता है। इस धर्म की पवित्र भाषा संस्कृत थी, जो साहित्य सृजन का आधार थी। हिन्दू लोग शिव, विष्णु, सूर्य आदि देवी देवताओं की पूजा करते थे। प्रयाग एवं वाराणसी इस धर्म के मुख्य केन्द्र थे। हिन्दू गाय को माता समझते थे तथा उसकी पूजा करते थे। इस प्रकार हिन्दू धर्म उन्नत अवस्था में था।

जैन धर्म–ह्वेनसांग के अनुसार जैन धर्म पंजाब, बंगाल एवं दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेशों में प्रचलित था। यह धर्म मुख्य रूप से दो सम्प्रदायों-श्वेताम्बर एवं दिगम्बर तथा इसके अतिरिक्त अनेक उप सम्प्रदायों में विभक्त था, उत्तरी भारत में जहां यह धर्म अपनी लोकप्रियता खोता जा रहा था, वहीं दक्षिणी भारत में यह निरन्तर लोकप्रिय होता जा रहा था।

राजपूतकालीन धार्मिक स्थिति

हिन्दू धर्म–इस काल में हिन्दू धर्म का बहुत विकास हुआ। अल्तेकर के अनुसार यह धर्म इस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। राजपूत हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। वे विभिन्न हिन्दू देवी देवताओं की उपासना करते थे। शिव उनका लोकप्रिय देवता था। इसके अलावा राम तथा कृष्ण की पूजा भी लोकप्रिय थी। हिन्दू धर्म मुख्य रूप से तीन सम्प्रदायों में बंटा हुआ था शैव, वैष्णव तथा शाक्त सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों में भी अनेक पंथ थे। वैष्णव संत रामानुज ने हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार करने हेतु भक्ति आंदोलन प्रारंभ किया था। इसके बाद निम्बार्क ने द्वैताद्वैत दर्शन द्वारा भक्ति परम्परा को आगे बढ़ाया। अधिकांश राजपूत शासक शिव के अनुयायी थे। पाल व चंदेल वंश के शासकों के अभिलेखों में 'ओम नमः शिवायः' उत्कीर्ण है। इस काल में अनेक मंदिर बनाये गये तथा शंकराचार्य ने देश के चारों कोनों पर चार मठों की स्थापना की। इसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म में एक नयी चेतना उत्पन्न हुई।

बौद्ध धर्म–इस काल में उत्तर में बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था, किन्तु दक्षिण में इसका अस्तित्व विद्यमान था। पाल राजाओं ने बौद्ध धर्म को संरक्षण दिया। यह धर्म

भष्टाचार एवं अनैतिकता की ओर बढ़ रहा था। यह 18 सम्प्रदायों में विभक्त था, जिसमें वज्रयान भी एक था, जिसमें सुरा व सुन्दरी का प्रयोग अनिवार्य था। इस प्रकार बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था।

जैन धर्म–इस काल में उत्तर भारत में जैन धर्म भी कमजोर था, जबकि दक्षिण भारत में इसके काफी अनुयायी थे। दक्षिण के चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग आदि वंश के शासकों ने जैन धर्म को संरक्षण दिया। हेमचन्द्र की प्रेरणा से चालुक्य नरेश कुमारपाल ने जैन धर्म को बहुत प्रोत्साहन दिया। फलतः गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना, मालवा आदि स्थानों पर इस धर्म का काफी प्रसार हुआ। इस काल में अनेक सुन्दर जैन मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें खजुराहो तथा आबू के मंदिर प्रमुख हैं, इस काल में जैन सन्तों का नैतिक स्तर ऊंचा रहने के कारण इस धर्म का अस्तित्व बना रहा।

संदर्भ

1. शर्मा, एम. आर (डॉ.) : इण्डिया एज आई सी हर, पृ. 21.
2. शतपथ ब्राह्मण, 11/3/3/1.
3. थापर, रोमिला (डॉ.) : अशोक एण्ड दी डिक्लाइन ऑफ मौर्याज़, पृष्ठ 57.
4. थापर, रोमिला (डॉ.) :वही, पृ. 89.
5. भण्डारकर, डी. आर (डॉ.) : अशोक, पृ. 168-169.
6. ऋग्वेद 7/86/1.
7. ऋग्वेद, 2/12/27.
8. त्रिपाठी, आरः एस. (डॉ.) : हिस्ट्री ऑफ एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 52-53.
9. मुकर्जी, राधाकुमुद (डॉ.) : अशोक, पृष्ठ 101.

□

7

प्राचीन भारत में राजनैतिक एवं आर्थिक दशा

सैन्धवकालीन राजनैतिक दशा

शासन प्रवंध–सैन्धवकालीन राजनैतिक दशा के संवंध में विद्वानों में मतभेद है। हण्टर ने वहाँ की शासन व्यवस्था को जनतांत्रिक मानते हुए शासन की शक्ति जनता में निहित मानी हैं। मैके ने सिन्धु घाटी में प्रतिनिध्यात्मक शासन माना है। प्रिगट के अनुसार शासन व्यवस्था पर पुजारी वर्ग का प्रभाव था। अतः इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, किन्तु फिर भी इस समय केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय स्वशासन का प्रचलन हो चुका था। खुदाई में प्राप्त एक ही प्रकार के सिक्के, एक ही प्रकार की मूर्तियों तथा लिपि से सिन्धुवासियों की राजनैतिक एकता का पता चलता है। कुछ विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता में दो राजधनियाँ-उत्तर में हड़प्पा तथा दक्षिण में मोहन जोदड़ो मानी हैं।

युद्ध सामग्री–सिन्धुवासी युद्ध तथा आखेट के शौकीन थे। इसकी पुष्टि खुदाई में प्राप्त नेजे, खंजर, तीर कमान आदि शस्त्रों से होती है।

ऋग्वैदिक राजनीतिक जीवन

राजनैतिक संगठन–ऋग्वैदिक काल में राजनीतिक संगठन का मुख्य आधार कुटुम्ब था। कई कुटुम्बों से एक ग्राम बनता था, जिसका प्रमुख ग्रामणी होता था। कई ग्रामों से एक विश बनता था, जिसका प्रमुख विशपति होता था। कई विशों से एक जन बनता था, जिसका प्रमुख राजा होता था।

राजा तथा उसके कर्तव्य–इस काल में छोटे-छोटे राज्य थे। राजा का पद पैतृक था, किन्तु जनता यदा-कदा नये राजा का भी निर्वाचन करती थी। डॉ. अल्तेकर ने लिखा है, "निर्वाचन भी यदा कदा ही हुआ करता था। साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वयोवद्ध व्यक्ति को नेता मानकर राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।"[1] राजा के हाथों में शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित थीं। उसे राज्य के पदाधिकारियों को नियुक्त एवं पदच्युत करने का अधिकार था। उसकी इच्छा ही कानून थी तथा वही

राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था। सर्वशक्तिमतता के बावजूद भी वह अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये बाध्य था तथा उस पर नियंत्रण रखने हेतु सभा व समिति नामक संस्थाएं थीं। उसके (राजा) प्रमुख कार्य प्रजा के जीवन व सम्पत्ति की रक्षा करना [2], राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना, राज्य की बाहरी आक्रमणों से रक्षा करना, शत्रुओं से युद्ध लड़ना, शान्तिकाल में यज्ञ करना, प्रजा का भौतिक व नैतिक विकास करना आदि थे।

प्रमुख अधिकारी–पुरोहित, सेनापति तथा ग्रामणी आदि मुख्य पदाधिकारी थे। पुरोहित राजा को धार्मिक एवं न्यायिक कार्यों में सलाह देता था एवं यज्ञ करवाता था। सेनापति सेना का प्रधान होता था। वह युद्ध में सेना का संचालन करता था। ग्रामणी गाँव के शासन का मुखिया होता था तथा राजा एवं गाँव की प्रजा के मध्य सम्पर्क बनाये रखता था।

सभा तथा समिति–ऋग्वैदिक काल में राजा को शासन प्रबंध में सहायता देने हेतु सभा एवं समिति नामक संस्थाएं थीं।[3] इस के स्वरूप के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लुडविंग के मत का समर्थन करते हुए समिति को समस्त जनता का तथा सभा को पदाधिकारियों का संगठन माना है। सभा एवं समिति राजा को परामर्श देती थीं एवं प्रभावी स्थिति रखती थीं। राजा इनके परामर्श की अवहेलना नहीं कर सकता था।

स्थानीय शासन–ग्रामणी गाँव का मुखिया होता था एवं ग्राम में शान्ति व्यवस्था बनाये रखता था। राजा स्थानीय शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। विशपति युद्ध के समय राजा की सैनिक सहायता करता था।

न्याय प्रबंध–राजा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था। वह पुरोहितों की मदद से मुकदमों का निर्णय करता था। कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर देता, तो वह मृतक के संबधी को धन देकर मुक्त हो सकताथा। ऋण न चुकाने पर दास बना लिया जाता था। जल व अग्नि परीक्षा का प्रचलन था। अपराधों का पता लगाने हेतु 'उग्र' नामक पुलिस होती थी। गाँव में न्याय का कार्य पंचायत करती थी।

युद्ध प्रथा–आर्य कुशल योद्धा थे। ऋग्वेद में आर्यों द्वारा लड़े गये युद्धों तथा युद्ध विधान का वर्णन है। साधारण सैनिक पैदल तथा क्षत्रिय व राजा रथों पर चढ़कर युद्ध करते थे। धनुष बाण, भाला, तलवार, फरसा, बरछे, कुल्हाड़ियां, कटार आदि प्रमुख हथियार थे। आर्यों का युद्ध विधान बड़ा उत्तम था। निद्रामग्न, निःशस्त्र, घायल आदि पर वार नहीं किया जाता था। आर्य युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये इन्द्र की उपासना करते थे।

उत्तर वैदिक राजनीतिक दशा

आर्यों का विस्तार–इस काल में आर्यों का प्रसार हिमालय से विन्ध्याचल तक था। अतः इस क्षेत्र को 'आर्यावर्त' कहा जाता था।

शक्तिशाली राज्यों का उदय–इस काल में छोटे-छौटे कबीलों के स्थान पर गान्धार, विदेह, काशी, कौशल, पांचाल आदि शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ। कुरू इस युग का विख्यात् राज्य था, जिसमें थानेसर, देहली, गंगा जमुना के प्रदेश आदि सम्मलित थे। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। इस राज्य का पहला शासक परीक्षित था।

राजा–इस काल में राजा का स्थान बड़े सम्राटों ने ले लिया। अब सम्राट राजसूय तथा अश्वमेघ यज्ञ करते थे तथा वे अधिराज, राजधिराज, सम्राट, विराट, सार्वभौम आदि उपाधियां धारण करते थे। अश्वमेध यज्ञ में एक सुसज्जित घोड़े के पीछे एक सेना देश के विभिन्न भागों में जाती थी। घोड़े को रोकने वाले शासक को उसके पीछे चलने वाली सेना से संघर्ष करना पड़ता था एवं यदि कोई भी उस घोड़े को न रोकता, तो राजा सम्राट एवं चक्रवर्ती की उपाधि धारण करता था। कोशल के राजा पार एवं पांचाल के राजा क्रैव्य ने अश्वमेध यज्ञ किया था। राजसूय यज्ञ में राजा धनुष बाण लेकर शेर की खाल पर चलता था तथा तत्पश्चात् उसे शतरंज के खेल में विजेता घोषत किया जाता था। इसके बावजूद, "इसका मतलब यह नहीं था कि वे तानाशाह थे और मनमानी करते थे।[4] राजा को शासक बनते समय प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी, "यदि मैं तुम (प्रजा) पर अत्याचार करूं, तो हे ईश्वर, मैं जन्म की रात से मृत्यु तक किये गये अच्छे कर्मों से अपने जीवन से तथा अपनी संतान से रहित हो जाऊं।"

सभा एवं समिति–अथर्ववेद में सभा एवं समिति को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है।[5] इस काल में राजा के शक्तिशाली होने से तथा पुरोहित वर्ग के प्रभाव में वृद्धि से सभा एवं समिति कमजोर हो गयी थी।

राज्याधिकारी–इस काल में प्रमुख पदाधिकारी निम्नलिखित थे (1) पुरोहित, (2) सेनानी, (3) ग्रामणी, (4) समग्रहोत्री, (5) भागदुह (कर एकत्रकर्ता), (6) क्षत्रि (घरेलू कार्यों का अध्यक्ष), (7) सूत[6] (राजा का सारथी) (8) अक्षवाप (जुएं को नियंत्रित करने वाला अधिकारी)। ये अधिकारी रत्नि कहलाते थे। इस काल में ग्रामणी की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी।

न्याय प्रबंध–न्यायाधीश मुकदमों का निर्णय करते थे। मृत्यु दण्ड का प्रचलन नहीं था।[7] एक क्षत्रिय की हत्या पर एक हजार गायें, एक वैश्य की हत्या पर सौ गायें तथा एक शूद्र की हत्या पर 10 गायें मृतक के परिवार को देनी पड़ती थी तथा एक बैल सरकार को देना पड़ता था।

महाकाव्यकालीन सामाजिक स्थति

राज्य की उत्पत्ति–महाभारत के अनुसार आरंभ में न तो राजा थे और न राज्य। समाज में व्यवस्था थी, किन्तु कालान्तर में अराजकता उत्पन्न होने लगी, अतः सभी देवता ब्रह्मा के पास गये तथा ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना पर राजा व राज्य की उत्पत्ति की।

राजा–राजा राज्य का सर्वोच्च एवं निरंकुश शासक था। महाभारत में उसे सूर्य, यम अग्नि तथा कुबेर के समान माना गया है। उसके हाथ में शासन की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित थीं। वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। उसे राज्याभिषेक के समय प्रजा की भलाई की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। वह नवीन व्यवस्था नहीं बना सकता था। अत्याचारी व कर्तव्यहीन राजा को जनता पदच्युत कर सकती थी। राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी होताथा, किन्तु शारीरिक दोष होने पर उनसे यह अधिकार छीना जा सकता था। जैसे महाभारत में धृतराष्ट्र के अंधा होने के कारण पाण्डु शासक बना था। राजगद्दी हेतु षड्यंत्र भी होते थे। सभा व समिति का अस्तित्व समाप्त हो चुका था। कुरू, पांचाल, कौशाम्बी, विदेह, काशी, कौशल, आदि इस युग के प्रमुख राज्य थे।

मंत्री तथा पदाधिकारी–राजा को शासन में सहायता देने हेतु मंत्रि परामर्शदात्री नामक दो संस्थाएं थीं। मंत्रिपरिषद् में 37 मंत्री (4 ब्राह्मण, 8 क्षत्रिय, 21 वैश्य व 3 शूद्र) थे। मंत्री योग्य एवं चरित्रवान होते थे। एक प्रधानमंत्री भी होता था। मंत्रिपरिषद् पर राजा का नियंत्रण होता था। परामर्शदात्री सदस्यों में पुरोहित, युवराज, सेनापति, सामंतगण, राज्य के अन्य अधिकारी आदि सम्मिलित थे। शासन के सुप्रबंध हेतु राज्य ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम एवं हजार ग्रामों के समूह में विभक्त था, जिसके प्रमुख क्रमश : ग्रामणी, दशग्रामी, विशपति, शतगामी एवं अधिपति होते थे। राज्य को भूमि कर (1/6 भाग), वाणिज्य कर, जुर्मानों आदि से आय होते थी।

सैन्य संगठन–इस काल में राजा के पास विशाल सेना होती थी, जो पदाति, अश्वारोही, गजारोही एवं रथारोही इन चार भागों में विभक्त थी। तलवार, भाला, बरछी, धनुष-बाण, कवच, ढाल आदि युद्ध के प्रमुख शस्त्र थे। अग्नि बाण तथा विष बाण का प्रयोग होता था। निद्रामग्न, निःशस्त्र, घायल आदि पर वार नहीं किया जाता था, किन्तु कभी-कभी कूटनीति भी अपनायी जाती थी। यथा महाभारत में अभिमन्यु वध।

महाजनपद युग की राजनैतिक स्थिति–बौद्ध धर्म ग्रंथों में उत्तरी भारत में सोलह महाजनपदों का वर्णन है, जो परस्पर लड़ते रहते थे। ये इस प्रकार थे- (1) अंग, (2) मगध, (3) काशी, (4) कोशल, (5) वज्जि, (6) मल्ल, (7) वत्स, (8) कुरू, (9) पांचाल, (10) मत्स्य, (11) चेदि, (12) शूरसेन, (13) अश्मक, (14) अवन्ति, (15) कन्नौज एवं (16) गान्धार।

गाणराज्यों का शासन प्रवंध–गाणराज्यों का मुखिया राजा होता था, जो निश्चित

समयावधि हेतु निर्वाचित होता था। उसकी सहायता हेतु 9 सदस्यों की मंत्रिपरिषद् होती थी। इसकी बैठक संस्थागार में होती थी। महत्त्वपूर्ण विषयों पर बहुमत से निर्णय लिये जाते थे। मतदान को छन्द तथा मतदान पत्र को 'शलाका' कहते थे। शलाकाओं को एकत्र करने वाले अधिकारी 'शलाका ग्राह्यक' कहलाते थे।

बिम्बिसार का शासन प्रबंध

हर्यक वंश के बिम्बिसार (544-493 ई. पू.) तथा उसके पुत्र अजातशत्रु (493-462 ई. पू.) ने मगध को भारत का शक्तिशाली राज्य बना दिया।

शासन प्रबंध-बिम्बिसार का शासन प्रबंध सुसंगठित था। राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। पदाधिकारियों की नियुक्ति करने तथा दण्डित व पुरस्कृत करने का अधिकार उस के हाथ में था। उसे शासन में सहायता देने हेतु निम्न प्रकार के माहात्म्य होते थे (1) उपराजा, (2) सब्बात्थक, (3) वोहारिक, (4) सेनानायक व (5) माण्डलिक।

इस काल में दण्ड विधान बड़ा कठोर था। कोड़े लगाना, जीभ काटना, अंग विच्छेद, लोहे से दागना आदि प्रमुख दण्ड थे। प्रान्तों का प्रबंध माण्डलिक या प्रान्तपति करता था। गाँव में शासन का संचालन ग्रामक तथा सभा मिलकर करते थे। बिम्बिसार ने कई सड़कों तथा नहरों का निर्माण करवाया था। विख्यात वास्तुकार महागोविन्द तथा विख्यात चिकित्सक जीवक उसी के समय हुए। उसने मगध को शक्तिशाली व संगठित राज्य बना दिया।

मौर्यकालीन शासन व्यवस्था-चन्द्रमुप्त मौर्य प्रथम राष्ट्रीय शासक था। नीलकंठ शास्त्री के शब्दों में, "वह चक्रवर्ती के आदर्श को प्रथम बार धार्मिक गाथा के आकाश से पृथ्वी पर ले आया।"[8]

चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था-चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल साम्राज्य स्थापित किया तथा अपने प्रधान मंत्री कौटिल्य की सहायता से सुशासन स्थापित किया। डॉ. वी. ए. स्मिथ के शब्दों में, "मौर्य साम्राज्य अकबर के अधीन मुगल साम्राज्य से कहीं बहुत अधिक अच्छी तरह संगठित था।"[9] उसके शासन के संबंध में जानकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इण्डिका तथा अशोक के अभिलेखों से मिलती है।

केन्द्रीय शासन

राजा-राजा राज्य का सर्वोच्च था। शासन की सभी शक्तियाँ उसमें निहित थीं। उसकी इच्छा ही कानून थी। वह सभी महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं पदच्युति करता था। वह राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था एवं राज्य की आय-व्यय का हिसाब रखता था। उसे शासन संचालन में परामर्श देने हेतु मत्रि परिषद् थी, किन्तु वह

उसका परामर्श मानने को बाध्य न था। मैगस्थनीज ने लिखा है, "चन्द्रगुप्त बड़े ठाट-बाट से पाटलिपुत्र के महल में रहता था। जो बहुत सुन्दर और सजा हुआ था और उसके स्तंभों पर सोने चांदी का काम किया हुआ था, "चन्द्र गुप्त निरंकुश शासक होते हुए भी जनकल्याण करना अपना कर्तव्य मानता था। वह कौटिल्य के इस सिद्धांत का समर्थक था, "प्रजा की भलाई में ही राजा की भलाई है। प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है।" मेगस्थनीज ने लिखा है, "राजा दिन को नहीं सोता और सारा दिन दरबार में प्रजा के कार्य करने में लगा रहता है। यहाँ तक कि शरीर पर मालिश करवाते समय भी कार्य में जुटा रहता है।" चन्द्रगुप्त ने अनेक सड़कें व नहरें बनवाई तथा छायादार वृक्ष लगवाये। इस समय सौराष्ट्र प्रांत में सुदर्शन झील का निर्माण हुआ।

मंत्रि परिषद–कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, "जिस प्रकार गाड़ी का एक पहिया गाड़ी को नहीं चला सकता, उसी प्रकार राजा अकेला शासन नहीं कर सकता।" मंत्रि परिषद का प्रमुख कार्य राजा को प्रशासनिक तथा युद्ध व शांति के मामलों में परामर्श देना है। संभक्तिः मंत्रिपरिषद में सदस्यों की संख्या काफी अधिक थी। डॉ. विमल चन्द्र पाण्डेय के अनुसार, "मंत्रिपरिषद का अधिवेशन दैनिक राजकार्यों के लिये न होता था। वह आवश्यक कार्यों के संबंध में ही बुलायी जाती थी।" मंत्रिपरिषद के निर्णय बहुमत से होते थे। राजा इनके निर्णयों को मानने के लिये विवश नहीं था।

मंत्री–राजा राज्य के दैनिक कार्यों हेतु कुछ मंत्रियों की भी नियुक्ति करता था, जिन्हें प्रतिवर्ष 48,000 पण वेतन मिलता था। प्रमुख मंत्री इस प्रकार थे–

प्रधानमंत्री–इसका कार्य राजा को शासन के प्रत्येक मामले पर सलाह देना था। चन्द्रगुप्त का प्रधानमंत्री कौटिल्य ही नियुक्त था।

पुरोहित– यह धार्मिक कार्यों का मंत्री था। इस पर भी कौटिल्य ही नियुक्त था।

सेनापति–सेना का प्रधान।

कार्मान्तिक–विभिन्न खानों व कारखानों का मंत्री।

समाहर्ता–राजकीय करों को एकत्रित करने तथा आय-व्यय का हिसाब रखने वाला।

सन्निधाता–इसका कार्य शाही गोदामों, जेलों एवं शस्त्राल्यों की देख-भाल करना था।

दण्डपाल–पुलिस मंत्री।

अन्तपाल– सीमा मंत्री।

दुर्गपाल–गृह रक्षा मंत्री।

दोवारिक–राजमहल के कार्यों का मंत्री।

आन्तर्वशिक–अंग रक्षकों का प्रधान।

आटविक–जंगल विभाग का अध्यक्ष।

अन्य पदाधिकारी–इनके अतिरिक्त अमात्य, महामात्र तथा अध्यक्ष आदि निम्न श्रेणी के पदाधिकारी थे। इनका कार्य मंत्रियों को शासन संचालन में सहयोग देना था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 26 अध्यक्षों का उल्लेख है, जो शासन के आधार स्तंभ थे।

प्रान्तीय शासन

चन्द्रगुप्त ने शासन के सुसंचालन हेतु मगध को छोड़कर शेष साम्राज्य को तीन प्रान्तों में विभक्त किया–

(i) **उत्तर पश्चिमी प्रांत**–इसमें अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, पंजाब, सिन्ध आदि प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

(ii) **पश्चिमी प्रान्त**–इसमें मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी उज्जैन थी।

(iii) **दक्षिणी प्रान्त**–इसमें विन्ध्याचल पर्वत से मैसूर तक के प्रान्त सम्मिलित थे। इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।

प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी कुमार कहलाता था तथा प्रायः राजकुमारों को ही इस पदपर नियुक्त किया जाता था। अशोक शासक बनने से पूर्व तक्षशिला एवं उज्जैन का कुमार रह चुका था। कुमार का प्रमुख कार्य प्रान्त में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना, राजकीय कर एकत्र करना, सम्राट के आदेशों को लागू करना, प्रान्तीय लोगों को न्याय प्रदान करना एवं उनकी भलाई हेतु कार्य करना, अपने अधीन नगरों का निरीक्षण रखना आदि था। चन्द्रगुप्त द्वारा नियुक्त अधिकारी उसे प्रत्येक प्रान्त के शासन एवं अधिकारियों के सम्बन्ध में सम्राट् को रिपोर्ट भेजते थे।

नगरों का प्रबन्ध– नगर प्रबन्ध हेतु अध्यक्ष नामक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, जिनका प्रमुख कार्य नगर में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना, राजकीय कर एकत्र करना, शिक्षा, सिंचाई आदि की देखभाल करना था। पाटलिपुत्र, तक्षशिला, उज्जैन आदि बड़े-बड़े नगरों में 30 सदस्यों की परिषद थी, जो 5-5 सदस्यों की 6 समितियों में विभक्त थी। विभिन्न समितियों के कार्य इस प्रकार थे–

(i) पहली समिति का कार्य कलाकौशल की देख-रेख करना था। यह श्रमिकों, कारीगरों का वेतन निश्चित करती थी, उनकी रक्षा करती थी। शिल्पकार को अंधा करने या उसका हाथ काटने वाले को मृत्यु दण्ड दिया जाता था।

(ii) दूसरी समिति भारत में आने वाले विदेशियों की देखभाल करती थी।

(iii) तीसरी समिति जनगणना का हिसाब रखती थी।

(iv) चौथी समिति वाणिज्य व्यवसाय की देख-भाल करती थी। यह तोल के बट्टों

तथा नाप के साधनों की देखभाल करती थी तथा वस्तुओं के विक्रय पर नियंत्रण रखती थी।

(v) पांचवी समिति घरों एवं कारखानों में निर्मित वस्तुओं का निरीक्षण करती थी तथा मिलावट करने वालों को दंडित करती थी।

(vi) छठी समिति बिक्री हुई वस्तुओं पर दस प्रतिशत के हिसाब के बिक्री कर एकत्र करती थी।

ये समितियां नगर की शिक्षा, औषधालय, मंदिर, बंदरगाह आदि जनहित के कार्य भी करती थीं तथा आधुनिक नगरपालिकाओं के समान थीं।

ग्रामीण शासन प्रबन्ध–गांव शासन की सबसे छोटी इकाई थी। इसका मुखिया ग्रामणी या ग्रामिक गांव के लोगों द्वारा निर्वाचित होता था। वह पंचायत की सहायता से शासन सम्बन्धी व न्याय सम्बन्धी कार्य करता था। गांवों को पर्याप्त स्वतंत्रता थी तथा केन्द्र सरकार उसके मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करती थी। गांवों के शासन की देखभाल हेतु हर पांच से दस गांवों पर एक 'गोप' नियुक्त होता था। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, " ग्राम समुदाय एक गणतंत्र अथवा स्वाधिकारी सभा की तरह कार्य करता था। इस प्रकार, उस समय भारत का प्रशासन वस्तुतः प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों पर आधारित था।"[10]

अर्थ व्यवस्था

कौटिल्य के अनुसार सभी कार्य वित्त पर ही निर्भर है। इस काल में राजस्व कर वसूल करने तथा आय-व्यय का हिसाब करने हेतु समाहर्ता नामक अधिकारी नियुक्त किया गया। भूमि कर राज्य की आय का प्रमुख साधन था। भूमि दो भागों में विभक्त थी–

(i) राजकीय नियन्त्रण से राज्य को आय प्राप्त होने वाली भूमि, 'सीता' कहलाती थी। (ii) किसानों के स्वामित्व वाली भूमि से राज्य को आय-प्राप्त होने वाली भूमि 'भाग' कहलाती थी। भूमिकर उपज का 1/6 या 1/4 भाग था। कृषकों की भलाई हेतु अनेक नहरों का निर्माण करवाया जाता था। अकाल के समय उन्हें ऋण दिया जाता था। इसके अतिरिक्त् सिंचाई कर, वनों की उपज से प्राप्त कर, फलों व तरकारियों पर कर, आयात-निर्यात की वस्तुओं पर कर, शराब पर कर, नमक पर कर, बिक्री कर, अपराधियों पर जुर्माने तथा राजकीय व्यापार व खानों से प्राप्त धन राज्य की आय के मुख्य साधन थे।

न्याय व्यवस्था

राजा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था। वह बड़े-बड़े मुकदमों को सुनता था। चन्द्रगुप्त ने सारे साम्राज्य में न्यायालयों का जाल बिछा रखा था। गांवों में न्याय का

कार्य ग्राम पंचायत करती थी तथा इसके ऊपर जनपद संधि, संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय आदि बड़े न्यायालय थे। प्रत्येक न्यायालय में तीन अमात्य तथा तीन धर्मस्थ होते थे।

राजा का निर्णय अन्तिम माना जाता था। मौर्यकालीन न्यायालय दो भागों में विभक्त थे–

(1) धर्म स्थानीय–जिनमें नागरिकों के दीवानी मामलों की सुनवाई होती थी।

(2) कण्टक शोधन–इसमें फौजदारी व राजद्रोह के मामले आते थे। इसमें राज्य तथा व्यक्ति के बीच अभियोगों की सुनवाई होती थी।

दण्ड व्यवस्था–दण्ड व्यवस्था बड़ी कठोर थी तथा दण्ड मनु द्वारा निर्मित कानूनों व रीति रिवाजों के अनुसार दिया जाता था। छोटे-छोटे अपराधों हेतु जुर्माना होता था, किन्तु कर न चुकाने, झूठी गवाही देने, शिल्पकार का वध करने, चोरी करने या डाका डालने आदि अपराधों पर अंग भंग या मृत्यु दण्ड दिया जाता था। अपराधियों के बाल काट देना, उन्हें बन्दीगृह में डाल देना आदि दण्ड भी प्रचलित थे। साम्राज्य में शान्ति व व्यवस्था थी।

गुप्तचर व्यवस्था–कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल बिछा रखा था। यूनानी लेखक एरियन ने उन्हें 'ओवरसियर' तथा स्ट्रेबो ने 'इन्स्पेक्टर' ने कहा है। चन्द्रगुप्त के कुछ पुरुष व कुछ स्त्रियां गुप्तचर थीं। गुप्तचर दो भागों में विभक्त थे–

(i) संस्था–जो एक स्थान पर कार्य करते थे।

(ii) संचारा–जो निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान घूमते रहते थे। चन्द्रगुप्त की गुप्तचर व्यवस्था बड़ी कुशल थी।

सैनिक व्यवस्था–चन्द्रगुप्त के पास एक विशाल सेना थी, जिसमें 6 लाख पैदल, 30 हजार घुड़सवार, 24 हजार रथी, 8 हजार रथ, 9 हजार हाथी एवं 3 हजार 600 गजारोही सम्मिलित थे। सैनिकों को राज्य की ओर से वेतन मिलता था। मेगस्थनीज के अनुसार सेना की व्यवस्था हेतु 5-5 सदस्यों के 6 विभाग थे, जिनमें पहला विभाग पैदल सेना की, दूसरा विभाग घुड़सवार सेना की, तीसरा विभाग रथ सेना की, चौथा विभाग हाथियों की, पांचवा विभाग सैन्य सामग्री व रसद की तथा छठा विभाग नौ सेना की व्यवस्था करता था। कौटिल्य के अनुसार युद्ध में घायल सैनिकों की चिकित्सा हेतु वैद्य भी भेजे जाते थे। डॉ. आर. के. मुकर्जी के अनुसार, "उस काल में आधुनिक रेडक्रास सोसायटी का सा काम होना निश्चित ही एक सराहनीय बात है।"[11]

प्रजाहितकारी शासक–चन्द्रगुप्त जनकल्याणकारी सम्राट था। उसने कई सड़कें बनवाई तथा उसके दोनों तरफ छायादार वृक्ष लगवाये गये। प्रत्येक दस स्टेडिया (2022 1/2 गज) पर यात्रियों की सुविधा हेतु आज के मील पत्थरों की भांति स्तंभ गाड़ दिये

गये। चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित 10, 000 स्टेडिया लम्बी पाटलिपुत्र से तक्षशिला की सड़क उसकी प्रमुख सड़कों में थी। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त ने अनेक सरायों, कुओं, नहरों आदि का निर्माण करवाया। उसकी आज्ञा से पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया। डॉ. वी.ए. स्मिथ के अनुसार, "इस पर बहुत सा धन व्यय किया गया तथा इसकी पूर्ति घोर परिश्रम के फलस्वरूप हुई। इससे सिद्ध होता है कि मौर्य सम्राट् कृषकों के खेतों के लिये सिंचाई प्रबन्ध करना अपना कर्तव्य समझते हैं।"[12] उसने औषधालय खुलवाये तथा शिक्षण संस्थाओं को अनुदान दिया। उसने कई अनाज गोदाम स्थापित कर अकाल के समय लोगों को अन्न दिया। उसने लोक कल्याण विभाग की भी स्थापना की।

अशोक का शासन प्रबन्ध

अशोक चन्द्रगुप्त का पौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र था।

साम्राज्य विस्तार–अशोक का साम्राज्य उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक तथा पश्चिम में अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान से पूर्व में बंगाल तक विस्तृत था। शिलालेख 14 में अशोक ने कहा था, "मेरा साम्राज्य बहुत विस्तृत है।"

जन सेवा का आदर्श–अशोक ने चन्द्रगुप्त के प्रशासन में कुछ सुधार कर उसे उत्तम बना दिया। अशोक ने जन सेवा के आदर्श को अपनाया। कलिंग लेख II में लिखा हुआ है, "सभी मनुष्य मेरी संतान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी संतान की इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख तथा समृद्धि की कामना करता हूँ, उसी प्रकार मैं अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण जनता के जीवन की मंगल कामना करता हूँ।" वह दिन भर जनहित के कार्यों में व्यस्त रहता था। डॉ. आर.के. मुकर्जी के अनुसार, "वह एक आदर्श जनसेवक था, जो अपने कर्मचारियों से अधिक परिश्रमी था।" शिलालेख में वह कहता है, "...मुझे समस्त प्रजा की भलाई के लिये काम करना चाहिये, क्योंकि इससे अधिक आवश्यक ओर कोई कार्य नहीं है।"[13]

अशोक एक निरंकुश शासक होते हुए भी जनकल्याणकारी था। वह प्रजा की सेवा को ही अपना आदर्श मानता था तथा अपने पर प्रजा का ऋण मानता था। शिलालेख VI में उसने कहा है, "और जो भी प्रयत्न मैं कर रहा हूँ, वे सब इसलिये कर रहा हूँ कि मैं प्रजाजनों के ऋण से मुक्त हो सकूँ।" डॉ. मुकर्जी के अनुसार, "अपनी पदवी तथा उत्तरदायित्व से सम्बन्धित ऐसे विचार रखने वाला राजा लोकतंत्रीय शासन की आधुनिक व्यवस्थापिका अथवा लोक सभा से बढ़कर व्यावहारिक रूप में लोगों का प्रतिनिधि है।"[14]

केन्द्रीय शासन–अशोक राज्य का सर्वोच्च शासक था तथा शासन की समस्त शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रित थीं, किन्तु वह एक जनकल्याणकारी शासक था।

मंत्रि परिषद–राजा को शासन संचालन में सहायता देने हेतु मंत्रिपरिषद थी। छठे शिलालेख के अनुसार मंत्रियों को सम्राट से महत्वपूर्ण विषयों पर वाद विवाद करने तथा अपना मत प्रस्तुत करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। उच्च नैतिक तथा दृढ़ चरित्र वाले व्यक्ति ही मंत्री पद पर नियुक्त किये जाते थे।

प्रान्तीय शासन–अशोक का साम्राज्य चार प्रान्तों में विभक्त था। उत्तर पश्चिमी प्रान्त, अवन्ति, कलिंग व दक्षिणापथ। इनकी राजधानियाँ क्रमशः तक्षशिला, उज्जयिनी, तोशाली व सुवर्णगिरी थीं। प्रान्तों का प्रमुख कुमार होता था, जो प्रायः राजकुमार ही होते थे। कुमार को शासन संचालन में सहायता देने हेतु तथा उसकी गतिविधियों के संबंध में सम्राट को सूचना देने हेतु प्रांतों में एक मंत्रि-परिषद् थी। अशोक के 13वें शिलालेख के अनुसार इनके अतिरिक्त यवन, कम्बोज, भोज परिन्द, नाभपंति, आन्ध्र आदि प्रदेश भी परोक्ष रूप से अशोक के अधीन थे तथा उसने वहां का शासन भार स्थानीय शासकों को सौंप रखा था।

प्रमुख पदाधिकारी–अशोक के प्रमुख पदाधिकारी इस प्रकार थे–

(1) **अग्रमात्य**–यह प्रधानमंत्री होता था।

(2) **प्रादेशिक**–डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी तथा डॉ. आर.एस. त्रिपाठी राजुक के अधीन महामात्र की पदवी के कर्मचारी मानते हैं, जबकि रोमिला थापर ने इन्हें छोटे-छोटे प्रांतों का मुखिया माना है, इनका कार्य अपने प्रांत में शांति बनाये रखना, न्याय प्रदान करना तथा अपने अधीन राजुकों पर नियंत्रण रखना था।

(3) **राजुक**–डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी तथा डॉ. आर.एस. त्रिपाठी राजुक को छोटे-छोटे प्रांतों का मुखिया मानते हैं, जबकि डॉ. रोमिला थापर ने इन्हें प्रादेशिकों के अधीन कार्य करने वाला माना है, स्तम्भ लेख चार के अनुसार ये बड़े महत्त्वपूर्ण अधिकारी थे। डॉ. रोमिला थापर के अनुसार, "स्पष्ट है कि वे ग्रामीण प्रबन्ध का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग थे।"[15] इनका कार्य शान्ति व न्याय से संबंधित था। डॉ. भण्डारकर ने इन्हें न्याय व भूमि प्रबंध से सम्बद्ध अधिकारी माना है।

(4) **युक्त**–डॉ. डी.आर. भण्डारकर ने युक्त को कोषाध्यक्ष माना है, जबकि रोमिला थापर इन्हें गणना विभाग के कर्मचारी मानते हैं।

(5) **महामात्र**–अशोक ने अपनी प्रजा का नैतिक व भौतिक स्तर ऊंचा उठाने हेतु धर्म महामात्रों की नियुक्ति की। स्त्रियों में काम करने वाली स्त्री अध्यक्ष महामात्र व सीमा प्रदेश के अध्यक्ष अन्त महामात्र कहलाते थे। प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष महामात्र कहलाते थे।

पदाधिकारियों के आदेश–अशोक ने अपने पदाधिकारियों को प्रजा की सेवा करने का तथा उसे सुखी बनाने का आदेश दिया। स्तम्भ लेख 4 में उसने कहा है, "जिस

प्रकार एक मनुष्य अपनी संतान को चतुर परिचारिका को सौंपकर चिन्तामुक्त हो जाता है, इसी प्रकार मेरे गर्वनर भी देश की भलाई तथा सुख के लिये नियुक्त किये गये हैं।"

धर्म विभाग की स्थापना–अशोक ने पहली बार धर्म विभाग तथा धर्म महापात्रों की व्यवस्था की। धर्म महापात्रों का प्रमुख कार्य प्रजा में अशोक के धम्म का प्रचार करना तथा विद्वान व निर्धन पुरुषों को राज्य की तरफ से सहायता दिलवाना था। पांचवां शिलालेख इसकी पुष्टि करता है।

दौरे–अशोक प्रजा के सुख-दुःख जानने हेतु हर पांचवें वर्ष अपने साम्राज्य का दौरा करता था। तीसरे शिलालेख के अनुसार अशोक ने हर पांचवें वर्ष कुमारों, प्रादेशिकों, राजुकों एवं युक्तों को भी साम्राज्य का दौरा करने का आदेश दे रखा था।

दण्ड विधान में सुधार–अशोक ने दण्ड विधान की कठोरता में कमी की। पांचवें स्तंभ लेख के अनुसार वह अपने राज्याभिषेक दिवस पर बंदियों को मुक्त कर देता था। चौथे स्तंभ लेख के अनुसार वह अपराधियों को मृत्यु दण्ड से पहले धर्माराधना हेतु तीन दिन का समय देता था।

अहिंसा पर बल–कलिंग के युद्ध के पश्चात् अशोक अहिंसा का अनुयायी बन गया था। शिलालेख एक से पता चलता है कि उसने साम्राज्य में पशुओं की बलि पर प्रतिबंध लगा दिया था।

जनकल्याणकारी शासक–अशोक एक जनकल्याणकारी शासक था। उसने सड़कों कुओं, सरायों तथा आम के उद्यान बनवाये तथा छायादार वृक्ष लगवाये। उसने पशुओं व मनुष्यों हेतु चिकित्सालयों की स्थापना की। शिलालेख II के अनुसार उसने अन्य देशों में भी पशुओं की भलाई हेतु कार्य किये। उसने एक 'धम्म' की स्थापना कर लोगों के जीवन को सुधारने का प्रयास किया।

सातवाहनकालीन शासन प्रबन्ध

सातवाहन शासकों का पद पैतृक था, किन्तु वे प्रजाहितकारी थे। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने जनता की भलाई के लिये कई कार्य किये। उच्च पदों पर राजवंश के व्यक्ति ही नियुक्त होते थे। साम्राज्य कई भागों में विभक्त था। नगरों का शासन नगरपालिकाओं तथा गांवों का शासन ग्राम सभाओं द्वारा चलाया जाता था।

कनिष्क का शासन प्रबन्ध

सारनाथ अभिलेख के अनुसार कनिष्क का साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था तथा प्रान्तों के शासक क्षत्रप कहलाते थे। मथुरा में खरपल्लान महाक्षत्रप तथा बनारस में वनस्पर क्षत्रप था। उत्तरी भागों में लल, वेशपशि, लियक आदि क्षत्रप थे। ये क्षत्रप अपनी शक्तियों का प्रयोग सैनिक अधिकारियों की मदद से करते थे। कनिष्क का शासन प्रबंध बड़ा सुसंगठित था।

गुप्तकालीन राजनीतिक दशा

सुदृढ़ राष्ट्रीय साम्राज्य स्थापित करना–गुप्त सम्राटों ने देशी-विदेशी शासकों को परास्त कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उन्होंने अपने राष्ट्रीय राज्य में सुदृढ़ शासन प्रबंध स्थापित किया।

शासन प्रबंध

गुप्त सम्राटों ने जनकल्याणकारी शासन स्थापित किया। चीनी यात्री फाह्यान ने गुप्त शासन प्रबंध की बड़ी प्रशंसा की है। गुप्त शासकों ने मौर्य शासन पद्धति को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अपनाया। गुप्त शासन पद्धति की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार थीं–

केन्द्रीय शासन

राजा–राजा राज्य का सर्वोच्च था तथा उसका पद सर्वेसर्वा था। इलाहाबाद स्तम्भ लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था। राजा दैवी सिद्धांत में विश्वास रखते थे तथा महाराजधिराज, परमेश्वर, पृथ्वीपाल, चक्रवर्ती, एकाधिराज आदि उपाधियां धारण करते थे। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति व विमुक्ति का अधिकार उन्हीं के हाथ में था। वे ही कानून निर्माता तथा राज्य के अन्तिम न्यायाधीश थे। वे अपने नाम पर सिक्के चलाते थे तथा सेना के प्रधान अधिकारी होते थे। इसके बावजूद उनकी निरंकुशता पर निम्न प्रतिबंध थे–

(i) वे कुछ अधिकारों का प्रयोग मंत्रियों व अन्य पदाधिकारियों के सहयोग से करते थे।

(ii) उन्हें सामाजिक रीति रिवाजों को ध्यान में रखना पड़ता था।

(iii) उन्होंने शक्तियों का विकेन्द्रीकरण कर कुछ शक्तियां प्रान्तीय व स्थानीय सरकारों को सौंप दी थीं।

वस्तुतः गुप्त शासक स्वेच्छाचारी होते हुए भी जनकल्याण करना अपना कर्तव्य समझते थे। अतः उन्हें 'कल्याणकारी निरंकुश' शासक कहा जाना उपयुक्त रहेगा।

मंत्रि परिषद व मंत्री–सम्राट को शासन संचालन में सहयोग देने हेतु सन्धि विग्रहिक (युद्ध व संधि का मंत्री तथा विदेश मंत्री), महाबलाधिकृत (सेना मंत्री), महादण्डनायक (न्याय मंत्री), महाअक्षपटलिक (राजकीय कागजों का मंत्री), आयुक्त (राजकोष का मंत्री) आदि थे। ये युद्ध तथा शान्ति के मामलों में सम्राट को सलाह देते थे तथा इनके अधीन एक से अधिक विभाग भी हो सकते थे। जैसे समुद्रगुप्त का मंत्री हरिसेन विदेश मंत्री, राजमहल मंत्री, पुलिस मंत्री, न्याय मंत्री व सेना मंत्री आदि का कार्य करता था। मंत्रियों का पद पैतृक होता था तथा मंत्रियों की सभा मंत्रिपरिषद कहलाती

थी। इसमें बहुमत से निर्णय होते थे, किन्तु इन्हें मानने के लिये राजा बाध्य नहीं था। यह राजा की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी को राजसिंहासन पर बैठाती थी।

कुमार मात्य–यह उच्च श्रेणी के अधिकारी होते थे, जिनका कार्य गुप्त सम्राटों को शासन संचालन में सहयोग देना था। इस पद पर उच्च घराने के लोग ही नियुक्त होते थे।

प्रान्तीय शासन

गुप्त साम्राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त था, जो 'देश' अथवा 'भुक्ति' अथवा 'भोग' कहलाते थे। प्रान्तों के शासक को उपरिक महाराज कहते थे। सामान्यतः इस पद पर राजकुमारों को ही नियुक्त किया जाता था, किन्तु कुमारगुप्त प्रथम ने योग्य सैन्य अधिकारियों को भी इन पदों पर नियुक्त करना आरम्भ कर दिया था।

उपरिक महाराज का प्रमुख कर्य साम्राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना, सम्राट के आदेशों का पालन करना, किसानों के कल्याण हेतु कार्य करना, जनता को न्याय प्रदान करना तथा अपने प्रांत का निरीक्षण करना आदि थे। उसकी सहायता हेतु अनेक पदाधिकारी व मंत्री होते थे।

प्रादेशिक प्रबंध–प्रत्येक प्रांत में जिले थे, जो विषय या प्रदेश कहलाते थे तथा उनका मुखिया विषयपति कहलाता था। वह उपरिक महाराज द्वारा नियुक्त होता था। कभी-कभी सम्राट सीधे भी विषयपति की नियुक्ति करता था। विषयपति की सहायता हेतु नगर श्रेष्ठी (नगर प्रधान) सार्थवाह (नगर का मुख्य व्यवसायी), प्रथम कुलिक (शिल्प संघ का प्रधान), प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक) तथा पुस्तपाल (संग्रहाधिकारी) आदि अधिकारी थे।

ग्रामीण शासन–गांव शासन की सबसे छोटी इकाई थी। इसका मुखिया ग्रामयिक या ग्रामाध्यक्ष होता था, जो पंचायत की सलाह से शासन संचालन करता था। पंचायत का प्रमुख कार्य मुकदमों पर निर्णय देना, भूमिकर एकत्र करना, चोर-डाकुओं से गांव की रक्षा करना तथा गांववासियों का कल्याण करना आदि थे।

आर्थिक व्यवस्था–भूमि-कर राज्य की आय का प्रमुख साधन था, जो उपज का 1/6 भाग था तथा कम उपजाऊ भूमि पर 1/8 से 1/12 भाग तक था। कुछ भूमि पर राज्य का तथा कुछ भूमि पर किसानों का अधिकार था। गुप्त सम्राटों ने समस्त भूमि की पैमाइश करवाकर उसका वर्गीकरण करवाया था।

सरकारी कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन मिलता था, अतः वे ईमानदारी से कार्य करते थे। भूमि कर नकद या अनाज किसी भी रूप में चुकाया जा सकता था गुप्त सम्राटों ने कृषकों की भलाई हेतु कई कदम उठाये, उन्होंने कृषि हेतु कई झीलें व नहरें बनवायीं। इस समय कृषि उन्नत अवस्था में थी। इस के अतिरिक्त सीमा शुल्क, चुंगीकर, नमक

कर, जुर्माने, उपहार, पराजित शासकों से प्राप्त धन, वनों से प्राप्त धन आदि से भी राज्य को आय होती थी। गुप्त सम्राट राज्य की आय का अधिकांश भाग जनकल्याण के कार्यों में व्यय करते थे। सेना पर आय का आधा भाग खर्च किया जाता था।

न्याय प्रबंध–गुप्तकालीन नारद स्मृति के अनुसार न्यायालय चार प्रकार के थे (1) कुल (2) श्रेणी, (3) गण व (4) राजकीय न्यायालय। प्रथम तीन न्यायालय जनता हेतु व चौथा न्यायालय सरकारी था। राजा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था। न्याय व्यवस्था निष्पक्ष व उत्तम थी। राजा के अलावा तीन प्रकार के न्यायालय थे (1) केन्द्रीय न्यायालय, (2) नगर न्यायालय व (3) ग्राम न्यायालय। न्याय मनुस्मृति व रीति रिवाजों के अनुसार होता था। फाह्यान गुप्त दण्ड विधान को उदार बताता है व कहता है कि मृत्यु दण्ड का प्रचलन नहीं था, जबकि कुछ इतिहासकार गुप्तकालीन स्रोतों के आधार पर दण्ड विधान को कठोर बताते हुए कहते हैं कि अंग भंग, मृत्यु दण्ड, व्यक्ति को हाथी के पांव के नीचे कुचलवाना आदि दण्ड साधरण बात थी। विशाखदत्त का 'मुद्रा राक्षस' भी इसकी पुष्टि करता है। अपराधी की जल, अग्नि एवं विष द्वारा भी परीक्षा ली जाती थी तथा यह अर्डियल प्रथा कहलाती थी। सड़कें व मार्ग सुरक्षित थे तथा अपराध बहुत कम होते थे।

सैन्य प्रबंध–सैन्य प्रबंध के क्षेत्र में गुप्त सम्राटों ने मौर्यों का अनुसरण करते हुए छः विभाग स्थापित किये। पहला भाग सैनिका का, दूसरा भाग घुड़सवार सेना का, तीसरा भाग हाथियों का, चौथा भाग रथों का, पांचवां नौसेना का तथा छठा भाग यातायात के साधनों का प्रबन्ध करता था। सेनापति, महासेनापति, बलाधिकृत, महाबलाधिकृत, सन्धि विग्रहीक आदि प्रमुख सैन्य अधिकारी थे। हरिसेन के इलाहाबाद के स्तम्भ लेख के अनुसार तीर कमान, कुल्हाड़ी, नेजे, भालें, तलवार, ढालें आदि प्रमुख अस्त्र शस्त्र थे।

पुलिस प्रबन्ध–पुलिस विभाग (आरक्षी विभाग) का कार्य देश में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना था। इस विभाग का प्रमुख अधिकारी 'दण्ड पाशाधिकारी' होता था तथा उसकी सहायता हेतु 'चोरोद्धरणिक' होता था। अपराध का पता लगाने हेतु गुप्तचर होते थे। फाह्यान के अनुसार उसे भारत की अपनी हजारों मील की यात्रा में कोई डाकू नहीं मिला था। इससे पता चलता है कि यहां शान्ति विद्यमान थी।

लोकोपकारी विभाग–गुप्त सम्राट प्रजाहितकारी सम्राट थे। उन्होंने सड़कों तथा औषधालयों का निर्माण करवाया तथा कृषकों की सुविधा हेतु झीलें व नहरें बनवायीं। फाह्यान ने लिखा है, "समस्त उत्तरी भारत में स्थान-स्थान पर औषधालय तथा चिकित्सालय निर्मित थे। वहां रोगियों की मुफ्त चिकित्सा होती थी तथा पथ्य आदि बिना मूल्य के बनते थे।" गुप्त शासकों ने अध्यापकों को अनुदान दिया तथा धर्मशालाएं भी बनवायीं।

इस प्रकार गुप्त शासन प्रबन्ध बड़ा सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित था। चीनी यात्री फाह्यान ने इसकी काफी प्रशंसा की है। डॉ. वी.ए. स्मिथ ने तो गुप्त शासन प्रबंध को भारतीय इतिहास में सर्वश्रेष्ठ बतलाया है।

हर्षकालीन राजनीतिक स्थिति

हर्ष भी एक जनकल्याणकारी शासक था। वह साम्राज्य के विभिन्न भागों का दौरा कर जनता को सुखी बनाने का प्रयत्न करता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उसके शासन की प्रशंसा में लिखा है, "हर्ष के लिये दिन बहुत छोटा था। उसने इसे तीन भागों में बांटा हुआ था। इनमें से एक भाग तो वह शासन प्रबन्ध में व्यय करता था तथा शेष दो भाग धार्मिक कार्यों में। वह काम करते हुए थकता नहीं था तथा अच्छे काम करते समय सोना व खाना-पीना भी भूल जाता था।" इस समय जनता को अपना नाम सरकारी रजिस्टरों में दर्ज नहीं करवाना पड़ता था। जनता पर कर बहुत कम थे एवं बेगार नहीं ली जाती थी।

राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि कर था तथा राज्य का धन सार्वजनिक कार्य, मंत्रियों व कर्मचारियों को वेतन, दान, विद्वानों को अनुदान आदि पर व्यय किया जाता था। दण्ड विद्वान बड़ा कठोर था, किन्तु फिर भी मार्ग सुरक्षित न थे। हर्ष के पास एक विशाल सेना थी। ह्वेनसांग ने लिखा है, "अपने राज्य की सीमाएं बढ़ाकर उसने (हर्ष) अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की, गज सेना की संख्या बढ़कार 6000, अश्व सेना की 1,00, 000 व पैदल सैनिक की 50,000 कर दी।" वह हर पांचवें वर्ष प्रयाग में एक सभा आयोजित करता था, जहां वह जी खोलकर दान देता था। उसने कन्नौज में भी एक सभा का आयोजन किया था।

हर्ष का शासन प्रबन्ध

हर्ष का शासन प्रबन्ध बड़ा उत्तम था। यह गुप्तकालीन शासन प्रबन्ध से प्रभावित माना जाता है।

केन्द्रीय शासन

राजा–हर्ष की शासन व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। राजा ही शासन का सर्वोच्च अधिकारी था। हर्ष ने 'परम भट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'एकाधिराज', 'परम देवता', 'चक्रवर्ती' आदि उपाधिया ग्रहण की थीं। वही सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था। वह सेना का सर्वोच्च सेनापति तथा राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था। उसका निर्णय अन्तिम था। हर्ष एक परिश्रमी व प्रजाहितकारी शासक था। वह दिन रात जनकल्याण के कार्य में जुटा रहता था तथा साम्राज्य के विभिन्न भागों के दौरे करता रहता था। उसने कई विश्रामगृहों का निर्माण करवाया।

मंत्रि परिषद–राजा को शासन संचालन तथा विदेश नीति के संबंध में परामर्श देने हेतु एक मंत्रिपरिषद थी। मंत्री को सचिव अथवा अमात्य कहा जाता था। राजसिंहासन खाली होने पर मंत्रिपरिषद नये राजा का चुनाव करती थी, यदि मृत राजा का कोई उत्तराधिकारी न हो।

बाण के 'हर्षचरित' के अनुसार हर्ष का प्रधानमंत्री भण्डी, युद्ध व विदेशी कार्यों का मंत्री अवन्ति, सैन्य मंत्री सिंहनाक, गज सेना का प्रमुख स्कन्धगुप्त तथा अश्व सेना का मंत्री कुन्तल था। इसके अतिरिक्त हर्ष के दानपत्रों के अनुसार प्रभातार, कुमारामात्य, उपरिक, विषयपति आदि प्रमुख पदाधिकारी होते थे। दान पत्रों में 'दूतक' तथा 'दीवर' पदाधिकारी का भी उल्लेख है।

सैनिक प्रबन्ध–हर्ष की विशाल सेना थी, जिसकी संख्या 6 लाख थी। ह्वेनसांग के अनुसार हर्ष की सेना में एक लाख घुड़सवार, 50,000 पैदल सैनिक एवं 6,000 हाथी थे। इनके अलावा अस्थायी सैनिक भी होते थे। बाण ने ऊंट के दस्ते का वर्णन किया है। उत्कीर्ण लेखों में नौसेना का भी उल्लेख मिलता है। सेना में भर्ती हेतु स्थान-स्थान पर ढ़िढ़ोरे पीटे जाते थे। 'महासंघी विग्रहाधिकृत' सेना का प्रमुख अधिकारी था। उसके नीचे महाबलाधिकृत तथा उसके नीचे अनेक छोटे-छोटे अधिकारी होते थे।

न्याय प्रबन्ध–हर्ष का न्याय प्रबन्ध सुसंगठित था। ह्वेनसांग के अनुसार, "क्योंकि सरकारी शासन ईमानदारी से होता है और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा है, इसलिये अपराधी वर्ग बहुत छोटा है।" दण्ड विधान कठोर था। राजद्रोही को आजीवन कारावास दिया जाता था। अंग भंग, देश निष्कासन, मृत्यु दण्ड, जुर्माना आदि अन्य प्रमुख दण्ड थे। जल, अग्नि तथा विष द्वारा भी अपराधियों की परीक्षा ली जाती थी। इसके बाद भी मार्ग तथा सड़कें पूर्णतः सुरक्षित नहीं थीं। स्वयं ह्वेनसांग को दो बार डाकुओं ने लूट लिया था। न्याय मीमांसा शास्त्र के अनुसार होता था तथा त्यौहारों पर कैदियों को छोड़ दिया जाता था।

पुलिस विभाग–पुलिस प्रबन्ध भी उत्तम था। इस विभाग में दण्डपाशिक, दाण्डिक, चोरोद्धारक आदि प्रमुख अधिकारी थे। बाण के हर्षचरित्र के अनुसार 'यामचेटि' नामक स्त्री रात में पहरा देती थी। गुप्तचर भी होते थे।

राजस्व विभाग–उद्रंग (भूमिकर), उपरिकर (उन किसानों से लिया जाने वाला कर, जो भूमि के स्वामी न थे), धान्य (कुछ विशेष अनाजों पर लिया जाने वाला कर), हिरण्य (खनिज पदार्थों पर कर), शारीरिक श्रम (कर न दे पाने वाले लोगों को शारीरिक श्रम करना पड़ता था), न्यायालय शुल्क व अर्थ दण्ड राज्य की आय के प्रमुख साधन थे। भूमि कर उपज का 1/6 भाग होता था। करों का भार हल्का था। 'प्रमाता' नामक

अधिकारी भूमि का पर्यवेक्षण व माप करते थे। भूमि की सिंचाई हेतु सरकारी प्रबन्ध था। आय का अधिकांश भाग जनकल्याण पर व्यय होता था। ह्वेनसांग ने आय को चार भागों में बांटते हुए कहा है कि एक भाग आर्थिक व सरकारी कार्यों पर, दूसरा भाग सरकारी अधिकारियों के वेतन पर, तीसरा भाग विद्वानों के पुरस्कार पर तथा चौथा भाग ब्राह्मणों तथा भिक्षुओं के दान पर व्यय होता था।

सार्वजनिक कार्य विभाग–हर्ष एक जनकल्याणकारी शासक था। उसने अनेक धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाओं की नींव रखी। उसने अपने साम्राज्य में कई सड़कों तथा धर्मशालाओं का निर्माण करवाया। चूंकि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, अतः उसने कई चैत्य, विहार व स्तूपों का निर्माण करवाया। उसने कुछ मन्दिरों का भी निर्माण करवाया। शिक्षा के क्षेत्र में उसने नालन्दा विश्वविद्यालय को सौ गांवों की आय दान में दी थी। उसने कई विद्वानों को आश्रय दिया। वह महान दानी था। प्रयाग सभा के अवसर पर वह अपने साधारण वस्त्रों को छोड़कर सब कुछ दान दे देता था।

प्रान्तीय प्रबन्ध–हर्ष का साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था, जिन्हें 'भुक्ति' अथवा 'देश' कहा जाता था। प्रान्तों का शासक 'उपरिक' कहलाता था। वह सम्राट द्वारा नियुक्त होता था। उसका प्रमुख कार्य प्रान्त में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना तथा राजा के आदेशों को लागू करना था। प्रान्त अनेक विषयों (जिलों) में विभक्त था, जिनका प्रमुख 'विषयपति' कहलाता था। उनका कार्यालय 'अधिष्ठान' कहलाता था। उनकी नियुक्ति 'उपरिक' द्वारा की जाती थी। विषय कई तहसीलों में विभक्त था, जिन्हें 'पृथक' कहा जाता था।

ग्राम शासन– तहसील कई गांवों में विभक्त थी। गांव शासन की सबसे छोटी इकाई थी। गांव का शासन प्रबंध नम्बरदार एवं अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति चलाते थे, जिन्हें 'महत्तर' कहा जाता था। गांव का मुखिया 'ग्रामिक' कहलाता था। ग्राम शासन में सहायता देने हेतु आठ अन्य अधिकारी होते थे, जो इस प्रकार थे—अष्टकुलाधिकरण (आठ कुलों का निरीक्षक), ध्रुवाधिकरण (भूमिकर का अध्यक्ष), शोल्किक (चुंगी वसूल करने वाला), उत्खेटियत (कर वसूल करने वाला), दिविर (लेखक), तलवाटक (आय का हिसाब—किताब रखने वाला), पुस्तपाल (रिकार्ड रखने वाला), अक्षपटलिक (आधुनिक पटवारी की तरह)। इस प्रकार ग्राम प्रबंध सुसंगठित था।

इस प्रकार हर्ष का शासन प्रबंध सुव्यवस्थित था। कर भार अधिक नहीं था। लोगों को विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता थी। लोगों से वैगार नहीं ली जाती थी। कुलों की रजिस्ट्री नहीं की जाती थी। हर्ष का शासन जनकल्याण पर आधारित था। ह्वेनसांग ने उसके शासन प्रबन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

चोलों का शासन प्रबन्ध

चोलों द्वारा स्थापित शासन व्यवस्था बहुत सुसंगठित थी। उनके शासन की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार थीं–

राजा–राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। उसका पद पैतृक होता था। राजा अपने जीवनकाल में ही अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर देता था। कांजीवरम् तथा तंजौर में राजाओं द्वारा राज्याभिषेक उत्सव धूम-धाम से मनाया जाता था।

मंत्री व राज्याधिकारी–राजा को शासन संचालन में सहायता देने हेतु कुछ मंत्री होते थे, जिन्हें भूमि दी जाती थी। मंत्रियों के अतिरिक्त दो प्रकार के उच्च कोटि के व निम्न कोटि के पदाधिकारी थे। सैनिक व असैनिक अधिकारियों में कोई अन्तर न था।

स्थानीय शासन–चोल साम्राज्य छः प्रांतों में विभक्त था, जिन्हें 'मण्डलम्' कहा जाता था। प्रत्येक प्रान्त नाडुओं तथा जिलों में बंटा हुआ था। नाडु के बाद 'कोट्टम' आता था तथा प्रत्येक कोट्टम कई गांवों में बंटा हुआ था। राजा अपने किसी सम्बन्धी को ही प्रान्तीय शासक के पद पर नियुक्त करता था। प्रान्तीय शासक का कार्य प्रान्त में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना तथा राजा के आदेशों को कार्य रूप देना था। उसकी सहायता हेतु कई पदाधिकारी थे। शासन प्रबंध का संचालन करने के लिये जनता द्वारा निर्वाचित अनेक सार्वजनिक समितियां भी होती थीं। इन समितियों की बैठकें मन्दिरों में होती थीं तथा इन्हें काफी अधिकार प्राप्त थे।

राजस्व व्यवस्था–आय का मुख्य साधन भूमिकर था। यह नकद अथवा अनाज दोनों रूपों में चुकाया जा सकता था। भूमिकर का निर्धारण उपज के अनुसार होता था। कृषकों की सुविधा हेतु सिंचाई के लिये कई तालाब व झीलें बनायी गयीं। जुर्मानों तथा व्यवसाय कर से भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी।

न्याय व्यवस्था–चोल शासकों का न्याय प्रबन्ध भी बड़ा सुव्यवस्थित था। राजद्रोही को मृत्यु दण्ड दिया जाता था तथा उसकी समस्त सम्पत्ति को राज्य द्वारा जब्त कर लिया जाता था। साधारण अपराधों पर सामान्यतः जुर्माना होता था। कभी-कभी कैद भी होती थी।

सैन्य व्यवस्था–चोलों के पास एक विशाल सेना थी, जो चार भागों में विभक्त थी, पद्धति, अश्वारोही, गजारोही तथा नौ सेना। सैनिकों को प्रशिक्षण दिया जाता था तथा उनमें अनुशासन के पालन पर विशेष बल दिया जाताथा। चोलों ने अपनी शक्तिशाली नौ सेना की मदद से जावा, सुमात्रा, मलाया, लंका, निकोबार आदि राज्यों पर विजय प्राप्त की।

राजपूतकालीन राजनैतिक दशा

राजा एवं मन्त्री परिषद्– राजपूत राज्यों में राजतंत्रात्मक शासन था। राजा को देवता के सदृश समझा जाता था। वह राज्य का सर्वेसर्वा होता था। उसकी इच्छा ही कानून थी। वह मंत्रियों तथा अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति व पदच्युति करता था। वह सेना का प्रधान होता था तथा अन्तिम न्यायाधीश था। वह राज्य में शांति व व्यवस्था बनाये रखता था। राजा के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही शासक बनता था।

राजा को शासन में परामर्श देने के लिये मंत्री होते थे। मंत्री परामर्श देने के लिये स्वतंत्र थे, किन्तु राजा उनके परामर्श को मानने के लिये बाध्य नहीं था। मंत्रियों का पद भी पैतृक होता था। इनके अतिरिक्त 'पटरानी, ज्येष्ठ राजकुमार, हकीम, ज्योतिषी, पुरोहित, सेनापति आदि शासन के प्रमुख आधार स्तम्भ थे। न्याय के क्षेत्र में राजा स्मृतियों के नियमों के अनुसार न्याय करता था। उसका निर्णय अन्तिम माना जाता था।

सामन्त प्रथा–राजपूतों का समस्त राजनीतिक ढ़ांचा सामन्त प्रथा पर आधारित था। सामन्त प्रान्तों के शासक होते थे। सामंत स्वामिभक्त होते थे तथा रणक्षेत्र में अपने स्वामी के लिये युद्ध करते थे। आगे चलकर राजपूत शासकों ने स्थायी सेना रखना छोड़ दिया, किन्तु यह प्रथा उनके लिये घातक हुई। प्रथम इसलिये कि सामन्त निश्चित संख्या में अच्छे सैनिक तैयार नहीं करते थे। द्वितीय, विभिन्न सामन्तों की सम्मिलित सेना में अनुशासन व एकता नाम की कोई चीज नहीं होती थी। तृतीय, कई बार सामंत रणक्षेत्र में अपने राजा के विरुद्ध ही विद्रोह कर देते थे। चतुर्थ, केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होते ही सामन्त स्वंतन्त्र होने के प्रयास करते थे। इस प्रकार यह सामन्त प्रणाली राजपूत शासकों के लिये घातक सिद्ध हुई।

आय के साधन–राज्य की आय का मुख्य साधन भूमिकर अथवा उपरिकर था, जो उपज का 1/4 से 1/6 भाग लिया जाता था। यह नकद व अनाज दोनों रूपों में दिया जा सकता था। व्यापारिक कर, जुर्माने आदि आय के अन्य साधन थे।

राजूपत शासकों का द्वेष–राजपूत शासकों में परस्पर निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। प्रत्येक राजा चक्रवर्ती सम्राट बनने के प्रयास में अन्य राजपूत राजाओं से संघर्ष करता था। इससे उनकी शक्ति को बड़ा आघात पहुंचा। चन्द्रबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो के अनुसार पृथ्वीराज के 100 में से 90 सामन्त जयचंद के साथ लड़ते हुए मारे गये। अतः राजपूतों को तुर्कों से परास्त होना पड़ा।

राजपूतों के आदर्श–राजपूतों के आदर्श बड़े ऊंचे थे। वे धर्म युद्ध में विश्वास रखते थे। वे छल-कपट का प्रयोग करना पाप समझते थे। इसके विपरीत तुर्कों ने युद्ध में विजय प्राप्ति हेतु छल कपट को अपनाने में कभी संकोच नहीं किया, अतः वे विजयी रहे।

सैन्य व्यवस्था–राजपूत मुख्यतः सैनिक सहायता के लिये सामन्तों पर निर्भर रहते थे। उनकी सेना में पैदल, घुड़सवार व हाथी सम्मिलित होते थे। राजपूत राजा हाथी पर बैठकर युद्ध लड़ते थे। हाथी युद्ध क्षेत्र में तेजी से घूम फिर नहीं सकता था अथवा अनेक बार अपनी ही सेना को कुचल देता था। इस प्रकार यह प्रणाली राजपूतों के लिये हानिकारक प्रमाणित हुई।

आर्थिक स्थिति

सैन्धवकालीन आर्थिक स्थिति

सैन्धव लोगों का आर्थिक जीवन बड़ा समृद्ध तथा उन्नत था।

कृषि–प्राप्त अवशेषों के अनुसार सिन्धु घाटी में कृषि उन्नत अवस्था में थी। यहां की भूमि उपजाऊ थी तथा यहां अच्छी वर्षा होती थी। सिन्धुवासियों का मुख्य व्यवसाय भी कृषि था। चावल, मटर, तिल, कपास आदि सिन्धु घाटी की मुख्य फसलें थीं। इसके अलावा ये लोग नारियल, केला, अनार, खजूर आदि की भी कृषि करते थे। खेती की पद्धति के संबंध में डॉ. राजबली पाण्डेय ने लिखा है, "अनुमानतः फलयुक्त हल के बदले पंजे से काम लिया जाता था, क्योंकि खेती प्रायः नदी के किनारे बाढ़ से लायी गयी मिट्टी में होती थी।"[16]

पशुपालन–पशुपालन भी उन्नत अवस्था में था। खुदाई में प्राप्त मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्रों से पता चलता है कि सिन्धुवासी गाय, बैल, भैंस, सूअर, कुत्ता, हाथी इत्यादि पशु पालते थे।

खुदाई में प्राप्त मुद्राओं से पता चलता है कि सिन्धुवासी बिल्ली, खरगोश, हिरन, मुर्गा, मोर, तोता, उल्लू, हंस आदि जानवरों से भी परिचित थे। इनमें से वे कुछ का मांस भी खाते थे। सिन्धुवासी घोड़े से परिचित नहीं थे।

शिल्प–सैन्धव सूत, ऊन, मिट्टी एवं धातु पत्थर की विभिन्न प्रकार की वस्तुएं बनाते थे। खुदाई में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त सूत कातने की तकलियों से पता चलता है कि सिन्धुवासी सूत कातना तथा कपड़ा बुनना भी जानते थे। खुदाई में प्राप्त विभिन्न रंगों से रंगे वस्त्र तथा मूर्तियां तत्कालीन समय में रंगरेजों के उन्नत व्यवसाय की ओर संकेत करती हैं। खुदाई में प्राप्त सुइयां वहां दर्जी के दुकानें विद्यमान होने की पुष्टि करती है।

खुदाई में प्राप्त जेवर, खिलौने, चाकू तथा तांबे एवं कांसे के बर्तनों से उन दिनों सुनार, कुम्हार, लोहार तथा बढ़ई के धन्धों के विकसित अवस्था में होने का पता चलता है। सिन्धुवासी चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाते थे तथा तत्पश्चात् उन्हें भट्टें में पकाकर उन पर विभिन्न रंगों में चित्रकारी करते थे।

सैन्धव सोने, चांदी, कांसा आदि धातुओं से परिचित थे। खुदाई में तांबे व कांसे के अनेक बर्तन मिले हैं। धातुओं के अलावा वे शंख, सीप, हाथीदांत आदि कामों में भी कुशल थे। हड़प्पा से शंख का बना एक बैल तथा मोहनजोदड़ो की खुदाई में हाथी दांत निर्मित सुन्दर छड़ तथा श्रृंगारदान मिले हैं। खुदाई में तांबे के औजार एवं पीतल के चाकू भी मिले हैं। चन्हुदड़ो में मालाओं के मनके बनाने का कारखाना मिला है।

व्यापार–मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे तथा वहां से देश विदेश को व्यापार होता था। सिन्धुवासी तांबा, सोना, चांदी आदि धातुएं अफगानिस्तान व ईरान से, तांबा राजस्थान से, कीमती पत्थर बदख्शा से तथा सीपी, कौड़ी, शंख, मोती, मूंगा, रत्न आदि काठियावाड़ से मंगवाते थे। यातायात के साधन विकसित थे। व्यापार संभवतः जल व थल दोनों मार्गों से होता था। खुदाई में प्राप्त मिट्टी तथा कांस्य निर्मित बैलगाड़ियों के नमूनों से बैलगाड़ियों, बैलों, गधों आदि को आवागमन के साधन के रूप में प्रयोग में लाये जाने का संकेत मिलता है। खुदाई में प्राप्त मोहरों पर अंकित जहाज के चित्र से जलीय व्यापार में जहाजों का प्रयोग किये जाने का पता चलता है। गार्डन चाइल्ड ने लिखा है, "स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि सिन्धु के नगरों में शिल्पी विक्रय के लिये वस्तु निर्माण करते थे। इन सामानों के विनिमय की सुविधा के लिये समाज में मूल्यमाप या मुद्राओं का प्रचलन स्वीकार किया गया था या नहीं, इसका ठीक पता नहीं चलता। अनेक विशाल भवनों तथा स्मारकों से लगे हुए सुरक्षित गोदामों से अनुमान होता है इन घरों के स्वामी व्यापारी थे। इन घरों की संख्या और आकार बताते हैं कि यहां सुस्थापित तथा समद्धिशाली व्यापारियों की बस्ती थी।"

सिन्धुवासियों का ईरान, अफगानिस्तान, मैसोपोटामिया, मिस्त्र, कीट आदि देशों के साथ व्यापार होता था। सुमेर व उर में मिली मोहरें तथा सैन्धव मोहरें काफी समान हैं। ईरान में सिन्धु घाटी के साथ व्यापार के अनेक अवशेष मिले हैं।

माप-तौल के साधन–खुदाई में छोटे-बड़े सभी तरह के बाट मिले हैं। ये बाट निश्चित अनुपात में बने हैं। इनका निर्माण चर्ट नामक सख्त पत्थर से राजकीय नियंत्रण में किया जाता था। हड़प्पा में कांसे की एक छड़ी मिली है, जिस पर निश्चित योजनानुसार चिन्ह बने हैं। संभवतः यह आजकल के फुट की तरह सैन्धवों का माप का पैमाना रहा होगा।

ऋग्वैदिक कालीन आर्थिक स्थिति

कृषि–कृषि आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। जौ, गेंहूँ, चावल आदि मुख्य फसलें थीं। कृषि वर्षा पर निर्भर थी तथा आर्य वर्षा हेतु देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते थे।[17] कुओं तथा नहरों द्वारा भी सिंचाई की जाती थी।[18] भूमि को हल बैल द्वारा

जोता जाता था। पैदावार बढ़ाने हेतु खाद का उपयोग किया जाता था। प्रत्येक गांव में दो तरह की भूमि थी—उर्वरा व खिल्य। उर्वरा भूमि उपजाऊ होती थी, जिस पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व होता था। खिल्य भूमि बंजर होती थी। इस पर पूरे गांव का अधिकार होता था तथा गांव वाले यहां अपने पशु चराते थे।

पशुपालन–आर्य गाय, बैल, भैंस, बकरी, घोड़ा आदि पशु पालते थे। पालतू पशुओं में गाय का सर्वाधिक महत्व था।[19] किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का अनुमान गाय से किया जाता था तथा विनिमय का माध्यम भी गाय ही थी। आगे चलकर आर्य गाय की पूजा करने लगे। आर्य कुत्तों को भी पालते थे, जो पालतू पशुओं की रखवाली करते थे तथा शिकार के समय उपयोगी सिद्ध होते थे।

शिल्प–आर्य कपड़ा बुनने में दक्ष थे। वे चमड़ा रंगने तथा आभूषण बनाने में भी निपुण थे।[20] बढ़ई हल, बैलगाड़ियों, तख्त, चारपाई व नौकाएं बनाते थे।[21] लोहार नेज़े ढालें, तलवार व भाले बनाते थे।[22] वैद्य अपनी जड़ी बूटियों से रोगियों का इलाज करते थे। डॉ. आर.एस. त्रिपाठी ने लिखा है, "इन लोगों के धन्धों के सम्बन्ध में विशेष बात यह थी कि किसी भी शिल्प् को हीन नहीं समझा जाता था।"[23]

व्यापार–व्यापारी वर्ग 'पणि' कहलाता था। व्यापार जल व स्थल दोनों मार्गों से होता था।[24] प्रारम्भ में व्यापार वस्तु विनिमय से होता था, किन्तु बाद में गाय को विनिमय का माध्यम बना लिया गया। ऋग्वेद में स्वर्ण निर्मित 'निष्क' नामक सिक्के के प्रचलन का भी संकेत मिलता है। इस समय ऊंटों, छकड़ों तथा घोड़ों द्वारा वस्तुएं विभिन्न स्थानों पर भेजी जाती थीं। कपड़े तथा चमड़े की वस्तुओं का भी व्यापार होता था। ऋण लेने व देने की प्रथा भी विद्यमान थी। यह कार्य वैश्य, साहूकार एवं महाजन द्वारा किया जाता था।

उत्तरवैदिक कालीन आर्थिक स्थिति

कृषि–इस काल में कृषि आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। जौ, गेंहूँ, चावल आदि मुख्य फसलें थीं। कृषि हल-बैल द्वारा की जाती थी। उपज बढ़ाने हेतु खाद का प्रयोग होता था।

पशुपालन–आर्य गाय, भेड़, बकरी आदि पशु पालते थे। पालतू पशुओं में गाय सबसे महत्वपूर्ण थी। कृषि कार्य की दृष्टि से बैल, सामरिक दृष्टि से घोड़े तथा रखवाली की दृष्टि से कुत्ते पाले जाते थे।

व्यापार–उत्तर वैदिक काल में व्यापार भी बड़ा उन्नत था। निष्क, शतमान, कृष्णल आदि प्रमुख सिक्कों का प्रचलन था। व्यापारियों ने अपने संघ अथवा गिल्ड भी बना लिये थे। काशी, कौशाम्बी, विदेह आदि व्यापार के प्रसिद्ध केन्द्र थे।

खनिज पदार्थ–इस काल में सोना, चांदी, सीसा, तांबा, लोहा आदि धातुओं का प्रयोग किया जाने लगा।

उद्योग-धन्धे–इस काल में अनेक व्यवसायों का विकास हुआ। कुम्हार, गडरिये, सारथी, रथकार, माहीगरी, कसाई, रसोइये, धातुकार, संगीतकार, ज्योतिषी, नाई एवं वैध आदि इस काल के प्रमुख पेशेवर थे।

महाकाव्यकालीन आर्थिक स्थिति

कृषि व पशुपालन–महाकाव्य काल में कृषि लोगों का मुख्य व्यवसाय था तथा यह काफी विकसित थी। कृषि कार्य हेतु हल का प्रयोग किया जाता था। विशेष अवसरों पर राजा स्वयं हल चलाते थे। राज्य के द्वारा कृषि की सुरक्षा तथा सिंचाई का प्रबन्ध किया जाता था। कर उपज का 1/10 से 1/6 भाग लिया जाता था, किन्तु अकाल के समय यह माफ कर दिया जाता था। ब्राह्मण स्त्रियों व अनाथ बच्चों से कर नहीं लिया जाता था।

पशुपालन के क्षेत्र में गाय, बैल, भेड़, बकरी, कुत्ते आदि पशु पाले जाते थे। माल ढोने तथा सवारी हेतु घोड़ों, बैलों, गधों व ऊंटों को पाला जाता था। राज्य की तरफ से पशुओं की सुरक्षा व देखभाल हेतु 'गोपाध्यक्ष' नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। पशुओं की चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

उद्योग-धन्धे–इस काल में स्वर्णकार, लुहार, कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा, रंगरेज, धोबी, चर्मकार, मणिकार, रथकार, नट आदि प्रमुख व्यवसाय थे। रामायण में वर्णित रावण का भव्य महल इस काल में शिल्प कला की उन्नति को दर्शाता है। वस्त्र उद्योग विकसित था। इस काल में व्यापारियों ने अपने श्रेणियां अथवा मण्डल बना लिये थे, जिनका अध्यक्ष 'मुख्य' कहलाता था।

व्यापार—इस काल में व्यापार भी उन्नत था। अयोध्या, काशी, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ आदि व्यापार के अन्य केन्द्र थे। इस काल में भारत का विदेशों से भी व्यापार होता था। रामायण के अनुसार भारत कम्बोज से तत्कालीन समय में घोड़ों का व्यापार करता था पाण्डवों को कई राजाओं ने उपहार में पूर्व देश के हाथी, कम्बोज व गान्धार के घोड़े, पश्चिमी देशों के ऊंट, चीन के रेशमी वस्त्र, कम्बोज के ऊनी वस्त्र, सिन्ध के शाल, म्लेच्छ देश के मोती आदि दिये थे।

मौर्यकालीन आर्थिक स्थिति

कृषि—कृषि मौर्यकाल का प्रमुख व्यवसाय था। कृषकों को राज्य का संरक्षण प्राप्त था। युद्ध के समय फसल को कोई हानि नहीं पहुंचायी जाती थी। खेती हल बैल द्वारा की जाती थी तथा खाद का प्रयोग कर भूमि को उपजाऊ बनाया जाता था। अर्थशास्त्र

में खाद हेतु घी, शहद, गोबर मछलियों का चूरा आदि प्रयोग करने का सुझाव दिया गया है। सरकार कृषि की तरफ विशेष ध्यान देती थी। जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार सिंचाई की सुविधा के लिये चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय गर्वनर पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। अर्थशास्त्र में सिंचाई के नदियां, नहरें, डोलवाले कुए, बैलों द्वारा खींचे जाने वाले रहट, कुएं आदि साधनों का उल्लेख किया है। गेंहू, जौ, चना, सरसों, उड़द, मूँग, मसूर, कपास, आलू, तरबूज, खरबूजा आदि मुख्य फसलें थीं। मेगस्थनीज के अनुसार भूमिकर उपज का 1/4 भाग था। रोमिला थापर के अनुसार कम उपजाऊ प्रदेशों में यह 1/6 भाग लिया जाता था। रूमिनदेई शिलालेख के अनुसार अशोक ने बुद्ध की जन्मस्थली लुम्बिनी वन में कर उपज का 1/8 भाग कर दिया था।

उद्योग–इस काल में निम्न उद्योग धन्धे विकसित थे–

(i) वस्त्र उद्योग–मौर्य काल में वस्त्र उद्योग काफी उन्नत था। बनारस, बंग, अपरांत, मदुरा, काशी आदि इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। कपड़ा बुनने वाले जुलाहे कहलाते थे। सूत, सन तथा रेशम से कपड़ा तैयार किया जाता था। अर्थशास्त्र में काशी तथा मगध को सन के कपड़े के विख्यात केन्द्र बताया गया है। इसमें कई ऊनी कम्बलों का विस्तृत वर्णन है। नेपाल से ऊनी कपड़ा मंगावाया जाता था। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय सोने व चांदी की कढ़ाई वाले मलमल के बारीक वस्त्र पहनते थे। बंगाल मलमल के कपड़ों का विख्यात केन्द्र था।

(ii) धातु कर्म–यूनानी लेखकों के अनुसार सोना, चांदी, तांबा, लोहा आदि धातुएं भारत में प्रचुरता में थीं। इन खानों से धातु सामान्यतया राज्य स्वयं निकलवाता था, किन्तु कभी-कभी यह कार्य ठेके पर भी दिया जाता था। खानों का अधिकारी 'आकराध्यक्ष' कहलाता था। अर्थशास्त्र में धातुओं को निकालने, शुद्ध करने, गलाने, मुलायम करने, पीटने, ढालने आदि क्रियाओं का वर्णन है। इन धातुओं से अस्त्र शस्त्र, आभूषण, बर्तन, मूर्तियों आदि का निर्माण होता था। समुद्र से मणि, रत्न, शंख, सीप आदि निकाले जाते थे एवं इन्हें आभूषणों में जड़ा जाता था।

(iii) लकड़ी उद्योग–लकड़ी उद्योग बड़ा विकसित था। लकड़ी से बढ़ई बड़ी-बड़ी नावें व जहाज, घर के दरवाजे, फर्नीचर, रथ, छकड़े, बैलगाड़ियाँ, संदूक, घर गृहस्थी का सामान, पलंग व खिलौने आदि बनाये जाते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार सुगंधित लकड़ी कामरूप, लंका तथा हिमालय प्रदेश से प्राप्त की जाती थी। मेगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त के समय अधिकतर भवन लकड़ी के बने थे। डॉ. घोषाल के अनुसार, "अशोक के समय की उत्तम शिल्प कला अवश्य ही लकड़ी तथा हाथी दांत के देशी कारीगरों की प्राचीनतम कला पर आधारित थी।"[25]

(iv) अन्य उद्योग–चमड़े का उद्योग भी बड़ा विकसित था। एरियन ने लिखा है कि, "भारतीय श्वेत चमड़े के बने हुए जूते पहनते थे। उन्हें खूब संवारकर बनाया जाता

है। इनके तले विभिन्न रंगों के होते हैं।" भवन निर्माण व्यवसाय, सुरा निर्माण, मूर्ति निर्माण, हाथी दांत की वस्तुएं बनाने व बर्तनों पर पॉलिश करने के व्यवसाय भी काफी विकसित थे। स्ट्रैबो के अनुसार कारीगर की आंख निकाल देने वाले अथवा हाथ काटने वाले व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जाता था।

व्यापार–आन्तरिक तथा ब्राह्य व्यापार भी विकसित था। चीन, सीरिया, मिस्र, यूनान, नेपाल, श्रीलंका आदि देशों के साथ व्यापार किया जाता था। चीन से रेशमी कपड़ा, पश्चिमी देशों से मीठी शराब व अंजरी, नेपाल से ऊन तथा ईरान से मोती का आयात किया जाता था। भारत मिश्र को हाथीदांत, कछुआ, छिलका, मोती, नील व विशेष प्रकार की लकड़ी निर्यात करता था। समुद्री मार्ग से आने वाले जहाज 'प्रवहण,' कहलाते थे। प्रत्येक बंदरगाह का एक अध्यक्ष होता था । आन्तरिक व्यापार भी जल तथा थल दोनों मार्गों से होता था। अर्थशास्त्र के अनुसार सोने, चांदी व तांबे के सिक्के लेनदेन में प्रयोग में लाये जाते थे। स्वर्ण के सिक्के 'सुवर्ण', चांदी के सिक्के 'पण' तथा तांबे के सिक्के 'माषक' कहलाते थे। मुद्रा निर्माण केवल सरकारी टकसालों में होता था। राजकोष मात्र स्वर्ण एवं चांदी के सिक्कों का लेन-देन करता था।

सातवाहन कालीन आर्थिक स्थिति

सातवाहन काल में कृषि, उद्योग तथा व्यापार बहुत अधिक विकसित थे। पैठन, नासिक, जुन्नार आदि दक्षिणी भारत में व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। भड़ौंच, सोपारा तथा कल्याणी उस समय के विख्यात बंदरगाह थे। व्यापारियों ने अपने संघ बना रखे थे, जिनका मुखिया 'सेठी' कहलाता था। सेठी ब्याज पर धन का लेन-देन भी करता था। इस युग में सोने के सिक्कों को 'सुवर्ण', चांदी के सिक्कों को 'कुषण' एवं तांबे के सिक्को को कार्षापण कहा जाताथा।

गुप्त कालीन आर्थिक स्थिति

गुप्तकाल भी आर्थिक दृष्टि से बड़ा समृद्ध था।

कृषि–कृषि इस समय का प्रमुख व्यवसाय था। चावल, गेंहू, जौ, मटर, तेल निकालने के बीज, सब्जियां आदि मुख्य फसलें थीं। भूमि पर व्यक्ति अथवा परिवार का सामूहिक स्वामित्व होता था। ग्राम पंचायत की आज्ञा के बिना भूमि को बेचा नहीं जा सकता था। गुप्त सम्राटों ने सिंचाई हेतु नहरों व झीलों का भी निर्माण करवाया। जूनागढ़ के शिलालेख के अनुसार स्कन्दगुप्त के नगरपाल चक्रपालित ने सुदर्शन झील की मरम्मत करवायी थी। गुप्त सम्राटों ने कृषकों की भलाई के लिये अनेक कार्य किये, जिससे की आय में काफी वृद्धि हुई।

उद्योग धन्धे–इस काल में वस्त्र उद्योग अत्यन्त उन्नत था। सूती, ऊनी एवं रेशमी

वस्त्र काफी सुन्दर बनते थे। गुजरात, मालवा, बंगाल एवं आधुनिक उत्तर प्रदेश इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। चमड़े का उद्योग भी विकसित था। चमड़े से पंखे, बोतलें, जूते, बूंट आदि बनाये जाते थे। 'अमरकोष' नामक ग्रंथ में इसकी पुष्टि होती है। हाथी दांत से वस्तुएं बनाने का उद्योग भी इस समय उन्नत अवस्था में था।

गुप्तकाल में सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा आदि धातुओं का उद्योग भी काफी विकसित था। लौह उद्योग का सबसे अच्छा प्रमाण मेहरौली का लौह स्तंभ है, जिस पर हजारों वर्ष गुजर जाने के बाद भी आज तक जंग नहीं लगा है।

इस समय तांबे की मूर्तियों का भी निर्माण होता था, जिन में नालन्दा में स्थित बुद्ध की $7\frac{1}{2}$ फीट ऊंची ताम्र प्रतिमा प्रमुख है। स्वर्णकार का एवं हीरे जवाहरात के व्यवसाय भी विकसित थे।

व्यापार–गुप्तकाल में आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार बहुत विकसित था। पाटलिपुत्र, वैशाली, गया, बनारस, प्रयाग, विदिशा, उज्जैन, भड़ौंच, पेशावर, ताम्रलिप्ति आदि व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। छकड़ों तथा पशुओं की पीठ पर सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता था। जल मार्ग द्वारा भी व्यापार होता था। गंगा ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा आदि नदियाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थीं। नगरों में व्यापार का कार्य 'नगर श्रेष्ठी' करते थे।

गुप्तकाल में भारत विदेशों से सोना, चांदी, तांबा, शीशा, रेशम, घोड़े आदि का आयात तथा कपड़ा, हीरे, मोती, दवाइयाँ, नारियल, हाथी दांत का सामान आदि निर्यात करता था। अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, ईरान व अरब के देशों के साथ स्थल मार्ग से व्यापार होता था। लंका, जावा सुमात्रा आदि देशों के ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से तथा रोम व यूरोप के देशों के साथ भड़ौंच तथा कैम्बे के बन्दरगाहों से व्यापार किया जाता था।

व्यापारिक संघ–गुप्तकाल में शिल्पकारों, जुलाहों एवं व्यापारियों के अपने-अपने संघ थे। संघ के नियमों का पालन संघ के सभी सदस्यों को करना पड़ता था। संघ की कार्यकारिणी समिति प्रजातांत्रिक ढंग से निर्वाचन के आधार पर गठित की जाती थी। इस समिति में एक सभापति और पांच सदस्य होते थे। समिति संघ के किसी भी सदस्य को नियमों की उल्लंघना करने पर दंडित कर सकती थी, ये संघ आधुनिक बैंकों के समान ब्याज पर ऋण देते थे। सरकार संघ के कार्यों में यथासंभव दखल नहीं देती थी। संघ का धन हड़पने का प्रयास करने वाले व्यक्ति को देश निकाला दे दिया जाता था। संघ प्रणाली से व्यापार तथा उद्योगों ने काफी प्रगति की।

इस प्रकार गुप्तकाल में आर्थिक स्थति बड़ी उन्नत व विकसित थी। फाह्यान के अनुसार इस काल में जनता सम्पन्न थी। वस्तुओं के दाम काफी कम थे। लोग बड़े

आराम से जीवन निर्वाह करते थे। धनी लोग निर्धनों के प्रति सहानुभूति रखते थे। इस काल में चोर डाकुओं का नामों निशान न था।

हर्षकालीन आर्थिक स्थिति

हर्ष के समय में कृषि बड़ी विकसित थी। इस समय कई लघु उद्योग उन्नत स्थिति में थे। ह्वेनसांग उद्योगों की श्रेणियों का वर्णन करता है। इस काल में लोहे की खानें खोदी जाने लगी थीं तथा यह व्यवसाय उन्नत अवस्था में था। आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार बड़ा उन्नत था। जहाजों द्वारा भारत से विदेशों को आयात व निर्यात होता था। ताम्रलिप्ति भारत का विख्यात बंदगाह था एवं यह मलाया व सुमात्रा से व्यापार का प्रमुख मार्ग था। भारत से सूती वस्त्र, चंदन, हाथी दांत का सामान, शाल व दुशाले आदि का निर्यात एवं सोना, चांदी, हीरे, कीमती पत्थर, सिल्क, औषधियां व घोड़े आदि का आयात किया जाता था। इस प्रकार हर्षकालीन आर्थिक जीवन बड़ा उन्नत था।

राजपूतकालीन आर्थिक स्थिति

इस युग में भी आर्थिक स्थिति उन्नत थी। राजा जनकल्याणकारी थे तथा आय का अधिकांश भाग जनकल्याण के कार्यों पर ही व्यय करते थे। चोल राजाओं ने सैनिक आवागमन एवं व्यापारिक सुविधा की दृष्टि से कई बड़ी-बड़ी सड़कें बनवायीं। सिंचाई हेतु अनेक नहरों का निर्माण करवाया गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी में एक कृत्रिम झील बनवायी थी। कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मन ने झेलम से कई नहरें निकलवायीं तथा परमार नरेश भोज ने भोजपाल का निर्माण करवाया। अतः लोगों के आर्थिक जीवन में समृद्धता आयी।

व्यापार एवं उद्योग भी विकसित थे। आवागमन के साधनों के विकास के कारण व्यापार काफी उन्नत अवस्था में था। भारत से विदेशों को चन्दन, कपड़ा, मसाला, हीरे, मोती, लौंग, नारियल, हाथी दांत की वस्तुएं आदि का निर्यात किया जाता था तथा विदेशों से शराब, खजूर, रेशमी वस्त्र, घोड़ों आदि का आयात किया जाता था। व्यापार जल व थल दोनों मार्गों से होता था।

व्यापारियों ने अपने-अपने संघ या श्रेणियाँ बना ली थीं, जिनका एक मुखिया होता था। देवालयों हेतु श्रेणी द्वारा सामूहिक रूप से दान दिया जाता था। आधुनिक बैंकों की भाँति श्रेणियों में ब्याज की निश्चित दर पर धन भी जमा किया जा सकता था। राजा द्वारा यथासंभव इनके कार्यों में दखल नहीं दिया जाता था। इस प्रकार इस काल में भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत ही समृद्ध एवं उन्नत था तथा भारत की इस समृद्धता ने ही महमूद गजनवी को भारत पर आक्रमण करने हेतु प्रोत्साहित किया था।

संदर्भ

1. अल्तेकर (डॉ.) : प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, पृ. 70.
2. ऋग्वेद, 7/6/5,10/173/6.
3. ऋग्वेद 1/98/8,2/24/13,6/28/6,8/4/9,9/92/6,10/34/6.
4. मजूमदार, आर. सी. : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 77.
5. अथर्ववेद 7/12, शतपथ ब्राह्मण 4/1/41/1. . . . .6.
6. शतपथ ब्राह्मण, 3/4/117,12/212/18.
7. गौतम धर्मसूत्र 12/17.
8. शास्त्री, नीलकंठ, के. ए : एज ऑफ द नन्दाज़ एण्ड मौर्याज़, पृष्ठ 172.
9. स्मिथ, वी. ए (डॉ.) : द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ट 100.
10. मुकर्जी, आर. के. (डॉ.) : दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 62.
11. मुकर्जी, आर. के. (डॉ.) : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 167.
12. स्मिथ, वी. ए (डॉ.) दं अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 140.
13. मुकर्जी, आर. के. : अशोक, पृ. 50.
14. वही, पृष्ठ 49.
15. थापर, रोमिला (डॉ.) : अशोक एण्ड दी डिक्लाइन ऑफ मौर्याज़, पृष्ठ 108.
16. पाण्डेय, राजबली (डॉ.) : प्राचीन भारत.
17. ऋग्वेद, 8/6/48.
18. ऋग्वेद 1/55/8,7/102/11,8/69/12,10/101/6.73/ 45/ 3,7/49/2.
19. ऋग्वेद, 1/191/4.
20. ऋग्वेद, 1/121/9,6/47/26,6/75/2.
21. ऋग्वेद, 1/161/9, 3/60/2,10/86/5.
22. ऋग्वेद, 10/72/2.
23. त्रिपाठी, आर. एस. (डॉ.) : हिस्ट्री ऑफ एन्शेण्ट इण्डिया, पृष्ठ 33.
24. ऋग्वेद 1/25/7,1/116/3,2/35/3.
25. घोषाल, यू. एन. (डॉ.) : एज ऑफ द नन्दाज़ एण्ड मौर्याज़, पृष्ठ 265.

□

8

प्राचीन भारत के प्रमुख नगर

भारत में नगरों का आरंभ से ही विकास होता रहा है। ऋग्वैदिक धार्मिक ग्रंथों में नगर शब्द का प्रयोग 'पुर' के अर्थ में किया गया है।[1] यजुर्वेद में 'महापुर'[2] गोपथ ब्राह्मण में 'महापुर जयन्तीति'[3] श्वेताश्व रोपनिषद में 'नवद्वारपुर'[4] तथा कठकोपनिषद में प्रासाद[5] एवं ऐतरेय ब्राह्मण में अयोध्या[6] शब्द का प्रयोग मिलता है। प्राचीन भारत के प्रमुख नगर इस प्रकार थे–

शाकल–यह उत्तर पश्चिम भारत में स्थित था। वर्तमान में स्यालकोट के नाम से जाना जाता है। यह मद्र देश की राजधानी थी। यहां पहले कठ व फिर चरन जाति को शासन रहा। ह्वेसांग इसे समृद्ध नगर कहता है।

तक्षशिला–यह पश्चिमी पंजाब में रावलपिण्डी से उत्तर पश्चिम में 20 मील की दूरी पर स्थित है। इसकी रचना भरत के पुत्र तक्ष ने की थी। सिकन्दर के समय आम्भी यहाँ का राजा था। यह व्यापार एवं विद्या का विश्व विख्यात केन्द्र था। कला के क्षेत्र में इसने गान्धार शैली को जन्म दिया। वस्तुतः यह भारत का पश्चिम द्वार था।

थानेश्वर–यह नगर दिल्ली के उत्तर में अम्बाला व करनाल के मध्य स्थित था तथा इसका प्राचीन नाम स्याण्वीश्वर (शिव की नगरी) था। बाणभट्ट के हर्षचरित तथा ह्वेसांग के यात्रा विवरण से इस नगर के सौन्दर्य का पता चलता है। यह हर्ष की राजधानी रहा था।

कुरुक्षेत्र–यह थानेश्वर के समीप स्थित है। भारतीय काव्यों के अनुसार महाभारत का युद्ध यहीं हुआ था।

हस्तिनापुर–इस के खण्डहर मेरठ की मवाना तहसील में गंगा तट पर गुणगंगा नामक स्थान पर मिले हैं। यह पाण्डवों की राजधानी थी। महाभारत में इसका वर्णन मिलता है।

इन्द्रप्रस्थ–यह कुरू जनपद की राजधानी थी तथा दिल्ली के निकट स्थित है। महाभारत में इसकी सुन्दरता का वर्णन है।

मथुरा–यह उत्तर प्रदेश में यमुना तट पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम मधुवन

था। श्रीकृष्ण का जन्म यहीं हुआ था। इस नगर पर शक, सातवाहन, नाग, गुप्त आदि सभी वंशों के शासकों ने शासन किया। कुषाण काल में यहाँ कला की मथुरा शैली का विकास हुआ था। चीनी यात्री फाह्यान व ह्वेनसांग ने इसे समृद्ध नगर कहा है। कालान्तर में यह मुस्लिम आक्रमणों का शिकार बन गया।

कौशाम्बी–इसका संस्थापक कौशाम्व था। यह वत्स जनपद की राजधानी था। अशोक के समय में कौशाम्बी उसके एक प्रांत की राजधानी थी, अतः यहाँ उसके स्तंभ मिले हैं। कनिष्क् व समुद्रगुप्त ने भी इस पर विजय प्राप्त की। गुप्त काल में यह कला का प्रमुख केन्द्र बन गया था, किन्तु तत्पश्चात् अपना वैभव खोता गया।

अयोध्या–यह सरयू नदी के तट पर स्थित था। मार्यादा पुरुषोत्तम राम का जन्म यहीं हुआ था। प्रारंभ में यह विद्या, ज्ञान व व्यापार का प्रमुख केन्द्र था, किन्तु बाद में चमक खोता गया।

साकेत–यह कोसल राज्य का विख्यात नगर था। अनेक विद्वानों ने सांकेत व अयोध्या को एक माना है, किन्तु रिज डेविड्स इन्हें अलग मानते हैं।[7] यह मुख्य रूप से व्यापारिक नगर था।

अहिच्छत्रा–यह पांचाल जनपद के उत्तरी भाग की राजधानी थी। मौर्य काल में यह मूर्तिकला का प्रमुख केन्द्र था।

कान्यकुब्ज–कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज का संस्थापक कुशनाभ था। मौखरी वंश से लेकर हर्ष के बाद भी कन्नौज पर अधिकार कराने हेतु राजपूत राजाओं में संघर्ष होता रहा। यहां राजशेखर, क्षेमेश्वर, विल्हण जैसे महान कवि हुए थे। बाणभट्ट ह्वेनसांग, अलबेरूनी[8] आदि ने इस नगर की बहुत प्रशंसा की है। 6वीं से 12वीं सदी तक यह भारतीय राजनीति का मुख्य केन्द्र रहा।

प्रयाग–यह गंगा-यमुना के तट पर स्थित पवित्र धार्मिक स्थल है। यहाँ हर बारहवें वर्ष महाकुंभ मनाया जाता है। यहाँ हिन्दू धर्म के अनेक पवित्र स्थल हैं। विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में इसका वर्णन मिलता है। यह प्राचीन भारत का विख्यात सांस्कृतिक नगर था। अशोक का शिलालेख तथा हरिषेण कृत समुद्रगुप्त प्रशस्ति भी प्रयाग में मिले हैं।

सांची–यह भोपाल के निकट स्थित है। यहाँ तीन बौद्ध स्तूप मिले है, जो भारतीय कला की महान निधि हैं।

देवगढ़–यह झांसी के ललितपुर के पास छोटा सा गांव है। गुप्त काल में यहाँ अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें दशावतार मन्दिर प्रमुख है।

भरहुत–यह मध्य प्रदेश में सतना के समीप स्थित है। यह आरंभिक बौद्ध मूर्ति कला हेतु प्रसिद्ध है। यहाँ का बौद्ध स्तूप विश्व विख्यात है।

खजुराहो–इसका निर्माण चन्देल शासकों ने किया। यह छतरपुर क्षेत्र में स्थित हैं। यहाँ अनेक जैन व वैष्णव मन्दिर हैं, जो अपनी मूर्तिकला हेतु विख्यात है।

बाघ–यह ग्वालियर के समीप स्थित छोटा सा ग्राम है। यहाँ नौ गुफाएं मिली हैं, जो अपनी चित्रकला हेतु विश्व विख्यात हैं।

श्रावस्ती–वर्तमान गौंडा जिले के सहेर महेर के आस-पास प्राचीन श्रावस्ती स्थित था। बुद्ध के समय यह भारत के 6 बड़े गणराज्यों में था। बुद्ध तथा अन्य बौद्ध प्रचारकों ने यहाँ पर अपने उपदेश दिये थे। यह व्यापारिक मार्ग के मध्य स्थित था। ह्वेसांग के समय तक यह नगर अपना महत्त्व खो चुका था।

वाराणसी–वरुणा एवं असी के मध्य स्थित होने के कारण यह वाराणसी कहलाता है। बारहवीं सदी तक यह नगर बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा। शंकराचार्य तथा मण्डन मिश्र का भारती की अध्यक्षता में हुआ विख्यात शास्त्रार्थ यहीं हुआ था। बारहवीं सदी के पश्चात यह संस्कृत का महान केन्द्र बन गया। यहां पर दर्जनों हिन्दू मन्दिर तथा घाट हैं। यह नगर उद्योग तथा व्यवसाय के लिये विख्यात रहा है। बुद्ध ने अपना पहला धर्मोपदेश यहीं दिया था। ह्वेनसांग ने इस नगर की बड़ी प्रशंसा की है।

कपिलवस्तु–यह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के उत्तर में नेपाल की तराई में स्थित है। यह बुद्ध की जन्मभूमि है। यह शाक्य क्षत्रियों के गणराज्य की राजधानी था। इस नगर का सांस्कृतिक तथा व्यापारिक महत्त्व भी अत्यधिक था। 'बुद्ध चरित', 'ललितविस्तार', 'सौन्दरानन्द' आदि ग्रंथों तथा फाह्यान व ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से इस नगर की विस्तृत जानकारी मिलती है।

कुशीनगर–यह मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम कुशावती था। बुद्ध का निर्वाण स्थल होने से यह बौद्धों का पविद्ध तीर्थ स्थल बन गया। यह राजनीति, धर्म एवं व्यापार का विख्यात केन्द्र था। अशोक ने यहाँ अनेक मठ व स्तूप बनवाये। ह्वेनसांग के समय तक यह नगर खण्डहर रह गया था।

राजगृह–यह पटना के निकट स्थित है। प्राचीन काल में इसे गिरिव्रज कहा जाता था। यह मगध गणराज्य की पहली राजधानी थी। बिम्बिसार के समय बुद्ध ने यहाँ पर बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया। पाटलिपुत्र के मगध की राजधनी बनने के बाद यह नगर उजड़ने लगा। राजगृह के भग्नावशेषों में मुगियार मठ, राजगृह का नगर देवता, गुप्तकालीन जरासंध की बैठक नामक स्तूप तथा अशोक द्वारा निर्मित स्तंभ प्रमुख है। इस प्रकार यह नगर धर्म, राजनीति, व्यापार व कला का महत्त्वपूर्ण स्थल रहा।

पाटलिपुत्र–मगध नरेश उदायी ने सोन तथा गंगा नदी के संगम पर इसे बसाया था। यह उदायी के समय से लेकर गुप्त शासकों तक मगध साम्राज्य की राजधानी रहा, अतः इसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। मेगस्थनीज, फाह्यान, ह्वेनसांग, आदि ने इस नगर

की कला व समृद्धि की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अशोक ने तीसरी बौद्ध संगति यहीं आयोजित की थी। महान गुप्तकालीन कवि हरिषेण भी यहीं का रहने वाला था। गुप्त काल में यह व्यापार एवं कला का प्रमुख केन्द्र था। हर्ष द्वारा कन्नौज को अपनी राजधानी बनाने के पश्चात् इस नगर का महत्त्व कम होने लगा।

वैशाली–यह बिहार में मुजफ्फरपुर जिले में गंडक नदी के तट पर स्थित था। इसकी स्थापना इक्ष्वाकुवंशीय शासक विशाल ने की थी। यह लिच्छवी गणराज्य की राजधानी थी। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म यहीं हुआ था। लिच्छावी गणराज्य के समय में यह नगर बहुत ही समृद्ध तथा सुन्दर था। गुप्तकाल में इस नगर का महत्त्व बहुत बढ़ गया। ह्वेनसांग ने इसे राजमहल का नगर कहा था। यह जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रमुख तीर्थ स्थल है।

चम्पा–यह मिथिला से 180 मील दूर भागलपुर जिले के चम्पा गाँव में स्थित था। यह प्राचीन अंग राज्य की राजधानी थी। इस नगर के व्यापारियों ने दक्षिणी पूर्वी एशिया में चम्पा नामक उपनिवेश स्थापित किया था। यह जैन एवं बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा। यहां धर्म, संस्कृति, व्यापार व कला का बहुत विकास हुआ।

नवदीप नदिया–यह भागीरथी व जलांगी के संगम पर स्थित था। जयदेव तथा शूलपाणि जैसे महान् कवि यहीं हुए थे। यह सेनवंश के शासकों की राजधानी थी। डॉ. अग्रवाल का मानना था कि नवदीप पाणिनि अष्टाध्यायी में उल्लिखित नव नगर है।[9] हलायुद्ध व धोयी जैसे कवि यहीं हुए थे।[10] इस प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से इस नगर का बड़ा महत्त्व है।

ताम्रलिप्ति–बंगाल में गंगा के मुहाने पर स्थित ताम्रलिप्ति प्राचीन काल का विख्यात बंदरगाह था। यहाँ से चीन, सुमात्रा, जावा आदि देशों के साथ व्यापार होता था। फाह्यान, ह्वेसांग, इत्सिंग आदि चीनी यात्री चीन से भारत आते समय इसी मार्ग से आये थे। यहाँ नाविक शिक्षा हेतु दूर-दूर से लोग आते थे, जिन्हें गोड़ कहा जाता था।

प्राग्ज्योतिषपुर–यह वर्तमान गोहाटी है। यह नगर ज्योतिष तथा तंत्र विद्या का अच्छा केन्द्र था। ह्वेसांग ने इस नगर का विस्तृत वर्णन किया है। अलबरूनी इसे कामरूप भी कहता है।

मिथिला–इसका संस्थापक मिथि था। इसका उल्लेख महाकाव्यों, पुराणों तथा जैन व बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। यह व्यापार का विख्यात केन्द्र था। इस नगर का प्राचीन नाम विदेहपुरी था। यहाँ पर राजा जनक का शासन था। रामायण में इस नगर के जन जीवन का वर्णन मिलता है। जगद्धर नामक विद्वान यहीं हुआ था। यह नगर विद्या का भी विख्यात केन्द्र रहा।

गया–गया हिन्दू एवं बौद्ध धर्म का प्रमुख धार्मिक केन्द्र है। यहाँ बोधिवृक्ष है, जिसके नीचे बुद्ध ने 6 वर्ष तक साधना की थी। यहाँ बौद्ध धर्म के अनेक अवशेष

दिखायी देते हैं। महाकाव्यों में भी इसका वर्णन मिलता है। फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि चीन यात्रियों ने इस नगर का विस्तृत वर्णन किया है। यह धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण नगर था।

बोधगया–यहाँ बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। यह गया से 7 मील दूर स्थित है। यहां बुद्ध का विशाल मंदिर है। अशोक ने यहाँ अनेक स्तंभ लगवाये थे। सनातन हिन्दू धर्म का पितृ तीर्थ गया होने के क़ारण हिन्दू भी यहाँ अपने पितरों को पिण्डदान देते हैं।

सारनाथ–यहाँ पर बुद्ध ने अपना प्रथम धर्म प्रवचन दिया था, जो धर्मचक्रपरिवर्तन कहलाता है। यहां पर अशोक का सिंह के चार मुखों वाला स्तंभ, भगवान बुद्ध का मंदिर, धमेख स्तूप, चौखण्डी स्तूप, राजकीय संग्रहालय, मूलगंधकुटी, जैने व चीनी मंदिर आदि मिले हैं। अशोक के चार मुख वाले शेरों के स्तंभ को भारत सरकार ने राजचिन्ह के रूप में अपना लिया है।

लुम्बिनी वन–नेपाल की तराई स्थित रूम्मनदेई ही प्राचीन लुम्बिनीवन है। यहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। अशोक ने यहाँ दो स्तंभ गड़वा दिये थे।

पुरी–यह उड़ीसा के समुद्र तट पर स्थित पवित्र हिन्दू स्थल है। भुवनेश्वर के समीप उदनगिरी में जैनियों के विख्यात मन्दिर हैं। मुक्तेश्वर का मन्दिर, लिंगराज व राजरानी के मन्दिर काफी कलात्मक हैं। यहाँ के मन्दिर द्रविड़ स्थापत्य कला के श्रेष्ठ नमूने हैं।

कोणार्क–यह पुरी के समीप उत्तर पूर्व समुद्र तट पर स्थित है। यहाँ का सूर्य मंदिर अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिये विख्यात है। इसका निर्माता राजा नरसिंह देव था। इस मंदिर का चप्पा चप्पा मूर्तियों से भरा पड़ा है।

नालन्दा–नालन्दा के अवशेष पटना से पचपन मील दक्षिण में मिले हैं। इसकी स्थापना कुमारगुप्त ने की थी। इसके विस्तृत अध्ययन के लिये अध्याय संख्या पांच देखें।

ओदन्तपुरी–यह बिहार में गया के समीप स्थित था। यह भारत का विख्यात विश्वविद्यालय था, जिसमें विदेशों से भी छात्र शिक्षा ग्रहण करने आते थे। कालान्तर में बख्तियार खिलजी ने इसे नष्ट करवा दिया।

विक्रमशिला–यह बिहार में भागलपुर से 24 कि. मी. दूर स्थित है। इसकी स्थापना पालवंशी शासक देवपाल ने की थी। आगे चलकर यह शिक्षा का विश्वविख्यात केन्द्र बन गया। इसके विस्तृत अध्ययन हेतु अध्याय संख्या पांच देखिये।

जगद्दल–यह भी प्राचीन भारत का प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। यह गंगा तट पर स्थित रामावती नगरी में था। इसका संस्थापक पाल शासक रामपाल था। शुभकर, विभूतिचन्द्र, दानशील आदि यहाँ के प्रमुख आचार्य हुए।

विदिशा–मध्य प्रदेश का भिलसा नगर प्राचीन काल में विदिशा कहलाता था। यहाँ यूनानी राजदूत हेलियोडोरस का गरूड़ ध्वज स्तम्भ तथा अशोक के कुछ स्तंभ भी मिले हैं। शुंगकाल में यह कला का विख्यात केन्द्र बन चुका था।

उज्जयिनी–उज्जियनी प्राचीन भारत का प्रमुख नगर था। यह क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित है तथा हिन्दू धर्म का एक पवित्र स्थल है। यह अवन्ति राज्य की राजधानी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त कर इस पर अधिकार कर लिया तथा इसे ज्ञान व विद्या का विश्वविख्यात केन्द्र बना दिया। यहाँ अनेक मन्दिर व मठ बने। महाकाल का विख्यात मन्दिर यहीं स्थित है। विक्रमादित्य के नवरत्न यहीं निवास करते थे। कालिदास, भास, बाणभट्ट आदि कवियों ने इसकी भव्यता का वर्णन किया है। इस प्रकार उज्जियनी भारतीय संस्कृति की जीवनदायी नगरी थी। यहां हर बारहवें वर्ष महाकुंभ का मेला लगता है।

दशपुर–वर्तमान मन्दसौर प्राचीन काल में दशपुर कहलाता था। गुप्त काल में यह नगर मालवा की राजधानी थी। यहाँ वत्सभट्टी द्वारा निर्मित शिलालेख प्राप्त हुआ है। यह नगर वैभवपूर्ण था एवं अपने व्यापारिक अधिष्ठान व सुन्दर सूर्य मन्दिर हेतु विख्यात था।

वल्लभी–इसकी नींव मैत्रक वंश के शासकों ने रखी थी। यह शिक्षा एवं व्यापार का विख्यात केन्द्र था। शिक्षा के क्षेत्र में वल्लभी विश्विविद्यालय प्राचीन भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यहां दूर-दूर से छात्र विद्याध्ययन हेतु आते थे। आठवीं सदी में अरबों के आक्रमण से इसे क्षति पहुंची, किन्तु यह पुनः प्राचीन रूप में आ गया तथा 12 वीं सदी तक शिक्षा का केन्द्र बना रहा। ह्वेनसांग तथा इत्सिग ने अपने यात्रा विवरणों में इस नगरी का वर्णन किया है। यहाँ पर जैनियों की द्वितीय महासभा हुई थी। अतः यह धार्मिक दृष्टि से जैनियों के लिये भी महत्त्वपूर्ण है।

पुष्कर–यह राजस्थान में अजमेर के निकट स्थित विख्यात हिन्दू तीर्थ स्थल है। इसका सरोवर बड़ा पवित्र माना जाता है, जिसमें दूर-दूर से लोग स्नान करने हेतु आते हैं।

गिरिनार-गिरिनगर-जूनागढ़–जूनागढ़ गुजरात में रैवतक पर्वत के पास स्थित है। यहाँ अशोक के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। यह शकक्षत्रप रूद्रदामन की राजधानी रहा। यहाँ की सुदर्शन झील भी विख्यात है, जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रांतीय गवर्नर पुष्यगुप्त ने करवाया था। बाइसवें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ ने रैवतक पर्वत पर ही निर्वाण प्राप्त किया था, अतः यह जैनियों का भी पवित्र नगर है।

भृगुकच्छ–आधुनिक भड़ौच प्राचीन काल में भृगुकच्छ कहलाता था। भृगु ऋषि की तपस्या तथा बलि द्वारा यज्ञ व वामन को भूमिदान की घटना का क्षेत्र भी यही माना जाता है। यह व्यापार का विख्यात केन्द्र था तथा यहाँ से देश-विदेश के विभिन्न भागों

के साथ व्यापार होता था। यह एक सम्पन्न नगर था। प्लिनी का मानना था कि इस बंदरगाह से भारतीय निर्यात के बदले में रोम से करोड़ों स्वर्ण मुद्राएं भारत में आती थीं।

सोमनाथ : प्रभास–प्राचीन काल में सोमनाथ को प्रभास कहा जाता था। यह व्यापारिक मार्ग के मध्य स्थित होने के कारण विख्यात व्यापारिक केन्द्र था। प्रथम सदी ई. में यहां पर एक विशाल व भव्य मन्दिर बनवाया गया। महमूद गजनवी ने 1025 ई. में इस मंदिर को लूटा था। नहपान के नासिक अभिलेख में इसे पुण्यतीर्थ कहा गया है। अग्नि पुराण में प्रथम बार प्रभास के लिये सोमनाथ शब्द का प्रयोग किया था। यहां पर निर्मित शिव मंदिर दूर-दूर तक प्रसिद्ध था।

द्वारिका–यह गुजराज में समुद्र तट पर स्थित है। इसका संस्थापक श्रीकृष्ण को माना जाता है। श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित किये जाने के कारण विभिनन पुराणों में इसे धार्मिक स्थल माना गया है। यहाँ का 'रणछोड़राय' का मन्दिर कलात्मक है। शंकराचार्य ने यहाँ एक मठ की स्थापना की थी।

अजन्ता–अजन्ता महाराष्ट्र में औरंगाबाद से 36 मील दूर स्थित है तथा यहाँ की गुफाएं अपनी चित्रकला के लिये विश्व विख्यात हैं। ह्वेनसांग ने इनकी कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 1819 ई. में सर एलेक्जेण्डर ने शिकार खेलते समय इन्हें खोजा था।

एलोरा–यह भी महाराष्ट्र में स्थित है तथा यहाँ की गुफायें भी अपनी चित्रकला हेतु विश्वविख्यात हैं। इनका निर्माण आठवीं से दसवीं सदी में किया गया था।

एलीफेन्टा–यह बम्बई के समीप धांरापुरी में स्थित है। यह महेश्वर की त्रिमूर्ति, शिव की तांडव मूर्ति आदि कलात्मक मूर्तियों के लिये विश्वविख्यात है।

नासिक–महाराष्ट्र के गोदावरी जिले में स्थित यह नगर प्राचीन हिन्दू धर्मस्थल था। यह शक क्षत्रप नहपान एवं चालुक्य शासक पुलकेशी द्वितीय के समय में राजनीतिक गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। यहाँ पर जैन, बौद्ध एवं हिन्दू मन्दिरों व मठों के अनेक अवशेष मिले हैं।

अमरावती–यह आन्ध्र प्रदेश में गुन्तूर जिले से सोलह मील दूर स्थित है। सातवाहन शासकों के काल में यह नगर बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। यहाँ की कला बहुत सुन्दर है। मूतिकला में मूर्तियों की कोमलता व भाव भंगिमा दर्शनीय हैं। यहाँ पर आन्ध्र भृत्य राजाओं द्वारा निर्मित स्तूप बहुत महत्त्वपूर्ण है।

कांची–यह तमिलनाडु में स्थित है। यह दक्षिण भारत का काशी कहलाता है। वर्तमान में यह कांजीवरम् कहलाता है। यह विभिन्न धर्मों एवं विद्या का पवित्र तीर्थ स्थल था तथा यहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। बौद्ध दार्शनिक

धर्मपाल, वैष्णव आचार्य रामानुज, दिनाङ्ग आदि इसी नगर की देन हैं। कांची में शिव, विष्णु आदि के भव्य मन्दिर हैं। यहां के मुक्तेश्वर, मतंगेश्वर आदि भी विख्यात हैं। यह पल्लव कला का प्रमुख केन्द्र था। प्रयागप्रशस्ति में भी इस नगरी का उल्लेख मिलता है। ह्वेनसांग भी इस नगर में आया था। उस समय यह विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। पल्लव नरेश महेन्द्र वर्मा ने 'मत्तविलास प्रहसन' की रचना यहीं की थी। पवनदूत के रचयिता धोयी ने कांचीपुरम् को दक्षिणापथ भूषण कहा है।

रामेश्वरम्–यह मद्रास राज्य के दक्षिण समुद्र तट पर स्थित है। इसकी स्थापना आदि शंकराचार्य ने की थी। यह विख्यात धर्म स्थल है। यहां का शिव मन्दिर बारह ज्योर्तिलिंगों में गिना जाता है। यह मन्दिर द्रविड़ शैली का विख्यात मन्दिर है। ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि रावण पर आक्रमण करने के लिये लंका जाते समय राम बानरों तथा भालू की सेना के साथ आये थे। जब समुद्र पार करना कठिन प्रतीत हुआ, तो उन्होंने इस पर एक पुल का निर्माण करवाया था। इस के भग्नावशेष आज भी प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि राम ने यहाँ पर शंकर जी की मूर्ति की भी स्थापना की थी। यह भारत का अन्तिम दक्षिण छोर है। राम की किंवन्दन्ती से जुड़ा होने के कारण हिन्दू इसे अपना तीर्थ स्थान मानते हैं तथा यहाँ बड़ी संख्या में दर्शनार्थ आते हैं।

देवगिरि–यह दक्षिण भारत का एक प्रमुख ऐतिहासिक नगर रहा है। इसकी स्थापना यादव वंश के शासक भिल्लम चतुर्थ ने की थी। इसे 1178 ई. में यादवों ने अपनी राजधानी बनाया था तथा यह 1318 ई. तक यादव साम्राज्य की राजधानी रहा। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् यह नगर निरन्तर उथल पुथल का शिकार रहा। सर्वप्रथम अलाउद्दीन ने यहां पर आक्रमण किया था। तत्पश्चात् मुहम्मद तुगलक ने देवगिरि का नाम दौलताबाद रखकर इसे अपनी राजधानी बना लिया था, किन्तु उसकी यह योजना विफल रही। औरंगजेब को यहीं दफनाया गया था। कालान्तर में इस पर मराठों ने अधिकार कर लिया था।

कल्याण–यह नगर भड़ौच के समीप स्थित है। यह एक विख्यात व्यापारिक नगर था। कल्याण एवं भड़ौंच के मध्य शत्रुता देखने को मिलती है। भड़ौंच पर शकों तथा कल्याण पर सातवाहनों का अधिकार था। भड़ौच के शक शासक कल्याण के व्यापारियों को पकड़कर लूटते थे तथा उन्हें डराते थे, अतः कल्याण के व्यापार का क्षय होने लगा। कार्ले अभिलेख से पता चलता है कि यहाँ यूनानी व्यापारी भी रहते थे। आगे चलकर सातवाहन सत्ता का उत्कर्ष होने पर कल्याण ने अपना व्यापारिक महत्त्व पुनः प्राप्त कर लिया। डॉ. राय ने इस नगर के संबंध में लिखा हैं "छठी सदी के लेखक कास्मस इण्डकों प्लाइस्टस ने कल्याण को भारत के छः प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में गिनाया है। यहाँ से कांसा, लकड़ी एवं कपड़े का व्यापार किया जाता था।

विक्रमांकदेवचरित में इस नगर की चालुक्यकालीन समृद्धि का वर्णन किया गया है।" समुद्र के तट पर स्थित होने के कारण यहाँ कई तरह के रत्न होते थे।

कावेरीपत्तन–यह नगर कावेरी के मुहाने पर स्थित है। यह नगर एक निश्चित योजना के अन्तर्गत बनाया गया था। तमिल ग्रंथों में इसे 'कावेरी-पट्टीनम्' कहा गया है। इससे यहाँ बंदरगाह होने के भी संकेत मिलते हैं। यह नगर 10 मील लम्बा एवं 10 मील चौड़ा वर्गाकार रूप में बसा हुआ था। यह नगर कुछ समय तक चोल शासकों की राजधानी भी रहा। तमिल कवियों ने इसकी सम्पन्नता के संबंध में लिखा हैं, "यह एक ऐसा भू-भाग था, जिसके शान्तिमय इतिहास के पृष्ठों में दुर्भिक्ष, रोग एवं शत्रु आदि के भय के उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।" यह नगर व्यापारिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण था तथा राजनीतिक गतिविधियों का भी केन्द्र रहा। इस नगर की सांस्कृतिक प्रगति की जानकारी हमें 'शिलप्पादिकारम्' से मिलती है। इस नगर में अनेक सुन्दर भवन तथा उद्यान थे। 'शिलप्पादिकारम्' ग्रंथ में इसे अत्यन्त सम्पन्न नगर बताया गया है। यहाँ पर अनेक देशों के व्यापारी आते थे।

मदुरा–कदम्ब के जंगलों के कारण इसे 'कदम्बरन' भी कहा जाता था। इसके अलावा इसे दक्षिणी मथुरा के नाम से भी पुकारा जाता था। यह दक्षिण भारत का शिक्षा, साहित्य, संस्कृति व राजनीति का विख्यात केन्द्र था।

यह नगर पाण्डयों की राजधानी था। इस नगर को एक निश्चित योजना के अनुसार बसाया गया था। इस नगर में अनेक भव्य भवन तथा मनोहारी उद्यान थे। इस नगर में मीनाक्षी देवी का मन्दिर स्थित है, जो दक्षिण का विख्यात तीर्थस्थल है। कालान्तर में मलिक काफूर ने इसे जीतकर अलाउद्दीन के साम्राज्य में मिला दिया था।

तंजौर–यह नगर चोल कला हेतु विख्यात है। यहाँ राजराज प्रथम द्वारा निर्मित वृहदेश्वर का मन्दिर है, जो कलात्मक दृष्टि से विख्यात है। इसे राजराजेश्वर का मंदिर भी कहा जाता था। इस मंदिर में नटराज की मूर्तियां निर्मित हैं, जो कला का एक भव्य नमूना है।

महाबलीपुरम्–यह मद्रास के निकट स्थित है। यह नगर पल्लवकाल में नरसिंह प्रथम महामल्ल द्वारा निर्मित रथ मन्दिर के लिये विख्यात है। इस मंदिर को सात पगोड़ों का मंदिर भी कहा जाता है। व्यापारिक दृष्टि से भी इस नगर का बहुत महत्त्व है। यहां पर राजसिंह शैली में निर्मित शिवमंदिर तथा ईश्वर मंदिर भी मिलते हैं। महामल्ल शैली के आठ मंदिरों के नाम द्रोपदी, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर-धर्मराज, सहदेव, गणेश, पिंडारी, तथा बलैयाट कुट्ट के नाम पर हैं। इन मन्दिरों का निर्माण एक ही पत्थर से निर्मित रथों से हुआ है।

क्विलोन (कोल्लम्) –यह केरल में त्रिवेन्द्रम से 44 मील दूर स्थित है। प्राचीन काल में फिनिशया, अरब, रोम, यूनान, चीन आदि देशों के साथ इसका व्यापार होता

था। अरब लेखकों के अनुसार दक्षिण-पूर्व एशिया में केडा की तरफ रवाना होने से पूर्व पश्चिम से आने वाले जहाज स्वच्छ पानी लेने हेतु क्विलोन के बंदरगाह पर आते थे। इब्नबतूता ने अपने यात्रा वृत्तान्त में विक्लोन को अलेक्जेंड्रिया के समान ही श्रेष्ठ बंदरगाह बताया है। सोलहवीं सदी में यहाँ पुर्तगालियों ने अपनी चौकी स्थापित कर ली थी।

खम्भात (कैम्बे) —गुजरात के पश्चिमी तट पर स्थित खम्भात अथवा कैम्बे का बंदरगाह भी प्राचीन भारत का विख्यात नगर था। यहाँ से भूमध्य सागर एवं पश्चिमी एशिया के देशों से व्यापार होता था। सातवीं से दसवीं सदी के मध्य अरब भूगोलवेत्ताओं ने इस नगर को प्रमुख व्यावसायिक व व्यापारिक केन्द्रों में माना था।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में प्राचीन भारत के नगर अपना गौरवपूर्ण इतिहास लिये हुए हैं।

संदर्भ

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/7/75, ऐतरेच ब्राह्मण (1/23/2/11) शतपथ ब्राह्मण (3/4/4/3)
2. यजुर्वेद (1/7/1-3)
3. गोपथ ब्राह्मण (2/2/7/2)
4. श्वेताश्वरोपनिषद् (3/18)
5. कठकोपनिषद् (2/2/1)
6. ऐतरेय ब्राह्मण (12/3/1)
7. रिज डेविडस : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 39.
8. प्राचीन भारत के नगर तथा नगर जीवन, पृ. 44.
9. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृ. 33.
10. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ. 46.

□

9

भारतीय धर्म

भारत विश्व का धर्म गुरू रहा है तथा विभिन्न धर्मों की जन्म भूमि रहा है। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म, आदि भारत की ही देन है। इनमें से प्रथम तीन का पादुर्भाव तो प्राचीन काल में ही हो चुका था।

जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्कर्ष के कारण

जैन तथा बौद्ध धर्म का उत्कर्ष निम्न कारणों से हुआ–

(1) वैदिक धर्म में जटिलता–उत्तर वैदिक काल तक वैदिक धर्म काफी जटिल हो चुका था। समाज में पुरोहितों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु धर्म को काफी जटिल वना दिया। ऐसी स्थिति में जनता निराश होने लगी। अतः जब महावीर एवं बुद्ध ने धर्म का सरल स्वरूप प्रस्तुत किया, तो जनता ने उसका स्वागत किया।

(2) ब्राह्मणों के महत्त्व में वृद्धि–इस काल में प्रत्येक समस्या के समाधान का आधार वेद थे तथा वेदों की व्याख्या का अधिकार सिर्फ ब्राह्मणों के पास था, अतः उनका महत्त्व बढ़ने लगा। जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त संस्कार ब्राह्मण ही सम्पादित करते थे। वे अब धर्म के नाम पर जनता का शोषण करने लगे तथा विलासी जीवन बिताने लगे। जैन व बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणों के इस प्रभुत्व का विरोध किया।

(3) यज्ञों की जटिलता–ऋग्वैदिक काल में यज्ञ ब्राह्मणों की सहायता के बिना संपादित हो सकते थे, किन्तु उत्तर वैदिक काल में वे बहुत जटिल हो गये। अब यज्ञ 7 से 17 पुरोहितों द्वारा सम्पादित होने लगे व महीनों तक चलने लगे। इसके अलावा यज्ञों में बलि का महत्त्व भी बढ़ने लगा। इस यज्ञों के खर्चीले होने से जनसाधारण इन्हें नहीं करवा पाता था तथा दुःखी था। ऐसी स्थिति में बुद्ध महावीर द्वारा प्रस्तुत सरल उपदेशों को जनता ने बड़े उत्साह से ग्रहण किया।

(4) जातिगत भेदभाव–ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी, किन्तु उत्तर वैदिक काल में आते-आते यह जन्म पर आधारित हो गयी तथा जाति भेदभाव बहुत बढ़ गये। शूद्रों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उन्हें वेद पढ़ने व यज्ञ करने का अधिकार न था। जाति परिवर्तन लगभग असंभव था। ऐसे समय में जब

महावीर तथा बुद्ध ने सामाजिक समानता का उद्‌घोष किया, तो लाखों लोग उनके अनुयायी बन गये।

(5) अन्य कारण–

(i) इस समय जनता की भाषा पाली व प्राकृत थी, किन्तु सभी धर्म ग्रंथ संस्कृत भाषा में थे तथा सभी कर्मकाण्ड भी ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत में ही सम्पन्न करवाये जाते थे। जनसाधरण संस्कृत को समझ नहीं पाता था तथा चाहता था कि बोलचाल की भाषा में उक्त कार्य संपादित हो।

(ii) उपनिषदों ने भी जैन तथा बौद्ध धर्म की पृष्ठ भूमि तैयार कर दी। उपनिषदों में यज्ञों, कर्मकाण्डों व ब्राह्मणों के प्रभुत्व की खुली आलोचना करते हुए यज्ञ कराने तथा करने वाले को मूर्ख कहा गया है। उपनिषदों ने ज्ञान प्राप्ति, अहिंसा व आचरण की पवित्रता पर बल दिया है।

जैन धर्म

जैन धर्म की प्राचीनता–जैन शब्द 'जिन' से निकला है, जिसका अर्थ है विजेता अथवा संसार के मोह रूपी रणक्षेत्र में विजय प्राप्त करने वाला। जैन धर्म के तीर्थंकर 'जिन' तथा उनके अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। जैन धर्म के संस्थापकों को तीर्थंकर[1] कहा जाता है, क्योंकि वे मोह माया रूपी इस संसार की नदी को पार करने का मार्ग बतलाते हैं।

जैन साहित्य के अनुसार जैन धर्म वैदिक काल से भी प्राचीन है इसके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, ऋग्वैदिक काल में हुए थे। ऋग्वेद[2] के मंत्रों में इनका उल्लेख है। अथर्ववेद[3] तथा गोपथ ब्राह्मण[4] में भी इनका प्रसंग आता है। गीता में भी ऋषभदेव का हवाला है।[5] ऋग्वेद में जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भी उल्लेख है।[6] तेबीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे, जिन्होंने चार उपदेश दिये (1) अहिंसा, (2) सत्य, (3) अस्तेय, (4) अपरिग्रह। कालान्तर में महावीर स्वामी ने इसमें 'ब्रह्मचर्य' ओर जोड़ दिया था।

महावीर स्वामी (599-527 ई. पू.)

जीवन परिचय–जैन धर्म के 24 वें तीर्थंकर महावीर स्वामी जैन धर्म के सुधारक थे, संस्थापक नहीं। उनका जन्म 599 ई. में बिहार में वैशाली के पास कुण्डग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का नाम त्रिशला था। इनके बचपन का नाम वर्द्धमान था। इनके पिता वज्जि राज्य संघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गणराज्य के शासक थे। इनका प्रारंभिक जीवन ठाट-बाट से बीता। युवावस्था में इनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी से हुआ, जिससे इनके प्रियदर्शिनी नामक पुत्री पैदा हुई। इनका सांसारिक कार्यों में मन नहीं लगता था। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद ये 30 वर्ष

की आयु में संन्यासी बन गये तथा इन्होंने कठोर साधना की। कल्प सूत्र में लिखा है, "महावीर एक वर्ष और एक मास तक एक ही वस्त्र पहने रहे। परिणाम यह हुआ कि वह जीर्ण-शीर्ण होकर गिर गया। अब वर्द्धमान ने नंगे रहना प्रारंभ किया। अब वे नंगे और ध्यानमग्न घूमते, तो उन्हें देखकर लड़कों के झुण्ड दौड़ते, शोर मचाते और उन्हें पत्थर मारते थे। बहुत से दुष्ट इन्हें डण्डों से पीटते भी थे, किन्तु फिर भी वे मौन तथा शान्त रहते थे।"

12 वर्ष की कठोर तपस्या के बाद तेरहवें वर्ष में वैशाख मास में दसवीं के दिन जुटम्भिक गाँव के पास ऋजुपालिका नदी के तट पर उन्हें कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। तपस्या के दौरान अपूर्व साहस दिखाने के कारण इन्हें महावीर कहा जाने लगा। इसके बाद उन्होंने अपने विचारों का बहुत प्रसार किया। अन्त में 527 ई. में पटना के समीप पावापुरी में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

जैन धर्म की शिक्षाएं या सिद्धांत

जैन धर्म के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं–

(1) जैन धर्म के सात तत्व–जैन धर्म में मोक्ष को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है एवं इस हेतु सात तत्त्व प्रस्तुत किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं।

(i) **जीव**–जैन धर्म जीव व अजीव दोनों तत्वों में विश्वास करता है तथा इन्हें अनादि व अनन्त मानता है। जैन धर्म के अनुसार इस जगत का निर्माण भी जीव तथा अजीव से मिलकर ही हुआ है। यह चेतन्य तत्त्व ही आत्मा है। अजीव (शरीर) में प्रवेश करने पर जीव को सुख-दुःख आदि महसूस होते हैं। शरीर वस्तुतः भौतिक तत्त्व है। इस भौतिक तत्त्व के ढके रहने से जीव को आत्मा का ज्ञान नहीं हो पाता। कर्म बन्धन से जब जीव भौतिक तत्व (पुद्गल) से जुड़ जाता है, तो आत्मा में निहित ज्ञान का प्रकाशनष्ट होने लगता है एवं इस भौतिक तत्त्व से जुड़ा रहने के कारण उसे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हो पाता। मनुष्य की आत्मा पवित्र हो जाने पर इससे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

(ii) **अजीव**–अजीव अचेतन है एवं यह 'पुद्गल' भी कहलाता है, अर्थात् जिसे जोड़कर बड़ा एवं तोड़कर छोटा किया जा सके। पुद्गल ही कर्म है, जो जीव को घेरे रखता है। जीव का पुद्गल से संयुक्त होना संसार का कारण बन जाता है।

(iii) **बन्धन**–जीव तथा कर्म अथवा पुद्गल का संयोग ही बन्धन कहलाता है। कर्म ही बंधन का कारण है। जीव के शरीर में प्रवेश करने पर उसका शुद्ध स्वरूप समाप्त हो जाता है।

(iv) **आस्रव**–राग, द्वेष व मोह आदि से प्रेरित होकर किये गये कर्मों की तरफ भी

जीव का प्रवाह रहता है। इसे आस्रव कहा जाता है। आस्रव से ढक जाने पर जीव बंधन में पड़ जाता है एवं अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। उसे अपने कर्मों का फल भोगने के लिये निरन्तर विभिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है। अतः वह जन्म मरण के चक्र में फंस जाता है। इससे मुक्ति हेतु जैन धर्म में दो क्रियाएं बतायी गयी हैं—संवर तथा निर्जरा।

(v) **संवर**–संवर द्वारा जीव पर कर्मों का प्रभाव रोकने का प्रयास किया जाता है। पूर्व जन्म के कर्मों के फल को भोगने के लिये जीव को निरन्तर जन्म लेना पड़ता है उस पर और अधिक कर्मों के प्रभाव को रोकने को ही संवर कहते हैं। मनुष्य संयम,उपवास, व्रत, तपस्या आदि द्वारा नये कर्मों के प्रवाह को रोकने का प्रयास करता है।

(vi) **निर्जरा**–पूर्व जन्म के संचित कर्म फल को कठोर साधना तथा तपस्या द्वारा समाप्त करने को निर्जरा कहते हैं।

(vii) **मोक्ष**–जैन धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने पूर्व जन्म के कर्मों का नाश करना चाहिये तथा इस जन्म में कोई नये कर्म नहीं करने चाहिये। इस प्रकार वह मोक्ष प्राप्त कर जन्म मरण के बंधन से मुक्त हो सकता है।

(2) त्रिरत्न–जैन धर्म में त्रिरत्न है, जिनका पालन कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ये त्रिरत्न इस प्रकार हैं–

(i) **सम्यक ज्ञान**– इसका तात्पर्य है सत्य का ज्ञान तथा यह तीर्थंकरों के उपदेशों के अध्ययन से प्राप्त होता है।

(ii) **सम्यक दर्शन**–इसका तात्पर्य है मनुष्य को तीर्थंकरों के उपदेशों में विश्वास रखना चाहिये तथा दृढ़ता व निष्ठा के साथ उनकी पूजा करनी चाहिये।

(iii) **सम्यक चरित्र**–इसका तात्पर्य है कि मनुष्य को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य इन पाँच महाव्रतों के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करना चाहिये।

(3) पंच महाव्रत– जैन धर्म जैन साधुओं को निम्न पंच महाव्रतों का पालन करने का आदेश देता है–

(i) **अहिंसा**–यह जैन धर्म का सर्वप्रमुख सिद्धांत है। अहिंसा का तात्पर्य है मन, वचन तथा कर्म से किसी भी व्यक्ति को कोई कष्ट न पहुंचाना। जैन धर्म चेतन तथा अचेतन सभी में, यहाँ तक कि पेड़-पौधे तथा मिट्टी के कण में भी जीव मानता है तथा अहिंसा अपनाने को कहता है। अतः जैन संत नंगे पांव चलते हैं तथा मुंह पर पट्टी बांधते हैं। इस कारण ही हाप्किन्स नामक विद्वान ने कहा था, "जैन धर्म अन्य कार्यों के साथ कीट कीटाणुओं का भी पोषण करता है।"

(ii) **सत्य**–जैन साधु को हमेशा सत्य बोलना चाहिये तथा कभी भी झूंठ का सहारा नहीं लेना चाहिये।

(iii) **अस्तेय**–इसका तात्पर्य है चोरी न करना। छल कपट से धन नहीं कमाया जाना चाहिये।

(iv) **अपरिग्रह**–इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति को अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुएं संग्रहीत नहीं करनी चाहिए।

(v) **ब्रह्मचर्य**–जैन साधु को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्त्रियों से सम्पर्क नहीं रखना चाहिये।

(4) पाँच अणुव्रत–जैन धर्म में गृहस्थ को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य इन पाँच अणुव्रतों का पालन करना पड़ता है। केवल गृहस्थों हेतु इनकी कठोरता में कमी कर दी गयी है। अहिंसा के अन्तर्गत वे पानी छानकर पीते हैं, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन नहीं करते हैं। अपरिग्रह में उनसे आवश्यकता से अधिक वस्तुएं संगृहीत न करने को कहा गया है। ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत वह अपनी पत्नी के अलावा अन्य किसी स्त्री से संबंध नहीं रख सकता।

(5) तीन गुण व्रत–जैन गृहस्थों को निम्न तीन गुण व्रतों का पालन करना पड़ता है।

(i) **दिग्व्रत**–इसके अनुसार जैन गृहस्थ यह नियम ग्रहण करता है कि मैं निश्चित दिशा में निश्चित दूरी से अधिक नहीं जाऊंगा।

(ii) **अनर्थ दण्डव्रत**–मनुष्य को बिना कारण अपराध का भागी नहीं बनना चाहिये।

(iii) **उपभोग परिभोग**–निश्चित परिभाषा से अधिक भोजन नहीं करना चाहिये।

(6) चार शिक्षाव्रत–जैन गृहस्थों को निम्न चार शिक्षाव्रतों का पालन करना चाहिये–

(i) **देशव्रत**– व्यक्ति को निश्चित करना चाहिये कि मैं अमुक दिशा में अमुक दूरी से आगे नहीं आऊंगा।

(ii) **सामयिक**–जैन गृहस्थों को दिन में कम से कम एक घण्टा धर्म का चिंतन करना चाहिये।

(iii) **पोष धौपवास**–प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास करके साधुओं के समान जीवन व्यतीत करना चाहिए।

(iv) **अतिथि सविभाग**–घर आये अतिथि तथा साधु का स्वागत करना चाहिये।

(7) कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धांत–जैन धर्म कर्म व पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास करता है। इसके अनुसार पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार मनुष्य का निरन्तर पुनर्जन्म होता रहता है तथा वह जन्म चरण के चक्र में फंसा रहता है। अतः मनुष्य को अच्छे कर्म

करके मोक्ष प्राप्त करके जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(8) अनेकात्मवाद–जैन धर्म उपनिषदों के समान एकात्मवाद में विश्वास नहीं करता, बल्कि अनेकात्मवाद का समर्थक है। उसका मानना है कि संसार के प्रत्येक प्राणी में अलग-अलग आत्मा होती है। वह पेड़-पौधों तथा पत्थरों तक में आत्मा मानता है। उसके अनुसार आत्मा अजर-अमर है।

(9) द्वैतवाद–जैन धर्म के अनुसार मनुष्य का निर्माण शरीर तथा आत्मा से मिलकर होता है। शरीर नाशवान तथा आत्मा अमर है। कर्मों का फल भोगने के लिये आत्मा निरन्तर नये शरीर धारण करती रहती है। जब किसी कर्म का फल भोगना शेष नहीं रहता, तो आत्मा पवित्र होकर मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

(10) ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास –जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करता है तथा उसे सृष्टि का रचयिता नहीं मानता। मनुष्य की आत्मा में ही सम्पूर्ण शक्ति निहित है। महावीर स्वामी ने कहा है, " मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान है और जो शक्ति और नैतिकता है, वही भगवान है।"

(11) तपस्या व उपवास पर बल–महावीर के अनुसार मनुष्य घोर तपस्या व उपवास द्वारा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रख सकता है। अतः जैन शास्त्रों में घोर तप, व्रत व उपवास आदि पर बल दिया जाता है।

(12) निवृत्ति पर बल–जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के दु:ख का मूल कारण तृष्णा है। जैन साहित्य में एक स्थान पर कहा गया है कि व्यक्ति की तृष्णा तो उसे सम्पूर्ण पृथ्वी का मालिक बना दिये जाने पर भी शान्त नहीं हो सकती। अतः व्यक्ति को निवृत्ति प्राप्त करने के लिये घर त्याग कर संन्यासी बन जाना चाहिये। जैन धर्म के अनुसार व्यक्ति को संन्यासी बने बिना मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

(13) उच्च नैतिक जीवन पर बल–महावीर ने लोगों को उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करने तथा झूंठ, क्रोध, चोरी, चुगली, द्वेष आदि से दूर रहने का उपदेश दिया है। हमें पापी से नहीं, पाप से घृणा करनी चाहिये।

(14) वैदिक आडम्बरों की निन्दा–महावीर स्वामी वेदों को प्रामणिक ग्रंथ तथा ईश्वरीय कृति न मानकर मानवीय कृति मानते हैं। उन्होंने हिंसक यज्ञों, ब्राह्मणों के प्रभुत्व तथा वैदिक धर्म के आडम्बरों की निन्दा की।

(15) सामाजिक समानता का समर्थन–महावीर स्वामी ने जाति भेद का विरोध करते हुए सामाजिक समानता पर बल दिया। वे वर्ण व्यवस्था को कर्म पर आधारित मानते थे तथा उनका मानना था कि सभी व्यक्तियों में समान आत्मा निवास करती है तथा सभी व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

(16) स्याद्वाद का सिद्धांत–स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त रूप, पक्ष तथा गुण हैं, जिनका पूर्ण ज्ञान तो मोक्ष प्राप्ति के बाद ही संभव है। अतः सामान्य व्यक्ति किसी भी वस्तु के केवल एक ही पक्ष को देख सकता है। प्रत्येक पक्ष या दृष्टिकोण में सत्य का अंश अवश्य होता है, किन्तु कोई भी मत पूर्ण नहीं होता। अतः हमें अपने ही मत को सत्य न मानकर दूसरों के मतों का भी सम्मान करना चाहिये। यह दृष्टिकोण बड़ा उदार है। डॉ. रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, "जैन धर्म के अनेकान्तवाद या स्याद्वाद में उदारता एवं सहिष्णुता का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है।"[7] डॉ. राजबली पाण्डेय ने लिखा है "सत्य के कई पहलू हैं तथा मनुष्य को परिस्थिति भेद में उनका आंशिक ज्ञान ही होता है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसी का विचार सत्य है और दूसरों का असत्य। यह सिद्धांत महावीर की बौद्धिक उदारता का परिचय देता है।

जैन संघ की स्थापना–महावीर ने पावां नगर में 11 ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपना शिष्य बना लिया तथा अपने संघ की नींव रखी। जैनसंघ में चार श्रेणियां थीं–(1) भिक्षु, (2) भिक्षुणी, (3) श्रावक तथा (4) श्राविका। प्रथम दो श्रेणियाँ गृहस्थों की थीं। भिक्षुओं को पंच महाव्रतों के अनुसार कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उन्हें सम्पत्ति रखने, जूते व छाते के प्रयोग करने तथा सुगंधित पदार्थों के प्रयोग का अधिकार न था।

जैन सम्प्रदाय–महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् सुधर्मन जैन धर्म का मुख्य प्रचारक बना। तत्पश्चात् जम्बू ने 44 वर्ष तक धर्मगुरू के पद पर कार्य किया। मगध के नन्द वंश के अन्तिम शासक के समय जैन धर्म के दो गुरू थे - सम्भूत विजय तथा भाद्रबाहु।

कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त के शासन काल में मगध में भयंकर अकाल पड़ने पर भद्रबाहु अपने शिष्यों के साथ दक्षिण चले गये। दूसरी तरफ स्थूलभद्र के नेतृत्व में कुछ साधुओं ने मगध में सभा की। इसमें जैन साहित्य को व्यवस्थित कर उसे अंग का नाम दिया गया इस सभा में जैनियों के 12 अंगों की रचना हुई। इन साधुओं ने श्वेत वस्त्र पहन लिये एवं भिक्षुणियों को भी संघ में प्रवेश दिया। कालान्तर में दक्षिण से लौटने पर भद्रबाहु ने इन परिवर्तनों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया ,तथा जैन धर्म श्वेताम्बर 'सफेद वस्त्र पहनने वाले' तथा दिगम्बर (नंगे रहने वाले) दो भागों में बंट गया।

श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय में अन्तर

(1) श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सन्त सफदे वस्त्र पहनते हैं, जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते हैं।

(2) दिगम्बर सम्प्रदाय जैन धर्म के नियमों का कठोरता से पालन करता है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उतनी कठोरता नहीं है।

(3) दिगम्बर वस्त्र को मोक्ष प्राप्ति में बाधक मानते हैं, जबकि श्वेताम्बर ऐसा नहीं मानते हैं।

(4) दिगम्बर के अनुसार स्त्रियां मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं, जबकि श्वेताम्बर के अनुसार वे मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं।

(5) दिगम्बर के अनुसार ज्ञान प्राप्त के पश्चात् व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता नहीं रहती, जबकि श्वेताम्बर के अनुसार रहती है।

(6) दिगम्बर महावीर को अविवाहित मानते हैं, जबकि श्वेताम्बर उन्हें विवाहित तथा प्रियदर्शिनी नामक पुत्री का पिता मानते हैं।

(7) दिगम्बर 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ को पुरुष मानते हैं, जबकि श्वेताम्बर उन्हें स्त्री मानते हैं।

(8) दिगम्बरों के मन्दिरों की मूर्ति में नेत्र होते हैं, जबकि श्वेताम्बरों के मन्दिरों की मूर्तियों में नेत्र नहीं होते हैं।

जैन धर्म का विकास तथा प्रसार–महावीर ने उत्तरी तथा दक्षिणी बिहार में जैन धर्म का प्रचार किया था, किन्तु उनके अनुयायियों ने सम्पूर्ण भारत में इसका प्रचार किया। मगध के अजातशत्रु, बिम्बिसार, उदयन आदि शासकों ने जैन धर्म को अपनाकर इसे संरक्षण दिया था। सभी नन्द शासक भी जैन ही थे। चौथी सदी ई. पू. में श्रवणबेलगोला जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया। चन्द्रगुप्त ने भी अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जैन धर्म स्वीकार कर लिया तथा इसे संरक्षण दिया।[8] उसके पौत्र सम्प्रत्ति तथा कलिंग के खारवेल शासकों ने जैनधर्म स्वीकार कर इसका बहुत प्रसार किया।

प्रथम सदी ई. पू. में जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र उज्जैन था। कुषाण काल में मथुरा इस धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा। इसे गंग, चालुक्य एवं राष्ट्रकूट वंश के शासकों ने संरक्षण दिया। गुजरात का शासक सिद्धराज एवं उसका पुत्र कुमारपाल इसी धर्म के अनुयायी थे। यद्यपि जैन धर्म का बौद्ध धर्म की तुलना में धीमी गति से प्रचार हुआ, किन्तु आज भी राजस्थान, मालवा, गुजरात तथा अन्य भागों में इसके लाखों अनुयायी दिखायी देते हैं।

जैन धर्म के प्रसार के कारण

जैन धर्म का निम्नलिखित कारणों से प्रसार हुआ–

(1) **महावीर का व्यक्तित्व**–महावीर के प्रभावशाली व्यक्तित्व से जैन धर्म का बड़ा प्रसार हुआ। उन्होंने स्थान-स्थान पर घूमकर जैन धर्म का प्रसार किया।

(2) **सरल धर्म**–जैन धर्म सरल व स्पष्ट था। यह यज्ञों, कर्मकाण्डों व ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोधी तथा कर्म प्रधान मार्ग का समर्थक था, अतः जनता ने इसका स्वागत किया।

(3) **लोकभाषा का प्रयोग**–महावीर द्वारा जनभाषा प्राकृत में अपने विचारों का प्रचार करने से जनसाधारण उनकी तरफ आकर्षित हुआ।

(4) **राजकीय संरक्षण**–हर्यक वंश के शासकों, चन्द्रगुप्त मौर्य सम्प्रति, खारवेल शासकों, नन्द वंश, राष्ट्रकूट गंग व चालुक्य आदि राजवंशों के संरक्षण से जैन धर्म का बहुत प्रसार हुआ।

(5) **महावीर व उनके शिष्यों का आदर्श जीवन**–महावीर तथा उनके शिष्यों के आदर्श तथा त्यागमय जीवन के कारण भी जनता जैन धर्म की तरफ आकर्षित होने लगी।

(6) **प्रतिस्पर्द्धी धर्मों का न होना**–जैन धर्म के उदय के समय वैदिक धर्म विभिन्न आडम्बरों के कारण लड़खड़ा रहा था तथा जैन धर्म से प्रतिस्पर्द्धा करने वाला अन्य कोई धर्म न था। अतः इसका तीव्र प्रसार हुआ।

(7) **समानता पर बल**–महावीर स्वामी ने जाति भेद का विरोध करते हुए सामाजिक समानता पर बल दिया तथा मोक्ष के द्वार सभी के लिये खोल दिये। अतः जैन धर्म को निम्न जातियों ने बड़े उत्साह से अपनाया।

जैन धर्म के सीमित प्रसार के कारण

जैन धर्म के सीमित प्रसार के कारण निम्नलिखित थे–

(1) जैन धर्म की कठोरता–मुंह पर पट्टी बांधना, नंगे पांव चलना, पेड़ो तथा पत्थरों तक को कष्ट न पहुंचाना आदि जैन धर्म की कठोर कियाओं को जनता ने अव्यावहारिक समझा, अतः इसका प्रसार सीमित रहा।

(2)जाति प्रथा का प्रवेश–महावीर ने जाति प्रथा का विरोध किया था, किन्तु कालान्तर में जाति प्रथा के इसमें पुनः प्रवेश करने से इसका प्रसार विस्तृत न हो सका।

(3) जैन संघ के दोष–जैन संघ का संगठन प्रजातांत्रिक नहीं था। इसमें एक धर्माचार्य होता था, जो सर्वेसर्वा था। अतः जैन धर्म का संगठन मजबूती प्राप्त न कर सका।

(4) विद्वानों का अभाव–जैन धर्म में ऐसे विद्वानों का अभाव था, जो प्रतिस्पर्द्धी धर्मों के मतों का खण्डन करके अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करते।

(5) राजकीय संरक्षण न मिलना–जैन धर्म को पर्याप्त राजकीय संरक्षण न मिल पाया। यदि इसे अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त तथा हर्ष जैसे शासकों का संरक्षण मिलता, तो यह भी बौद्ध धर्म की भाँति प्रगति करता।

(6) जैन प्रचारकों में उत्साह न होना–बौद्ध प्रचारकों ने विभिन्न प्राकृतिक बाधाएं सहनकर बौद्ध धर्म का देश के विभिन्न भागों व विदेशों में प्रचार किया, किन्तु जैन धर्म में ऐसा उत्साह न था।

(7) अन्य धर्मों की प्रतिस्पर्द्धा–बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्द्धा तथा हिन्दू धर्म की शैव एवं वैष्णव शाखाओं के उत्थान के कारण भी जैन धर्म अधिक प्रगति न कर सका।

(8) जैन धर्म में फूट–जैन धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया तथा कालान्तर में इन सम्प्रदायों में भी अनेक सम्प्रदाय बन गये, अतः जैन धर्म विशेष उन्नति न कर सका।

जैन साहित्य–जैन साहित्य 'अंग' कहलाता है तथा इसकी रचना दो भागों में हुई थी। महावीर की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र में हुई प्रथम सभा में बारह अंगों की रचना की गयी थी। दूसरी सभा 512 ई. में वल्लभी नामक स्थान पर देवाधि नामक जैन साधु की अध्यक्षता में हुई थी। इस सभा में निश्चित किया गया साहित्य का स्वरूप आज तक विद्यमान है। जैन आगम के निम्न ग्रंथ प्रमुख हैं–

(i) **आचरण सूत्र**–इसमें भिक्षुओं के आचरण के नियमों का वर्णन है।

(ii) **भगवती सूत्र**–इसमें महावीर स्वामी द्वारा प्रश्नोत्तर रूप में जैन धर्म का वर्णन किया गया है।

(iii) **कल्पसूत्र**–इसकी रचना भद्रबाहु ने की थी।

जैन धर्म की भातीय संस्कृति को देन

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन इस प्रकार है–

(1) धार्मिक एवं सामाजिक देन

(i) **अहिंसा का सिद्धांत**–जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धांत ने भारतीय समाज को बहुत प्रभावित किया। महावीर स्वामी ने मन वचन तथा कर्म से किसी को कष्ट न पहुंचाने को कहा। जैन धर्म के प्रभाव से यज्ञों में पशुबलि बंद होने लगी। आज भी समाज पर 'अहिंसा परमोधर्मः', के जैन सिद्धांत का काफी प्रभाव दिखता है। इस सिद्धांत ने अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक तथा अकबर जैसे शासकों को बहुत प्रभावित किया। गांधी के आंदोलन का आधार अहिंसा ही थी। नेहरू का पंचशील भी अहिंसा पर आधारित था।

(ii) **सामाजिक समानता का उद्‌घोष**–माहावीर ने जाति प्रथा का विरोध करते हुए सामाजिक समानता का उद्‌घोष किया व जैन धर्म के द्वार सभी जातियों के लिये खोल दिये। उनका मानना था कि सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है तथा व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके जन्म से न होकर कर्म से होता है। अतः ब्राह्मणों के प्रभुत्व में कमी आयी तथा जाति बंधन ढीले पड़ने लगे।

(iii) **अच्छे कार्य की प्रेरणा**–जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के इस जन्म के कर्मों के अनुसार ही उसका अगला जन्म होता है। अतः लोगों में सत्कार्य करने की प्रेरणा जागृत हुई।

(iv) **उच्च नैतिक जीवन पर बल**–जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित गृहस्थों के लिये निर्धारित किये गये पाँच अणुव्रतों से भारतीय समाज में पवित्रता व शुद्धता आयी। लोगों द्वारा व्रत, तप, उपवास करने से उनका नैतिक स्तर ऊंचा उठा।

(v) **वैदिक आडम्बरों का विरोध**–जैन धर्म ने वैदिक धर्म के आडम्बरों, कर्मकाण्डों आदि का विरोध करते हुए जनता के समक्ष एक सरल धर्म प्रस्तुत किया।

(2) **राजनीतिक देन**–राजनीतिक क्षेत्र में भी जैन धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा। अहिंसा के प्रभाव से जनता युद्धों से विमुख होकर शान्तपूर्ण जीवन बिताने लगी। मगध नरेश अजातशत्रु तथा नन्द शासक भी जैन धर्म के अनुयायी बनने के कारण युद्ध से विमुख होने लगे, अतः भारतीयों को विदेशियों के हाथों क्षति उठानी पड़ी। किन्तु अनेक आधुनिक इतिहासकार अहिंसा को भारतीयों की पराजय का कारण नहीं मानते।

(3) **साहित्यिक देन**–जैन साहित्य संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में रचा गया। इसे दो भागों में बांटा जाता है–

(i) **श्वेताम्बर सम्प्रदाय का साहित्य**–इसको 'अंग' कहते हैं व इसकी संख्या 12 है। इस सम्प्रदाय का साहित्य अर्द्ध मगधी भाषा में लिखा हुआ है।

(ii) **दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य**–यह पुराण कहलाता है तथा संस्कृत में लिपिबद्ध है। यह चार भागों में विभक्त है तथा दूसरी सदी में संकलित किया गया था। गुजरात नरेश कुमारपाल के दरबार में रहने वाले जैन संत हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल चरित्र' की रचना की थी।

(4) **भाषा के विकास में देन**–जैनियों ने विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं में अपने ग्रंथ लिखकर उन भाषाओं के विकास को प्रोत्साहित किया। जैनों ने संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश भाषा में कई ग्रंथ लिखे, जिससे आगे चलकर मराठी, हिन्दी व गुजराती का जन्म हुआ। जैनियों ने कन्नड़, तमिल व तेलगू आदि दक्षिणी भारतीय भाषाओं के विकास में भी बड़ा योगदान दिया।

(5) **दार्शनिक देन**–दार्शनिक क्षेत्र में जैन धर्म ने स्याद्‌वाद का सिद्धांत दिया। इसकी व्याख्या करते हुए महावीर ने कहा था, "किसी बात के सिद्धांत को एक तरफ से मत देखों, एक ही तरह उस पर विचार मत करो। तुम जो कहते हो, वह सच होगा, किन्तु दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है। इसलिये सुनते ही भड़को मत, वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो। आज संसार में जो तनाव और द्वंद हैं, वह दूसरों के दृष्टिकोण न समझने के कारण हैं।" वस्तुतः यह सिद्धांत जैन धर्म की सहिष्णुता एवं उदारता का परिचायक है।

(6) **कलात्मक देन**–कला के क्षेत्र में भी जैन धर्म की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन रही है। उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरी तथा खण्डगिरि में 150 ई. पू. के आस-पास की 35 जैन गुफाएं मिली हैं। एलोरा में भी कई जैन गुफाएं मिली हैं, खजुराहो में भी अनेक जैन मन्दिर हुए हैं। राजस्थान में आबू पर्वत पर स्थित देलवाड़ा का मन्दिर कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विख्यात है। इस मन्दिर में मूर्ति कला, बेलबूटों, तोरणद्वारों व नक्काशी का काम अत्यन्त सुन्दर है। राजस्थान में राणकपुर, काठियावाड़ में गिरनार व पालीताना, बिहार में पारसनाथ आदि जैन मंदिर भी विख्यात हैं। शत्रुंजय की पहाड़ी पर 500 जैन मन्दिर बने हुए हैं।

मैसूर में श्रवण बेलगोला से प्राप्त गोमतेश्वर की 70 फीट ऊंची प्रतिमा विश्व की आश्चर्चजनक चीजों में गिनी जाती है, इसका निर्माण गंगाये नरेश राजमल्ल चतुर्थ (977-995 ई.) के जैन मंत्रीचामुण्डराय ने करवाया था। इसके संबंध में डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, "बेलगोला में गोमतेश्वर तथा मैसूर में करकल के नाम से प्रसिद्ध बाहुबलि की प्रतिमाएं संसार की आश्चर्यजनक मूर्तियों में से एक हैं। देलवाड़ा का जैन मन्दिर कलाकारों की दृष्टि से ताजमहल के मुकाबले का भवन है।"

चित्रकला के क्षेत्र में हस्तलिखित जैन पुस्तकों के हाशियों पर सुन्दर रंग बिरंगे चित्र मिले हैं। इस प्रकार जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन दी।

बौद्ध धर्म

छठी सदी ई. पू. में दूसरे महापुरुष महात्मा बुद्ध हुए थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म की नींव रखी। यह धर्म आज भी विश्व के एक तिहाई भाग में अर्थात् चीन, तिब्बत, मंचूरिया, कोरिया, जापान, इण्डोनेशिया, मंगोलिया, मलाया, बर्मा, लंका, नेपाल आदि देशों में प्रचलित है।

महात्मा बुद्ध (563 ई. पू.–483 ई. पू.)

जन्म–बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ तथा गोत्र गौतम था। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य गणराज्य के शासक थे। शाक्य शाखा से संबंधित होने के कारण सिद्धार्थ को शाक्य मुनि भी कहा जाता था। उनकी माता महामाया कोलीय वंश की राजकुमारी थीं। सिद्धार्थ का जन्म महामाया के गर्भावस्था में अपने पिता के साथ जाते समय नेपाल के तराई में स्थित कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी वन में बैशाख मास की पूर्णिमा को हुआ था। कालान्तर में अशोक ने यहाँ पर स्तम्भ गड़वा दिया, जिस पर यह अंकित था, "यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था।"

विवाह–सिद्धार्थ के जन्म के एक सप्ताह बाद ही इनकी माता की मृत्यु हो गयी। अतः इनका पालन पोषण प्रजापति गौतमी, जो इनकी मौसी व सौतेली मां थी, ने किया।

बुद्ध के जन्म पर असित नामक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि यह बालक या तो महान् चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या फिर माहान् संन्यासी बनकर नये धर्म की नींव रखेंगा[9]

सिद्धार्थ का मन बचपन से ही सांसारिक कार्यों में नहीं लगता था। उनके पिता शुद्धोदन ने उनके लिये समस्त सांसारिक सुखों की व्यवस्था की, किन्तु सिद्धार्थ विरक्त रहे। वे निरन्तर एकान्त में बैठकर गूढ़ रहस्यों पर चिंतन करते थे। अतः 16 वर्ष की आयु में उनका विवाह यशोधरा नामक सुन्दर राजकुमारी से हो गया तथा कुछ समय बाद उनके 'राहुल' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र जन्म पर उन्होंने कहा था, "एक बन्धन और उत्पन्न हो गया।"

चार महान् संकेत एवं गृहत्याग–बौद्ध सूत्रों के अनुसार वृद्ध पुरूष, दुःखी रोगी, मृत शरीर तथा संन्यासी इन चार दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ ने सोचा कि संसार दुःखों का घर है तथा संन्यास ही इससे निवृत्ति का मार्ग है। अतः उन्होंने घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। 29 वर्ष की आयु में वे अपनी पत्नी व बच्चे को सोता हुआ छोड़कर संन्यासी बनने हेतु गृहत्याग कर निकल पड़े। यह घटना 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाती है।

ज्ञान प्राप्ति–गृह त्याग के बाद सिद्धार्थ ने केश कटवाकर भगवा वस्त्र पहन लिये। पहले उन्होंने कालाम व रामपुत्र से दीक्षा ग्रहण की, किन्तु उन्हें शान्ति न मिली। तत्पश्चात् उन्होंने गया के समीप निरंजना नदी के किनारे उरूवेला वन में कठोर तपस्या की, जिससे उनका शरीर सूखकर कांटा हो गया, किन्तु कोई लाभ न हुआ। एक जनश्रुति के अनुसार एक बार उस वन में कुछ स्त्रियाँ यह गीत गाते हुए निकलीं, "अपनी वीणा के तारों को इतना ढीला भी मत छोड़ो की बजे ही नहीं और इतना कसो भी मत कि टूट ही जाये।" अब सिद्धार्थ ने मध्यम मार्ग पर चलने का निश्चय किया तथा सुजाता नामक कन्या से खीर ग्रहण की। तत्पश्चात् उन्होंने निरंजना नदी के तट पर पीपल के वृक्ष् के नीचे समाधि लगा दी। आठवें दिन उन्हें सत्य के दर्शन हुए। अब 'बुद्ध' (जिसे ज्ञान प्राप्त हो) के नाम से विख्यात हुए और वह स्थान बोधगया तथा वह वृक्ष बोधिवृक्ष कहलाया।

ज्ञान प्रचार–ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने अपने विचारों का प्रचार करने का निश्चय किया तथा बौद्ध धर्म की स्थापना की। आर. आर. दिवाकर ने लिखा है, "यदि गौतम के गृह त्याग ने संसार को बुद्ध प्रदान किया, तो उनके धर्म प्रचार संबंधी निर्णय से संसार को बुद्धमत प्राप्त हुआ।"[10] बुद्ध ने अपना पहला उपदेश सारनाथ में दिया, जो धर्म चक्र परिवर्तन कहलाता है। इसके बाद उन्होंने काशी, राजगृह, कपिलवस्तु, उरूवेला आदि स्थानों पर अपने विचारों का प्रसार क़िया। उनके अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी। कौशल नरेश प्रसेनजीत, मगध नरेश बिम्बिसार व अजातशत्रु, बुद्ध के पिता, पत्नी, पुत्र आदि ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

मृत्यु–अन्त में 80 वर्ष की आयु में 483 ई. पू. में बैशाख मास की पूर्णिमा के दिन कुशीनगर नामक स्थान पर बुद्ध की मृत्यु हो गयी। इसे 'महापरिनिर्वाण' कहा जाता है।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत

बौद्ध धर्म के सिद्धांत बड़े सरल, स्पष्ट एवं शुद्ध थे। इनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है।

(1) **चार आर्य सत्य**–बुद्ध ने दुःख के विषय पर गम्भीर चिंतन किया था। इस विषय पर उन्हें प्राप्त ज्ञान निम्न चार आर्य सत्यों में समाहित है–

(i) **दुःख**–इस संसार में चारों तरफ दुःख ही दुःख है। जन्म, बीमारी, बुढ़ापा, मरण, आदि सभी दुःख है। अनचाहे लोगों का मिलना व मनचाहे लोगों से जुदा होना दुःख है।

(ii) **दुःख का कारण**–बुद्ध का मानना है कि दुःख समुदाय या दुःख का कारण तृष्णा है, जो कभी शान्त नहीं होती एवं व्यक्ति निरन्तर दुःखी रहता है।[11]

(iii) **दुःख निरोध**–बुद्ध का मानना था कि यदि व्यक्ति तृष्णा पर विजय प्राप्त कर ले, तो वह दुःख निरोध अर्थात् दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है।

(iv) **दुःख निरोध मार्ग**–व्यक्ति अष्टांगिक मार्ग पर चलकर तृष्णा का दमन करता हुआ दुःखों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।[12]

(2) **अष्टांगिक मार्ग**–बुद्ध के अनुसार व्यक्ति अष्टांगिक मार्ग पर चलकर अपनी तृष्णाओं का दमन कर सकता है। यह अष्टांगिक मार्ग इस प्रकार है–

(i) **सम्यक् दृष्टि**–इसका तात्पर्य है सत्य दृष्टिकोण। व्यक्ति को चार आर्य सत्यों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये।

(ii) **सम्यक् संकल्प**–इसका तात्पर्य है सत्य के लिये संकल्प। व्यक्ति को कामना, हिंसा, द्वेष, राग आदि के त्याग का सत्य संकल्प करना चाहिये।

(iii) **सम्यक् वचन**–इसका तात्पर्य है सत्य वचन। व्यक्ति को सत्य कापालन तथा झूंठ का त्याग करना चाहिये। दूसरों की बुराई व चुगली नहीं करनी चाहिये।

(iv) **सम्यक् कर्म**–हिंसा, द्रोह, चोरी, दुराचार, वासना आदि का परित्याग तथा सत्कर्मों को अपनाना इसके अन्तर्गत आता है।

(v) **सम्यक् आजीव**–सदाचारपूर्ण साधनों का प्रयोग व नैतिक आचरण ही सम्यक् आजीव के अन्तर्गत आता है। व्यक्ति को चोरी, दुराचार व झूंठ बोलने का सहारा न लेकर न्यायपूर्ण ढंग से आजीविका कमानी चाहिये। कसाई, दास विक्रय, विष विक्रय आदि धन्धे नहीं अपनाने चाहिये।

(vi) **सम्यक् व्यायाम**–इसका तात्पर्य है कि बुराइयों का नाश करना चाहिये एवं सत्कर्मों हेतु प्रयास करने चाहिये।

(vii) **सम्यक् स्मृति**–अपनी कमजोरियों को दूर कर दृढ़ता के साथ सद्मार्ग पर चलना ही सम्यक् स्मृति कहलाता है।

(viii) **सम्यक् समाधि**–इसका तात्पर्य है राग द्वेष से मुक्त होकर चित्त की एकाग्रता बनाये रखना[13]

(3) मध्यम मार्ग–महात्मा बुद्ध ने कहा कि व्यक्ति को न तो घोर तपस्या करनी चाहिये तथा न ही भोग विलास में डूबे रहना चाहिये, अपितु इन दोनों के मध्यम मार्ग को अपनाना चाहिये। यही निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है।

(4) दसशील–बुद्ध ने अपने अनुयायियों का नैतिक स्तर ऊंचा उठाने हेतु उन्हें निम्नलिखित दस शीलों का पालन करने को कहा है (i) अहिंसा का पालन, (ii) सत्य बोलना, (iii) अस्तेय, (iv) अपरिग्रह, (v)ब्रह्मचर्य अर्थात भोग विलास से दूर रहना, (vi) नृत्य संगीत का त्याग, (vii) सुगंधित पदार्थों का त्याग, (viii) असमय भोजन का त्याग, (ix) कोमल शैय्या का त्याग, (x) कामिनी कंचन का त्याग। बौद्ध गृहस्थ के लिये प्रथम पाँच नियमों का पालन करना तथा भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये सभी दस नियमों का पालन करना आवश्यक है

(5) सदाचार पर बल–बुद्ध के अनुसार व्यक्ति सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत कर मानसिक शांति प्राप्त कर सकता है। उन्होंने अपने अनुयायियों को घृणा व व्यभिचार से बचने, तथा परोपकार व सत्य को अपनाने को कहा।

(6) अहिंसा–बुद्ध ने भी अहिंसा पर बल दिया तथा मन, वचन व कर्म से किसी को भी कष्ट न पहुंचाने को कहा। उन्होंने हिंसक यज्ञों व पशुबलि का विरोध किया, किन्तु वे जैन धर्म के समान पेड़-पौधों तथा पत्थरों में जीव का निवास नहीं मानते थे।

(7) स्वावलम्बन पर बल–बुद्ध ने कहा कि व्यक्ति स्वावलम्बन द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उनका मानना था कि व्यक्ति अपना भाग्य निर्माता स्वंय होता है तथा वह स्वयं ही दुःखों से मुक्ति पा सकता है। अपने शिष्य आनन्द से उन्होंने कहा था, "हे आनन्द ! मेरा या किसी और का आश्रय लिये बिना अपनी मुक्ति के लिये निरन्तर प्रमाद रहित प्रयत्न करो। तुम स्वयं अपने लिये पथ प्रदर्शक बनो। ईश्वर व अन्य किसी देवता की कृपा पर निर्भर रहने के बदले स्वयं अपने कर्मों द्वारा अपना उद्धार करो।"

(8) वैदिक आडम्बरों का विरोध–बुद्ध ने वेदों को ईश्वरीय कृति न मानकर मानवीय कृति माना तथा वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों, आडम्बरों, यज्ञों व ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध किया।

(9) सामाजिक समानता के समर्थक–बुद्ध ने जाति भेद का विरोध कर सामाजिक समानता पर बल दिया। वे सभी व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी मानते थे। उन्होंने कहा कि हमें व्यक्ति के जन्म के बजाय उसके कर्म से घृणा करनी चाहिये।

बुद्ध की दार्शनिक शिक्षायें

(1) **प्रतीत्य समुत्पाद नियम**–प्रतीत्य का अर्थ है 'इसके होने से' तथा समुत्पाद का तात्पर्य है 'ऐसा होता है' अर्थात् प्रत्येक बात के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण कुछ नहीं होता। यह नियम शाश्वत है तथा इसके आधार पर बुद्ध ने तृष्णा को दु:ख का कारण बतलाया।

(2) **क्षणिकवाद**–बुद्ध के अनुसार सांसारिक वस्तुएं, आत्मा एवं जगत निरन्तर बदलते रहते हैं। यह परिवर्तन किसी को भी दिखायी नहीं देता। किसी भी वस्तु के उत्पत्ति के कारण के नष्ट हो जाने पर उस वस्तु का नष्ट हो जाना भी निश्चित है।

(3) **अनिश्वरवादी**–बौद्ध धर्म ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके सृष्टि का रचयिता होने को स्वीकार नहीं करता। इसका मानना है कि सृष्टि कार्यकारण के नियम के अनुसार चलती है।

(4) **निर्वाण**–बुद्ध ने निर्वाण को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना है, जो अष्टांगिक मार्ग को अपनाने से ही संभव है। निर्वाण शब्द का तात्पर्य है 'बुझना'। बौद्ध धर्म के अनुसार व्यक्ति अपनी तृष्णा की अग्नि बुझाकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो सकता है। बौद्ध धर्म के अनुसार व्यक्ति इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

(5) **कर्मवाद**–बौद्ध धर्म कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास रखता है तथा इसका मानना है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति का अगला जन्म होता है। बुद्ध ने कहा था, "प्राणी मात्र में जो ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, सुरूप-कुरूप का अन्तर है, वह कर्मों के कारण है।" कर्म के कारण व्यक्ति जन्म मरण के बंधन में फंसा रहता है तथा कर्म से मुक्ति निर्वाण प्राप्ति पर ही मिलती है।

(6) **पुनर्जन्म**–बौद्ध धर्म अनात्मवादी होते हुए भी पुनर्जन्म में विश्वास रखता है तथा उसके अनुसार पुनर्जन्म अहंकार (चरित्र) का होता है। अहंकार के नष्ट होने पर व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

(7) **अनात्मवाद**–बौद्ध धर्म अनात्मवादी है। इसके अनुसार शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। दूसरी तरफ यह पुनर्जन्म में विश्वास करता है, तो आत्मा के अभाव में पुनर्जन्म किसका होता है, यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है।

बौद्ध संघ

बुद्ध के अनुयायियों की दो श्रेणियाँ थीं। गृहस्थ तथा भिक्षुक-भिक्षुणियाँ। आनन्द, सारिपुत्र, उपालि, सुनीति, अनाथपिंडक, देवदत्त आदि बुद्ध के प्रमुख शिष्य थे। बुद्ध के जीवन काल में ही यह संघ काफी शक्तिशाली बन चुका था। कालान्तर में बुद्ध ने

अपने शिष्य आन्नद के अनुरोध पर बौद्ध संघ में भिक्षुणियों को प्रवेश देना भी प्रारंभ कर दिया। भिक्षु तथा भिक्षुणियों को संयमित कठोर जीवन व्यतीत करते हुए बौद्ध धर्म का प्रचार करना पड़ता था। वे अपनी प्रार्थना में तीन शरण 'बुद्धं शरण गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संध शरण गच्छामि' मांगते थे।

बौद्ध संघ प्रजातांत्रिक ढंग से गठित था। प्रत्येक भिक्षु को मत देने का अधिकार था तथा निर्णय बहुमत से होते थे। बौद्ध भिक्षु आठ माह तक धर्म का प्रचार करते थे तथा चार माह मठ में रहकर स्वाध्याय तथा साधना करते थे। कालान्तर में ये मठ शिक्षा के विख्यात केन्द्र बन गये। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार, "बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति के प्रति सबसे बड़ी देन उसके बुद्ध विहार थे। जिनमें शिक्षा प्राप्त करने के लिये विद्यार्थी तथा अध्यापक दूर-दूर से आते थे तथा बौद्ध भिक्षुओं की विद्वता व उच्च चरित्र से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। भारत में जिन बुद्ध विहारों के खण्डहर मिले हैं, उनसे पता चलता है कि ये निश्चय ही अपने समय के महान् तथा गौरवशाली केन्द्र होंगे।"[14]

बौद्ध धर्म की सभायें

बौद्ध धर्म के सिद्धांतों व नियमों पर विचार करने हेतु समय-समय पर चार बौद्ध सभाएं या संगीतियां आयोजित की गयीं।

(1) प्रथम सभा (483 ई.पू.) –बुद्ध की मृत्यु के बाद 483 ई.पू. में अजातशत्रु ने राजगृह नामक स्थान पर महाकश्यप की अध्यक्षता में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया। इस सभा में त्रिपिटकों-सुत्त पिटक, विजय पिटक तथा अभिधम्म पिटक की रचना की गयी।

(2) द्वितीय सभा (383 ई.पू.) –दूसरी बौद्ध संगीति 383 ई.पू. में वैशाली में हुई थी। इसमें बौद्ध संघ दो भागों में बंट गया-स्थविर, परम्परागत नियमों के समर्थक तथा महासांघिक, संघ में नवीन नियम लागू करने के समर्थक।

(3) तृतीय सभा (251 ई.पू.) –यह 251 ई.पू. में अशोक ने पाटलिपुत्र नामक स्थान पर मोगलिपुत्र लिस्स नामक भिक्षु की अध्यक्षता में आयोजित करवायी। इसमें 1,000 भिक्षु शामिल हुए। इसमें बौद्ध संघ में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

(4) चतुर्थ सभा–यह कनिष्क के समय में कुण्डलवन (कश्मीर) में वसुमित्र की अध्यक्षता में बुलायी गयी थी। इसमें महायान शाखा को मान्यता दी गयी तथा बौद्ध धर्म पर टीकाएं लिखी गयीं, जिन्हें "विभाषा" कहते हैं।

बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय

कालान्तर में बौद्ध धर्म 18 सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें हीनयान तथा महायान प्रमुख थे।

(1) हीनयान सम्प्रदाय–ये मौलिक बुद्धमत (बुद्ध के धार्मिक सिद्धांत) में विश्वास करते हैं। ये बुद्ध को ईश्वर का अवतार न मानकर मोक्ष प्राप्त साधारण व्यक्ति मानते हैं। ये कर्म तथा पुनर्जन्म एवं महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित निर्वाण के मार्ग में विश्वास रखते थे।

(2) महायान सम्प्रदाय–यह सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धांतों में परिवर्तन का समर्थक था। हीनयान में गृहस्थों हेतु कोई व्यवस्था न होने के कारण महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय के लोग बुद्ध तथा बोधिसत्वों की देवता मानकर पूजा करने लगे। इस सम्प्रदाय ने मोक्ष प्राप्ति हेतु बुद्ध की भक्ति पर बल दिया है। बोधिसत्व से इनका तात्पर्य था कि ऐसे व्यक्ति, जो सारी मानवता को मोक्ष दिलाने के उद्देश्य से बार- बार जन्म लेते हैं। बुद्ध से पूर्व भी अनेक बोधिसत्व हो चुके थे। महायान सम्प्रदाय ने बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्ति पूजा की, जिससे इस क्षेत्र में गान्धार व मथुरा शैली का जन्म हुआ। महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध तथा बोधिसत्वों की भक्ति द्वारा निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है तथा व्यक्ति को सारी मानवता को निर्वाण प्राप्त कराने के बाद ही अपने निर्वाण के बारे में सोचना चाहिये। महायान सम्प्रदाय का साहित्य संस्कृत में लिपिबद्ध था। अश्वघोष, वसुबन्धु, नागार्जुन, आर्यमित्र आदि इस धर्म के प्रमुख विद्धान हुए। इसका प्रचार भारत से बाहर जापान, चीन, तिब्बत आदि देशों में भी हुआ।

हीनयान व महायान में अन्तर–इन दोनों सम्प्रदायों में अन्तर इस प्रकार है–

(1) हीनयान मौलिक बुद्धमत में ही विश्वास करता है, जबकि महायान बुद्ध तथा बोधिसत्वों की शिक्षाओं में विश्वास रखता है।

(2) हीनयान बुद्ध को निर्वाण प्राप्त साधारण व्यक्ति मानता है, जबकि महायान उन्हें ईश्वर का अवतार मानता है।

(3) हीनयान में निर्वाण प्राप्ति हेतु भिक्षु बनना आवश्यक है, किन्तु महायाना में ऐसा आवश्यक नहीं है।

(4) हीनयान स्वयं के निर्वाण पर बल देता है, जबकि महायान समस्त प्राणियों के निर्वाण पर बल देता है।

(5) हीनयान का साहित्य पाली भाषा में तथा महायान का साहित्य संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध है।

(6) हीनयान में निर्वाण प्राप्ति के साथ व्यक्ति का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है, किन्तु महायान में बोधिसत्व को समूची मानवता को मोक्ष दिलाने हेतु निरन्तर पुनर्जन्म लेना पड़ता है।

(7) हीनयान का मार्ग कठोर तथा महायान का सरल है।

(8) हीनयान अव्यावहारिक व अपरिवर्तनशील है, महायान व्यावहारिक व परिवर्तनशील है।

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

हीनयान बौद्ध मत के दार्शनिक सम्प्रदाय–हीनयान सम्प्रदाय के दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं–

(1) वैभाषिक–कनिष्ककालीन बौद्ध धर्म की टीकाओं (विभाषा) में निहित दर्शन वैभाषिक कहलाता है। इसके आधार पर वसुबन्धु ने 'अभिधर्मकोश' की रचना की, जिसमें संसार की सभी वस्तुओं को सत्य माना जाता है। अतः यह सर्वास्तिवाद कहलाता है।

(2) सौत्रान्तिक–इसके अनुसार मानसिक व भौतिक जगत दोनों ही सत्य है। बाहरी पदार्थों का ज्ञान अनुमान से होता है। अतः ये संसार को सत्य व निर्वाण को असत्य मानते हैं।

महायान सम्प्रदाय के दार्शनिक सम्प्रदाय

महायान सम्प्रदाय के दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं–

(1) विज्ञानवाद–यह योगचार भी कहलाता है। इसका संस्थापक मैत्रेयनाथ था। उसके शिष्य असंग ने अपने दार्शनिक ग्रंथ 'महायान सूत्रालंकार' में चित्त को सत्य तथा अस्थायी बताया है।

(2) शून्यवाद–यह माध्यमिक मत भी कहलाता है। इसका संस्थापक नागार्जुन था। उसके अनुसार आन्तरिक व बाहरी जगत तथा सब कुछ शून्य है। इसके अनुसार बाहरी जगत व विचार दोनों अस्थायी तथा परिवर्तनशील है।

व्रजयान सम्पद्राय–इसके अनुसार मनुष्य मंत्रों द्वारा व्रजसत्व बन सकता है। इसमें तंत्र-मंत्र का विशेष महत्व है। इसमें तारों को देवता माना गया है। इससे आगे चलकर तंत्रयान सम्प्रदाय का विकास हुआ।

बौद्ध साहित्य–बौद्ध धर्म का साहित्य पाली भाषा में लिपिबद्ध है तथा त्रिपिटक कहलाता है। यह इस प्रकार है–

(i) सुत्त् पिटक–यह बुद्ध की शिक्षाओं का संग्रह है।

(ii) विनय पिटक–इसमें बौद्ध भिक्षुओं के आचरण सम्बन्धी नियमों का वर्णन है।

(iii) अभिधम्म पिटक–इसमें बौद्ध दार्शनिक सिद्धांतों का संकलन है।

बौद्ध धर्म का प्रसार–बौद्ध धर्म का उदय यद्यपि भारत में हुआ था, किन्तु कुछ ही समय में यह विदेशों में भी फैल गया तथा आज तक प्रचलित है। सर चार्ल्स इलियट

के अनुसार, "समस्त पूर्वी एशिया तथा भारत के निकटवर्ती द्वीपों में अब भी बुद्धमत का प्रभाव विद्यमान तथा व्याप्त है।"[15] बौद्ध धर्म के तीव्र प्रसार के निम्नलिखित कारण थे–

(1) अनुकूल परिस्थितियाँ–बौद्ध धर्म का उदय अनुकूल परिस्थितियों में हुआ। वैदिक धर्म अपने आडम्बरों व कर्मकाण्डों के कारण कमजोर पड़ चुका था तथा जैन धर्म अपनी कठोर क्रियाओं से अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया था। ऐसी स्थिति में जनता ने बुद्ध के सरल धर्म का स्वागत किया।

(2) सरल सिद्धांत–बुद्ध के दार्शनिक व धार्मिक सिद्धांत व विचार शुद्ध आचरण पर आधारित तथा बड़े सरल थे। अतः जनता ने इन्हें आसानी ने समझा व अपनाया।

(3) बुद्ध का प्रभावी व्यक्तित्व–बुद्ध के प्रभावी व्यक्तित्व तथा उनके राजपुत्र होने ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता दी।

आर.आर. दिवाकर के अनुसार, "बुद्ध का राजकुमार होना एक और दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण था। यदि वे राजकुमार न होते, तो संभव था कि उनके गृह त्याग को इतना महान न समझा जाता और न ही जनसाधारण को उनके तथा उनके धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा उत्पन्न होती।"[16]

(4) राजकीय संरक्षण–अशोक, हर्ष, कनिष्क आदि सम्राटों के संरक्षण से भी बौद्ध धर्म का बहुत विकास हुआ। अशोक ने देश के विभिन्न भागों में स्तूप व स्तम्भ बनवाये तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये विदेशों में भी बौद्ध भिक्षुओं को भेजा। कनिष्क ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु चीन, जापान व तिब्बत में प्रचारक भेजे। इस काल में गान्धार शैली में बोधिसत्वों व बुद्ध की अनेक मूर्तिया बनीं। हर्ष ने भी बौद्ध भिक्षुओं व बौद्ध विश्वविद्यालयों को बहुत दान दिया तथा बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म घोषित किया। बंगाल के पाल शासकों ने भी इसे संरक्षण दिया। अतः इसका बहुत प्रसार हुआ।

(5) समानता पर बल–इस समय हिन्दू धर्म में निम्न वर्ग की बड़ी दयनीय थी। ऐसी स्थिति में जब बुद्ध ने जाति भेद का खण्डन करते हुए सामाजिक समानता पर बल दिया, तो हजारों लोग उनके अनुयायी बन गये।

(6) जनभाषा में उपदेश–बुद्ध ने संस्कृत के स्थान पर जनभाषा पाली में उपदेश दिये, जिससे जनता उनके विचारों को समझ सकी तथा उनका धर्म लोकप्रिय हुआ।

(7) बौद्ध संघ व्यवस्था–बौद्ध धर्म की संघ व्यवस्था ने भी इसके प्रचार में बड़ा योगदान दिया। संघ के भिक्षुओं ने विभिन्न स्थानों पर अपने विचारों का प्रचार किया, जिससे बौद्ध धर्म विदेशों में भी लोकप्रिय हो गया। इनमें नागार्जुन, असंग, वसुबंध आदि भिक्षु प्रमुख थे। बौद्ध मठ शिक्षा के विख्यात केन्द्र बन गये, अतः इनसे भी बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार हुआ।

(8) मध्यम मार्ग–महात्मा बुद्ध ने कठोर तपस्या एवं भोग विलास के बीच के मार्ग पर बल दिया था, जिसे अपनाना जनसाधारण के लिये कोई कठिन बात न थी।

(9) प्रतिस्पर्द्धी धर्मों का न होना–इस समय वैदिक धर्म अपने आडम्बर के कारण दुर्बल हो गया था। जैन धर्म अपनी कठोरता से अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ था। इस्लाम व ईसाई धर्म का उदय नहीं हुआ था। अतः बौद्ध धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ।

(10) प्रचारकों का परिश्रम–बुद्ध ने जीवन भर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उनके बाद बौद्ध भिक्षु अनेक प्राकृतिक आपदाओं को पार कर देश के विभिन्न भागों तथा विदेशों में बौद्ध धर्म प्रचार हेतु गये। उनके इस उत्साह से बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार हुआ।

(11) महायान सम्प्रदाय का प्रभाव–समयानुसार बौद्ध धर्म में परिवर्तन करना आवश्यक था। अतः कनिष्क के समय में नागार्जुन के नेतृत्व में महायान सम्प्रदाय का उदय हुआ। इसने बुद्ध व बोधिसत्वों की मूर्ति पूजा, संस्कृत भाषा का प्रयोग, गांधार शैली की मूर्तियों का निर्माण आदि प्रारम्भ किया। अतः बौद्ध धर्म का बहुत प्रसार हुआ। डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार, "महायान उत्थान से बुद्धमत को भारत तथा भारत से बाहर विकसित होने में विशेष सहायता मिली।"

(12) बौद्ध विश्वविद्यालयों का प्रभाव–नालन्दा, तक्षशिला, वल्लभी, गया, विक्रमशिला आदि बौद्ध मठ विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र थे, जहां दूर-दूर से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। उन पर भी बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा।

बौद्ध धर्म के भारत से लुप्त होने के कारण

बौद्ध धर्म का जितनी तेज के साथ भारत में प्रचार हुआ, उतनी ही तेजी के साथ यह भारत से लुप्त भी हो गया। इसके निम्न कारण हैं–

(1) बौद्ध धर्म में जटिलता–प्रारम्भ में बौद्ध धर्म बड़ा सरल था, किन्तु कालान्तर में इसमें अनेक कर्मकाण्डों व आडम्बरों द्वारा प्रवेश करने पर यह जटिल हो गया तथा इसके अनुयायी इससे मुक्त होने का प्रयास करने लगे।

(2) भिक्षुओं का नैतिक पतन–भिक्षुओं का नैतिक पतन भी बौद्ध धर्म के पतन के लिये उत्तरदायी था। कालान्तर में विहारों के धनवान हो जाने पर भिक्षुओं ने भोग-विलास का जीवन बिताना आरम्भ कर दिया। अब बौद्ध धर्म में तांत्रिक तथा व्रजयान जैसे सम्प्रदायों का उदय हुआ, जिनमें सुरा व सुन्दरी का प्रयोग अनिवार्य माना जाने लगा। अतः लोगों का इस धर्म से विश्वास उठने लगा।

(3) बौद्ध धर्म की फूट–यह भी बौद्ध धर्म के पतन का प्रमुख कारण था। बुद्ध के

उत्तराधिकारी के निर्वाचन के साथ ही बौद्ध धर्म में मतभेद उत्पन्न हो गये, जो कालान्तर में निरन्तर बढ़ते चले गये और बौद्ध धर्म 18 सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इन सम्प्रदायों में भी मतभेद निरन्तर बढ़ता गया, अतः बौद्ध धर्म का पतन होने लगा।

(4) राजकीय संरक्षण न मिलना-बौद्ध धर्म को अशोक, हर्ष तथा कनिष्क के अलावा अन्य किसी शासक का संरक्षण न मिला। गुप्त काल तथा पाल वंश के शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। युद्धप्रेमी राजपूतों ने भी बौद्ध धर्म में कोई रुचि न ली, अतः इसका पतन होने लगा।

(5) राजपूतों का उद्भव-राजपूत युद्ध प्रेमी व मांसाहारी थे तथा उन्हें अहिंसा से कोई लेना-देना न था। अतः उन्होंने हिन्दू धर्म को प्रोत्साहित किया तथा बौद्ध धर्म का पतन होने लगा।

(6) हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान-हिन्दू धर्म के नवजागरण ने भी बौद्ध धर्म को आघात पहुँचाया। हिन्दू मन्दिरों में भी मूर्ति पूजा होने लगी तथा बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया, अतः हिन्दू धर्म लोकप्रिय होने लगा।

(7) हिन्दू विद्वानों द्वारा प्रचार-शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट आदि हिन्दू विद्वानों ने बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त कर तर्कों द्वारा बौद्ध धर्म पर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर दी। इससे बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची।

(8) संस्कृत का प्रयोग-कालान्तर में बौद्ध विद्वानों द्वारा संस्कृत का प्रयोग किया गया, अतः यह धर्म जनता में अलोकप्रिय होने लगा।

(9) अन्य धर्मों की लोकप्रियता-जैन, हिन्दू आदि धर्मों की लोकप्रियता ने भी बौद्ध धर्म के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

(10) विदेशी आक्रमण-हूण शासक मिहिरकुल ने बौद्ध मठों व विहारों को नष्ट कर हजारों भिक्षुओं को मार डाला। मध्यकाल में मुसलमान आक्रमणकारियों ने बंगाल व बिहार में विहारों को लूटा तथा भिक्षुओं को मार डाला। तबकाते नासिरी के लेखक मिनहाज सिराज ने लिखा है, " मुसलमान आक्रमणकारियों ने नालन्दा विश्वविद्यालय को नष्ट करते समय हजारों बौद्ध भिक्षुओं को जीवित जला दिया। कई हजार को निर्दयतापूर्वक मौत के घाट उतार दिया गया।" अतः बौद्ध भिक्षु भारत छोड़कर भाग गये तथा यह धर्म लुप्त होने लगा।

बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को देन अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। एच.आर. घोषाल ने लिखा है, " बुद्धमत एक बड़ा व्यापक तथा प्रभावशाली धार्मिक आंदोलन था, जिसने मनुष्य मात्र की उन्नति के प्रति महान देन दी।"[17]

(1) धार्मिक देन

(i) सरल धर्म–बौद्ध धर्म आडम्बर, कर्मकाण्ड एवं कुरीतियों रहित सरल आचार प्रधान धर्म था। अतः यह बहुत लोकप्रिय हुआ तथा इसकी लोकप्रियता ने हिन्दू धर्म में सुधार की प्रेरणा दी।

(ii) मूर्तिपूजा का प्रसार–महायान सम्प्रदाय ने बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां बनाकर उन्हें पूजना आरम्भ कर दिया। भारत में मूर्ति पूजा को व्यापक बनाने का श्रेय इसे ही है।

(iii) मन्दिरों का निर्माण–इन मूर्तियों की रक्षा हेतु मन्दिर निर्माण की प्रथा प्रचलित हुई व अनेक कलात्मक मन्दिर बने।

(iv) हिन्दू धर्म में सुधार–बौद्ध धर्म के प्रभाव से हिन्दू धर्म में सुधार की प्रेरणा मिली। यज्ञों में सुधार हुए तथा पशुबलि प्रथा समाप्त होने लगी। मानवता, स्नेह व सौहार्द्र भावना पुनः कायम हाने लगी।

(v) बौद्ध संघ व्यवस्था–बौद्ध विहारों से प्रभावित होकर शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना की, जिनसे हिन्दू धर्म का बड़ा प्रचार हुआ।

(2) दार्शनिक देन

बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, प्रतीत्य समुत्पाद नियम, आन्तरिक शुद्धि एवं निर्वाण आदि दार्शनिक सिद्धान्त बड़े महत्वपूर्ण हैं। असंग, वसुबन्धु, नागार्जुन, धर्मकीर्ति आदि ने इस दिशा में विशेष योगदान दिया। शून्यवाद अथवा माध्यमिक दर्शन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। नाहर ने लिखा है, "शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन के प्रवर्तक नागार्जुन का भारत में ही नहीं, निखिल विश्व के दार्शनिकों में गौरवपूर्ण स्थान है। बौद्धों का दार्शनिक साहित्य प्रचुर व समृद्ध ही नहीं विचारोत्तेजक भी था।"[18]

(3) सामाजिक देन

(i) उच्च नैतिक जीवन पर बल–बौद्ध धर्म के दस शीलों ने जनता के नैतिक स्तर को ऊंचा उठाया। बौद्ध धर्मावलम्बियों के त्याग, सदाचार, सेवा, परोपकार आदि आदर्शों से समाज बहुत प्रभावित हुआ। बोधिसत्व सारे विश्व को निर्वाण दिलाने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। इन विचारों ने समाज पर बहुत प्रभाव डाला।

(ii) बौद्धिक स्वतंत्रता–बुद्ध ने अपने शिष्यों से अपना मार्ग दर्शक स्वयं बनने को कहा, इससे बौद्धिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहन मिला। अतः नागार्जुन, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, असंग आदि बौद्ध विद्वानों ने स्वतंत्र रूप से अपने चिन्तन का विकास दिया।

(iii) समानता पर बल–बुद्ध ने जाति प्रथा का विरोध करते हुए सामाजिक

समानता पर बल दिया तथा मोक्ष का द्वारा सभी जातियों के लिये खोल दिया। अतः जाति बंधन में कुछ शिथिलता आई।

(iv) **अहिंसा**–बौद्ध धर्म के अहिंसा के प्रभाव से अनेक लोग शाकाहरी बन गये।

(4) शैक्षणिक देन

नालन्दा, वल्लभी, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि बौद्ध मठ विख्यात शिक्षा के केन्द्र थे, जहां दूर-दूर से लोग शिक्षा ग्रहण करने आते थे। इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रसार किया।

(5) साहित्यिक देन

साहित्य में भी बौद्ध धर्म की महत्वपूर्ण देन है। हीनयान का साहित्य पाली में तथा महायान का साहित्य संस्कृत में रचा गया। इस प्रकार बौद्ध साहित्य जनभाषा में न था। नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन का तथा दिग्नाग ने न्यायप्रवेश व आलम्बन परीक्षा नामक ग्रंथों में तर्क शास्त्र का विकास किया। जातक एवं दिव्यावदान में बुद्ध व बोधिसत्वों के पूर्व जन्म की कथाओं का वर्णन है। सुत्त पिटक, विनय पिटक व अभिधम्म पिटक बौद्धों की अमूल्य साहित्यिक निधि हैं। मिलिन्द पन्हो, महावस्तु, मन्जूश्रीमूलकल्प आदि बौद्ध ग्रंथ ऐतिहासिक जानकारी देते हैं। वस्तुतः बौद्ध साहित्य भारतीय साहित्य का अभिन् अंग है।

(6) राजनीतिक देन

राजनीतिक क्षेत्र में अशोक ने बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त से प्रभावित होकर युद्ध की नीति त्याग कर धम्म विजय की नीति को अपना लिया। डॉ. राय चौधरी के अनुसार अशोक की अहिंसा की नीति से मौर्य सेना दुर्बल हो गयी तथा कालान्तर में मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया। कौशाम्बी इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि अहिंसा ही मौर्यों के पतन का कारण होती, तो हिंसा के प्रेमी मराठों व राजपूतों की कभी पराजय नहीं होती। बौद्ध धर्म ने सामाजिक समानता पर बल दिया, जिससे भारत में राजनीतिक एकता स्थापित होने लगी। ई. बी. हैवेल ने लिखा है, "बौद्ध धर्म ने भारतीयों को एक राष्ट्र बनाने में उसी प्रकार से सहायता दी, जिस प्रकार ईसाई मत ने ऐंग्लो सेक्सन काल में इंग्लैण्ड को सहायता दी।"[19]

(7) प्रशासनिक देन

बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर अनेक शासकों ने जनकल्याण के कई कार्य किये। अशोक ने समस्त विश्व को एक कुटुम्ब मानते हुए प्रेम द्वारा उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा की। रोमिला थापर ने लिखा है, "अशोक ने इस धर्म से प्रभावित होकर अपनी

शासन नीति में पशु-पक्षियों, कृषकों, निर्धनों तथा वन में रहने वाले आदिवासियों के प्रति भी असाधारण सहानुभूति का प्रदर्शन किया और प्रजा की भलाई के लिये अनेक कार्य किये।" हर्ष तथा कनिष्क भी प्रजापालक शासक थे।

(8) कलात्मक देन

श्री नाहर ने प्रोफेसर कोह्न के इस कथन को उद्धृत किया है, "यह स्पष्ट है कि बौद्ध कला का अनुभव हम सब के लिये एक गम्भीर अनुभव होना चाहिये। सभी क्षेत्रों-चित्रकला में, स्थापत्य में, वास्तुकला में, कारीगरी में बौद्ध धर्म ने ऐसी कलाकृतियां उत्पन्न की हैं, जो पाश्चात्य सभ्यता की उन्नतम कलाकृतियों के सामने रखी जा सकती है।"[20]

(i) **स्थापत्य कला**–बौद्ध धर्म की प्रेरणा से अनेक कलात्मक चैत्यों, विहारों तथा स्तूपों का निर्माण किया गया। अशोक ने सर्वप्रथम कला के क्षेत्र में पाषाण का प्रयोग किया। उसने 84,000 स्तूप बनवाये, जिनमें सांची, अमरावती एवं भारहुत के स्तूप प्रमुख हैं। उसके द्वारा अनेक स्थानों पर कलात्मक मन्दिर बनवाये गये, जिनमें कार्ले का गुहा मन्दिर, बौद्ध गया का मन्दिर आदि प्रमुख हैं।

(ii) **मूर्तिकला**–मूर्तिकला के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस समय बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियां बनायी गयीं। सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति का निर्माण गान्धार में हुआ। गान्धार के अलावा मथुरा, नालन्दा एवं सारनाथ भी मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र बन गये। सारनाथ में बनी बुद्ध की मूर्ति विख्यात है।

(iii) **चित्रकला**–चित्रकला के क्षेत्र में भी बौद्धों की बहुत महत्वपूर्ण देन रही है। बाघ, बादामी, अजन्ता, एलोरा आदि गुफाओं में बौद्ध चित्रकला देखी जा सकती है। विश्व विख्यात अजन्ता गुफा के अधिकांश चित्र महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बन्धित हैं।

(iv) **न्राट्य तथा संगीत**–नाटकों तथा संगीत के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म का उल्लेखनीय योगदान रहा है। अशोक के समय में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं पर नाटक खेले जाते थे तथा उनमें संगीत का प्रयोग किया जाता था। अतः संगीत व नाटक का काफी विकास हुआ।

(9) विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार

बौद्ध धर्म का प्रचार करने हेतु अनेक बौद्ध भिक्षु चीन, लंका, जापान, तिब्बत, यूनान आदि देशों में गये। वहां उन्होंने बौद्ध धर्म के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय संस्कृति का भी प्रचार किया। सर जे.एन. सरकार ने लिखा है, "जब भारतीय विद्वानों से प्रभावित होकर विदेशी आदिवासियों ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया, तो इसके बाद

वे भारत की भूमि को पवित्र मानने लगे और इसकी यात्रा करने में गौरव का अनुभव करने लगे।"[21]

बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि चीनी यात्री भारत आये तथा उन्होंने वापस लौटकर अपने देशवासियों को भारतीय संस्कृति के गौरव से परिचित करवाया, जिससे भारत के विश्व के अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक तथा आर्थिक संबंध स्थापित हुए।

बौद्ध धर्म कर्मकाण्डों से एवं आडम्बरों से मुक्त तथा विश्व बन्धुत्व के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला एक सरल धर्म था। इसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को दुःखों से मुक्त कर निर्वाण प्राप्ति के लिये प्रेरित करना था। वस्तुतः आधुनिक समय में भी यह मानव मात्र के विकास व कल्याण में सहायक सिद्ध हो सकता है।

जैन तथा बौद्ध धर्म की तुलना

जैन तथा बौद्ध धर्म दोनों ही समान परिस्थितियों की उपज थे। अतः इनमें अनेक समानताएं तथा अनेक असमानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

समानताएं

(1) दोनों ही धर्म ब्राह्मण धर्म के अन्धविश्वासों एवं आडम्बरों की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए थे तथा दोनों का ही वेदों की प्रामाणिकता तथा उनके ईश्वरीय कृति होने में कोई विश्वास नहीं था।

(2) दोनों ही धर्मों ने वैदिक धर्म के आडम्बरों, कर्मकाण्डों, कुरीतियों तथा अन्धं विश्वासों की खुलकर निन्दा की थी।

(3) दोनों ही धर्म अनीश्वरवादी हैं। दोनों ने ईश्वर को सृष्टि का रचियता स्वीकार नहीं किया है।

(4) दोनों ही मत निवृत्ति मार्ग के समर्थक हैं तथा त्याग, वैराग्य एवं संन्यास पर बल देते हैं।

(5) दोनों ही धर्मों ने कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए मनुष्य के कर्मों को ही उसके आगामी जन्मों का निर्धारक माना है।

(6) दोनों ही धर्मों ने अपने प्रचार के लिये संघो की स्थापना की तथा अपने भिक्षु-भिक्षुणियों के निवास हेतु विहार, मठों आदि का निमार्ण करवाया।

(7) दोनों ही धर्मों का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण अथवा मोक्ष की प्राप्ति है।

(8) दोनों ही धर्मों में त्रिरत्नों का प्रतिपादन किया गया है। जैन धर्म सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न के रूप में प्रतिपादित करता है, जबकि बौद्ध धर्म में धर्म, संघ एंव बुद्ध ये त्रिरत्न हैं।

(9) दोनों ही धर्म पंच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य) में विश्वास रखते हैं तथा उच्च नैतिक जीवन पर बल देते हैं।

(10) दोनों ही धर्मों के संस्थापकों के जीवन में भी काफी समानता दिखायी देती है। दोनों ही क्षत्रिय थे तथा दोनों ही राजकुमार थे। दोनों का विवाह हुआ था तथा दोनों के विवाह से एक-एक संतान हुई थी। दोनों ने लगभग 30 वर्ष की आयु में संन्यास लिया था तथा घोर तपस्या की। दोनों को राजकीय संरक्षण मिला तथा वे जीवन पर्यन्त अपने विचारों का प्रचार करते रहे।

(11) दोनों ही धर्मों ने जाति भेदभाव का विरोध करते हुए सामाजिक समानता का उद्घोष किया तथा सभी व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी माना।

(12) दोनों ही धर्मों में जनसाधारण की भाषा में उपदेश दिये गये। जैन धर्म ने प्राकृत तथा बौद्ध धर्म ने पाली को अपनाया, किन्तु कालान्तर में दोनों ने संस्कृत को अपना लिया।

असमानताएं

जैन तथा बौद्ध धर्म में निम्न असमानताएं दिखायी देती हैं–

(1) जैने धर्म में 24 तीर्थंकर हुए हैं तथा यह बौद्ध धर्म से प्राचीन है।

(2) जैन धर्म की क्रियाएं बौद्ध धर्म की तुलना में बहुत कठोर हैं तथा कुछ अव्यवहारिक सी लगती हैं।

(3) जैन धर्म आत्मा की अमरता में विश्वास करता है, जबकि बौद्ध धर्म का मानना है कि व्यक्ति के शरीर के साथ ही उसकी आत्मा भी नष्ट हो जाती है।

(4) बौद्ध धर्म को अशोक, कनिष्क व हर्ष जैसे महान् शासकों को संरक्षण मिला, किन्तु जैन धर्म को नहीं मिला।

(5) बौद्ध धर्म का भारत से बाहर चीन, जापान, लंका, तिब्बत आदि देशों में भी प्रसार हुआ, किन्तु जैन धर्म मात्र भारत तक सीमित रह गया।

(6) जैनियों के ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं तथा अंग कहलाते हैं, जबकि बौद्धों के ग्रंथ पाली भाषा में लिपिबद्ध है तथा त्रिपिटक कहलाते हैं।

(7) बौद्ध धर्म जैन धर्म के समान अहिंसा पर बल नहीं देता।

(8) जैन धर्म तपस्या, उपवास आदि को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग मानता है, जबकि बौद्ध धर्म शुद्ध आचरण व नैतिकता को निर्वाण प्राप्ति का मार्ग मानता है।

(9) जैन धर्म का शनैः-शनैः प्रसार हुआ तथा यह आज भी भारत में विद्यमान है, जबकि बौद्ध धर्म का भारत में तेजी से प्रसार हुआ तथा यह तेजी से भारत से लुप्त भी हो गया।

(10) जैन धर्म में महापुरूषों को तीर्थंकर तथा बौद्ध धर्म से बोधिसत्व कहा जाता है।

(11) जैन धर्म के अनुसार मोक्ष मृत्यु के पश्चात् ही प्राप्त हो सकता है, जबकि बौद्ध धर्म के अनुसार यह इसी जीवन में संभव है।

वैष्णव तथा शैव धर्म

यद्यपि जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ने मोक्ष प्राप्ति करने का सरल मार्ग प्रशस्त किया था, लेकिन कालान्तर में ये धर्म आडम्बरपूर्ण होने लगे। अतः जनता का इन धर्मों से मोह भंग होने लगा तथा हिन्दू धर्म में विश्वास उत्पन्न् होने लगा। आडम्बरपूर्ण बौद्ध तथा कठोर जैन धर्म ने हिन्दू धर्म में अनेक सम्प्रदायों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया, जिनमें वैष्णव तथा शैव धर्म प्रमुख हैं।

(1) वैष्णव धर्म

उद्भव–वैष्णव धर्म का उद्गम ऋग्वेद में मिलता है, जिसमें विष्णु को सूर्य नामक देवता का रूप माना गया है। ऋग्वेद में त्रिविक्रम की कथा में विष्णु को समूचे विश्व का रक्षक माना गया है। निरूक्त में सूर्य का नाम ही विष्णु माना गया है। वैदिक काल में राजा बसु ने यज्ञों में पशुवलि का विरोध कर एवं हरि की भक्ति पर बल देकर वैष्णव धर्म की नींव रख दी।

उपनिषद् कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए भक्ति पर बल देते हैं। उपनिषदों में कहा भी गया है, "आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न वह उपनिषदों से, अध्ययन से अथवा यज्ञ से ही संभव है। वह जिस किसी को वरण कर लेता है, वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है। अतः आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व से उसे प्रार्थना या सेवा से प्रसन्न कर लेना आवश्यक है।" इस तरह केवल 'हरि' की एकाग्र भक्ति की साधना•का एकांतिक धर्म के रूप में विकास हुआ। इसकी पूजन पद्धति 'सस्वत विधि' कहलायी तथा भक्ति, आत्मसर्पण व अहिंसा के भाव इसके प्रधान अंग थे। इसके प्रचारकों में वासुदेव कृष्ण की भी गणना की जाती है। अतः कालान्तर में इसका नाम वासुदेव धर्म हो गया तथा हरि के स्थान पर वासुदेव कृष्ण को पूजा जाने लगा। तीसरी सदी ई. पू. में यह विधि पांचरात्र विधि में तथा यह धर्म भागवत धर्म में परिणित हो गया।

पांचरात्र विधि–इसके अनुसार प्रलय भगवान वासुदेव में निहित है। उसकी शक्ति, इच्छा शक्ति तथा क्रिया शक्ति जागृत होंने से छः गुण उत्पन्न हुए। इनमें ज्ञान तथा बल, ऐश्वर्य और वीर्य और शक्ति तथा तेज के जोड़े हैं, जो व्यूह कहलाते हैं। ये व्यूह 'सकर्षण' (वासुदेव कृष्ण का भ्राता बलराम), 'प्रद्युम्न'(वासुदेव कृष्ण का पुत्र) तथा 'अनिरूद्ध' (वासुदेव कृष्ण का पौत्र) हैं। इनके ऊपर वासुदेव व्यूह एवं सबसे ऊपर पर वासुदेव है। इन चार व्यूहों से सोलह उपव्यूह निकलते हैं तथा उनमें से चार विद्येश्वर

निकलते हैं। ये मिलकर वासुदेव की चौबीस मूर्तियां होती हैं। तत्पश्चात् ईश्वर स्वयं को प्रकृति के विविध रूपों में प्रगट करता था, जो अवतार कहलाते हैं। भागवत पुराण में इन्हें अनन्त माना गया है। विश्वक्सेन संहिता में आम का पेड़ भी भगवान का अवतार माना गया है। अहिर्बुध्न्य संहिता में 39 अवतार हैं, जिनमें बुद्ध भी 'शान्तात्या' के रूप में शामिल हैं। इन सभी अवतारों की मूर्ति पूजा प्रचलित हैं। पूजा के पांच अंग माने गये हैं- (i) अभिगमन (देवता की तरफ जाना), (ii) उपादान (पूजा की सामग्री यथा पत्र, पुष्प, फल, नैवेध, धूप, दीप आदि जमा करना), (iii) इज्या (इस सामग्री को देवताओं को अर्पित करना), (iv) स्वाध्याय (शास्त्रों का अध्ययन तथा मन्त्रों का जाप) एवं (iv) योग (ध्यान लगाना एवं ईश्वर से साक्षात्कार)। भक्ति इन सभी का सार है।

भागवत धर्म-भागवत धर्म का उदय ईसा से भी कई शताब्दी पूर्व हो चुका था। इसमें ईश्वर की सगुण भक्ति पर बल दिया गया तथा भक्ति को मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बताया गया। इस धर्म के प्रमुख ग्रंथ महाभारत, गीता तथा भागवत पुराण हैं। इस धर्म के अनुसार अपनी अहंकारी भावना के कारण मनुष्य कर्म एवं पुनर्जन्म के चक्कर में फंसा रहता है। गीता में अहंकार से मुक्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं- कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग एवं भक्ति मार्ग। कर्मवादी व्यक्ति सदैव कर्म करते रहते हैं और ज्ञान मार्ग पर उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा वह भक्ति मार्ग पर बढ़ता है। भक्ति उसके अहंकार को नष्ट कर देती हैं तथा उसे मोक्ष प्राप्त कराती है।

गीता की रचना के समय दो प्रकार की साधनाएं प्रधान थीं—ज्ञान योग एवं कर्म योग। इनमें से पहली का रूप आत्मोपासना का था। इसमें सांसारिक कार्यों से विरक्ति लेकर अपने चित को शुद्ध एवं ज्ञानमय आत्मा की ओर उन्मुख करना ही व्यक्ति का कर्तव्य माना गया है। दूसरे का रूप कर्मोपासना था, जिसमें कहा गया है कि सभी को कर्म को अपना कर्तव्य मानकर करना चाहिये। कृष्ण ने इन्हें 'ज्ञान कर्म योग समुच्च्य' के रूप में समन्वित किया। इसके साथ में भक्ति पर भी बल दिया तथा निष्काम कर्म का नया मार्ग प्रतिपादित किया। कृष्ण ने शरणागति का सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए कहा है, **"हे अर्जुन! सब धर्मों को छोड़कर तुम मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कराऊंगा।"** गीता भक्ति पर ज्ञान से अधिक बल देती है तथा इसमें शूद्रों एवं स्त्रियों के लिये भी मोक्ष का मार्ग खोल दिया गया है। श्रीकृष्ण ने भक्ति पर बल देते हुए कहा है, "न तो योग, न ज्ञान, न कर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न दान मुझे इतने प्रिय हैं, जितनी एकान्तिक भक्ति। भक्ति ज्ञानयोग व कर्मयोग के साधनों से श्रेष्ठ है।" गीता के अनुसार व्यक्ति गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी भक्ति से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पौराणिक धर्म-गुप्तकाल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। इस काल का वैष्णव धर्म प्राचीन एवं नवीन तत्वों का मिश्रण था। अधिकतर गुप्त सम्राट् वैष्णव धर्म अनुयायी थे। वे स्वयं को 'परम भागवत' कहते थे। गुप्त काल में वैष्णव धर्म अपने

विकास के चरम पर पहुँच गया। विभिन्न देवी-देवताओं को स्पष्ट एवं सजीव रूप प्रदान किया गया। विष्णु के साथ लक्ष्मी की भी पूजा होने लगी एवं वह धन तथा समद्धि की देवी मानी गयी। भागवत पुराण एवं विष्णु पुराण में विष्णु भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। पुराणों के अनुसार यदि व्यक्ति ईश्वर की भक्ति में लीन हो जाये, तो वह उसे प्राप्त कर सकता है।

अवतारवाद–यह विभववाद भी कहलाता है। अवतारवाद का भारतीय धर्मग्रंथों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इसे महाकाव्य काल की देन माना जाता है, किन्तु रामायण तथा महाभारत में वर्णित अवतारवाद को शताब्दियों के विकास का परिणाम मानना ही उचित होगा, क्योंकि किसी भी विचार धारा को प्रसिद्धि प्राप्त करने में सदियां निकल जाती हैं। वैदिक साहित्य में विष्णु एवं इन्द्र को अनेक रूपधारी माना गया है।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, "जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युदय होता है, मैं अपनी आत्मा का सृजन करता हूँ, सज्जन व्यक्तियों की रक्षा के लिये, पापी लोगों का नाश करने के लिये और धर्म की पुनर्स्थापना के लिये मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।" पुरातन ग्रंथों में चार अवतारों का उल्लेख मिलता है-वराह, नृसिंह, वामन तथा वासुदेव कृष्ण। वराह को गुप्त काल में पूजा जाता था। नृसिंह के सम्बन्ध में प्रहलाद और हिरण्यकश्यप की कथा प्रचलित है। वामन के सम्बन्ध में यह कहा है कि भगवान विष्णु ने वामन रूप धर कर राजा बलि से दौ पैर में समूचा विश्व ले लिया था। कृष्ण के दो रूप हैं-पहला, वृन्दावन में रासलीलाएं रचाने वाला एवं महाभारत के राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक कृष्ण। इसके पश्चात् राम तथा परशुराम को भी अवतार माना गया। इन छः अवतरों के अतिरिक्त महाभारत में हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि अवतार माने गये हैं। मत्स्यपुराण में वेदव्यास तथा महात्मा बुद्ध अवतार माने गये हैं। रघुवंश में राम को विष्णु का अवतार माना गया है। पुराणों में 24 अवतारों का उल्लेख है तथा माना गया है कि भगवान विष्णु के अवतार अनन्त हैं। वैष्णव धर्म में अवतारवाद का अत्यधिक महत्व है। इसके कारण ही अनेक धर्मों का इस धर्म में विलय हुआ है। अब ईश्वर को सर्वव्यापी माना गया, जो व्यक्ति के हृदय में निवास करता है।

वैष्णव धर्म का प्रारंभिक प्रसार–वैष्णव धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई स्थान नहीं है। इसमें सभी को समान माना गया है। **भागवत पुराण में कहा गया है, "पापी लोग भी भगवान का आश्रय लेकर शुद्ध हो जाते हैं।"** अतः यह निम्न तथा विदेशी जातियों में भी बहुत लोकप्रिय हुआ। कृष्ण की लोकप्रियता बढ़ने लगी। मेगस्थनीज ने मथुरा में कृष्ण की पूजा की पुष्टि की है। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में विदेशी जातियां भी वैष्णव धर्म की तरफ आकर्षित होने लगीं। यवन, शक, कुषाण आदि जातियों ने इसे अपना लिया। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में यूनानी राजा अन्तलिकित के राजदूत

हेलियोडोरस ने भागवत नाम ग्रहण किया तथा कृष्ण की भक्ति में एक गरुडध्वज बनवाया, जिन पर धर्म के तीन सिद्धान्त—दम, त्याग एवं अप्रमाद अंकित करवाये, जो स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग है। कुषाण वंश के तीन शासकों का नाम वासुदेव था। महाभारत के शान्ति पर्व के अनुसार नारद मुनि ने श्वेतद्वीप (रुसी प्रदेश) में हरि की उपासना की। वहां उन्हें गौर वर्ण के मुनि नारायण की भक्ति करते मिले। ये पशु बलि के विरोधी थे तथा अच्छा बोलने एवं अच्छा सोचने में विश्वास रखते थे। सीरिया की एक अनुश्रुति के अनुसार दूसरी सदी ई. पू. में आर्मीनिया में कृष्ण की पूजा का प्रचलन हो गया था। विदिशा, नानाघाट तथा घोसुण्डी के शिलालेखों के अनुसार यह धर्म मध्य प्रदेश, राजस्थान एवं महाराष्ट्र तक फैल गया था।

वैदिक धर्म के साथ समन्वय–यज्ञों से पुराण की उत्पत्ति मानी जाती है आरंभ में पुरुण के पांच विषय थे—सर्ग (सृष्टि की कथा), प्रतिसर्ग (प्रलय के पश्चात सृष्टि का पुनर्निर्माण), वंश (देवताओं, राजाओं, राक्षसों एवं ऋषि-मुनियों के वृत्तान्त), मन्वन्तर (युग चक्रों का आवर्तन), एवं वंशानुचरित (राजवंशों के वृत्तान्त)। इनका पठन-पाठन ब्राह्मणों द्वारा होता था, किन्तु यज्ञों से परिप्लव आख्यान निकल जाने पर ये सूतों एवं चारणों के हाथों में आ गये। गुप्त काल में पुराण, वेद, स्मृति, भागवत धर्म तथा बौद्ध जैन धर्मों के ग्रन्थों के समन्वय के माध्यम बन गये। पुराणों द्वारा वर्णाश्रम धर्म की पुर्नस्थापना का प्रयास किया गया। विष्णु पुराण में कहा गया है कि, " वही व्यक्ति परमेश्वर की पूजा कर सकता है, जो अपने वर्ण तथा आश्रम सम्बन्धी कर्तव्य को पूरा करता हो।" वायु पुराण में कहा गया है कि, "जब यज्ञों की कमी हो जाती है, तो भगवान विष्णु बारम्बार धर्म की स्थापना के लिये जन्म लेते हैं।" विष्णु पुराण, वायु पुराण एवं भागवत पुराण में बताया गया है कि ऋषियों ने राजा वेन को वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन करने पर मृत्यु लोक भेज दिया। विष्णु पुराण में यम कहते हैं कि विष्णु के उपासक वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हैं। इस तरह वैष्णव धर्म ने पुराणों द्वारा प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का पोषण किया।

वैष्णव धर्म के नये तत्व–दूसरी सदी ई. पू. में वैष्णव धर्म में अनेक नये तत्वों का समावेश होना प्रारम्भ हो गया था, जिनमें अवतारवाद प्रमुख था। पांचरात्र पद्धति में वासुदेव चार रूपों में पूजे जाते हैं। 600 से 800 ई. के मध्य 108 पांचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। ये विष्णु की शक्ति पर बल देते हैं। मध्ययुग में वैष्णव धर्म के प्रसार के साथ-साथ उसमें परिवर्तन भी हुए। शुंग काल में निर्मित मंदिरों में वासुदेव कृष्ण की मूर्ति स्थापित की गयी। मध्यकाल में भागवत धर्म की भक्ति आडम्वरपूर्ण हो गयी। मंदिरों में मूर्तियों को भव्यता से सजाया जाने लगा व नाच तथा गाना होने लगा। मूर्तियों को जीवित देवता मानकर स्नान, श्रृंगार, वस्त्र आदि अर्पण किये जाने लगे। कृष्ण की गोपियों के साथ रास लीला, राधा के साथ सम्बन्ध आदि अनेक

गाथाओं का प्रचलन हुआ। भागवत पुराण में वर्णित कृष्ण का चरित्र महाभारत से भिन्न है। भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में वर्णित कृष्ण की लीलाओं का विकास मध्यकाल में ही हुआ था। अब वैष्णव धर्म ने एक नवीन रूप धारण कर लिया। कवि जयदेव ने गीत गोविन्द में राधा तथा कृष्ण के प्रेम का सजीव चित्र उपस्थित किया है। यह ग्रंथ इस युग की वैष्णव धर्म की प्रवृत्तियों का परिचय देता है।

वैष्णव आचार्य–वैष्णव धर्म के विकास में आचार्यों एवं सन्तों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शंकराचार्य ने गीता, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों पर टिप्पणी लिखी। उन्होंने बौद्ध धर्म के अनात्मवाद का खंडन किया। उनका मानना था कि मकान मानव मस्तिष्क की चेतना से बनता है, चूना व पत्थर पड़ा रहने से नहीं। इनका कहना था कि सत्य कभी नष्ट नहीं होता। आत्मा में सत्य निहित है तथा वह चैतन्य है। सच्चा आनन्द पूर्णता में हैं। वे वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करना चाहते थे। उन्होंने 'ब्रह्म एक है' का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

दक्षिण के आलवार सन्तों ने वैष्णव धर्म का बहुत विकास किया। उन्होंने अनेक भक्ति से परिपूर्ण गीत लिखे, जिन्हें बहुत लोकप्रियता मिली। इनके द्वारा आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर रचित पद तमिल में प्रबन्धम् कहलाते थे। इसे दक्षिण का तमिल वेद माना गया। भक्ति के मार्ग को अपनाना जनता के लिये बहुत सरल था। अतः यह भक्ति धारा जनता में बहुत लोकप्रिय हुई।

आठवीं सदी में वैष्णव धर्म को खतरा उत्पन्न हो गया। जहां एक ओर कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्डों के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, वहीं दूसरी ओर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद को प्रतिपादित करते हुए कहा कि ब्रह्म और जीव अभेद होने के कारण भक्ति के स्थान पर ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। शंकराचार्य के विलक्षण व्यक्तित्व एवं अद्‌भुत प्रतिभा ने वैष्णव धर्म को आघात पहुँचाया। अतः दक्षिण भारत में अनेक आचार्यों ने वैष्णव धर्म को भक्ति मार्ग एवं सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया।

10वीं सदी में नाथमुनि नामक आचार्य हुए, जिन्होंने वैष्णवों को संगठित किया, वैष्णव सिद्धांतों की दार्शनिक ढंग से व्याख्या की, आलवार के गीतों का संग्रह किया एवं उनका मन्दिरों में गायन किया। नाथमुनि ने 'श्री वैष्णव' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य इसके प्रमुख उत्तराधिकारी थे। यामुनाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए भक्ति के सामने ज्ञान तथा कर्म को हीन बताया। रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतवाद के संस्थापक थे। रामानुज का मानना था कि जीव और जगत ईश्वर के दो विशेषण हैं। उन्होंने जीव को ब्रह्म् का विशेषण मानते हुए भी उससे भिन्न माना तथा भक्ति पर बल दिया। रामानुज ने विष्णु की उपासना का उपदेश दिया।

निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक थे। उनके अनुसार जीव तथा ब्रह्म सैद्धान्तिक रूप से एक दिखायी देते हैं, पर व्यवहार में उनमें भिन्नता है। इन्होंने कहा कि मनुष्य को उसी प्रकार ईश्वर की भक्ति व उससे प्रेम रखना चाहिये, जैसे राधा का कृष्ण के प्रति था। उनका मत सनक सम्प्रदाय कहलाया। वे कृष्ण की उपासना में विश्वास रखते थे। माध्वाचार्य ने (1197-1276 ई.) द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। उन्होंने ईश्वर, जीव तथा जगत को पृथक् माना। ईश्वर सृष्टि का स्वामी है, जीव उस पर निर्भर है एवं जगत् उसके द्वारा संचालित होता है। वे विष्णु को अपना इष्ट मानते थे। वल्लभाचार्य (1479 ई. 1530 ई.) ने शुद्धाद्वैत सिद्धांन्त प्रतिपादित किया। उन्होंनें कृष्ण के साथ एकत्व प्राप्ति पर बल दिया। उन्होंनें समस्त सांसारिक वस्तुओं को ब्रह्म का स्वरूप माना तथा प्रत्येक वस्तु में उसी ब्रह्म की सत्ता को माना। वे कृष्ण के बाल रूप की उपासना करते थे। उनका सम्प्रदाय 'वल्लभ सम्प्रदाय' कहलाया। कालान्तर में इसमें कृष्ण व गोपियों की रास लीला प्रवेश करने से इसमें अनाचार बढ़ गया।

इन आचार्यों ने वैष्णव धर्म के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिये भक्ति पर बल दिया। इस मत को बहुत लोकप्रियता मिली तथा विष्णु की मूर्ति पूजा को बढ़ावा मिला।

(2) शैव धर्म

उदय एवं विकास–शैव धर्म काफी प्राचीन है। सिन्धु सभ्यता में खुदाई में शिव की मूर्तियां मिली हैं। एक मूर्ति में एक योगी ध्यान मग्न है तथा उसके चारों ओर पशु बैठे हैं, संभवतः यह पशुपतिनाथ शिव की मूर्ति है। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता में शैव धर्म प्रचलित था। ऋग्वेद में रुद्र को बहुत भयंकर माना गया है। यही रुद्र आगे चलकर शिव के नाम से पुकारा गया। यजुर्वेद में रुद्र के शिव, रुद्र, शतरुद्रीय आदि रूपों का वर्णन है। इस समय तक शिव की पूजा का प्रचलन हो चुका था। अथर्ववेद के समय रुद्र को तारों एवं ग्रहों का संचालक माना गया। इसमें शिव को मंगलकारी बताया गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् तथा तैत्रीय संहिता में रुद्र और शिव को एक ईश्वर का रूप माना गया है। बौद्ध ग्रंथ 'निद्देस' में शैव उपासकों का वर्णन है। महाभारत के नारायणीय प्रकरण में उमापति शिव का वर्णन है। मेगस्थनीज द्वारा वर्णित दायोनीसस की पूजा शिव पूजा का ही परिचय देती है। पतंजलि ने 'शिव भागवतों' का वर्णन किया है।

पाशुपत शैव धर्म–लकुलीश ने शिव की पूजा को पाशुपत सम्प्रदाय में संगठित किया। वायु, कुर्म एवं लिंग पुराणों के अनुसार वासुदेव कृष्ण द्वारा उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार करते समय पश्चिम में कायावरोहण नामक स्थान पर लुकलीश का जन्म हुआ। वे शिव के अट्ठाइसवें तथा अन्तिम अवतार थे। लकुलीश के विचारों का माधवाचार्य ने 'सर्व-दर्शन संग्रह' में वर्णन किया है। इसके अनुसार लकुलीश शिव

को पति कहते थे तथा उन्हें सृष्टि का रचयिता मानते थे। उनका कार्य जीवात्मा है, जो पशु कहलाता है। यह पशु 23 भौतिक तत्वों के जाल में उलझा है, जो 'पाश' कहलाता है। वह विद्या द्वारा पाश से छुटकारा पा सकता है। इसके लिये द्वार से गुजरना पड़ता है तथा व्रतों का पालन करना पड़ता है। द्वार में 'क्राथन' (जागते हुए सोते के समान लगना), 'स्पन्दन' (लकवा मारे की तरह हाथ को हिलाना), 'मण्डन' (लड़खड़ाकर चलना), 'श्रृंगरण' (कामोद्दीपक मुद्रा बनाना), 'अवितत्करण' (पागल जैसा व्यवहार करना), तथा 'अवितद् भाषण' (उल्टा-सीधा बोलना) आता है। व्रत में राख पर लेटकर शरीर पर राख लपेटना, नाचना, गाना, मंत्रों का जाप करना एवं पूजा करना आता है। इससे पशु का पति से साक्षात्कार हो जाता है एवं उसके दुःखों का अन्त हो जाता है। शैव धर्म में दो प्रकार के दुःखों के अन्त को सम्मिलित किया गया है– प्रथम, अनात्मक, योग से दुःख से पूरी तरह छुटकारा पाना एवं द्वितीय सात्मक, योग से अलौकिक सिद्धियां प्राप्त करना। मोक्ष के प्रथम चरण में पहुँचने पर मनुष्य शक्तिशाली, सर्वज्ञ तथा देव तुल्य हो जाता है। तत्पश्चात् अलौकिक शक्ति प्राप्त करने का इच्छुक आगे बढ़कर ऐसे स्थान पर पहुँचता है, जहां वह अमर हो जाता है।

पाशुपात धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध सामाजिक विद्रोह का सूत्रपात करता है। महाभारत के शान्ति पर्व में शिव ने अपने धर्म को मानव मात्र के लिये कल्याणकारी तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के विपरीत बताया है। पाशुपत सूत्रों के टीकाकार कौण्डिन्य भी पाशुपत की क्रियाओं को ब्राह्मण विरोधी मानते हैं। पाशुपतों तथा ब्राह्मणों का विरोध इतना प्रबल है कि 'स्मृति चंद्रिका' में पाशुपत से मात्र छू जाने पर भी स्नान करने का प्रावधान रखा गया है। वस्तुतः पाशुपत धर्म मानव मात्र की समानता पर आधारित था। शक राजा भोग, पल्हव राजा गुन्डफर्न तथा कुषाण सम्राट कदफिस प्रथम, कदफिस द्वितीय, हुविष्क आदि शैव मतावलम्बी थे। इनके प्रयासों से मध्य एशिया में भी शैव धर्म का प्रसार हुआ।

कापालिक और कालमुख–इन सम्प्रदायों के सिद्धांत पाशुपातों से कठोर थे। कापालिक सर पर बड़ा जूड़ा बांधते हैं, गले में हड्डियों की माला व कानों में हड्डियों की बालियां पहनते हैं तथा श्मशान में निवास करते हैं। इनके लिये छः मुद्राएँ अनिवार्य मानी गयी हैं– कर्णिका, रूचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म एवं यज्ञोपवीत। इनके अलावा परलौकिक सिद्धि हेतु निम्न क्रियाओं का प्रावधान रखा गया है–(1) हाथ में त्रिशूल रखना, (2) मृत शरीर की राख शरीर पर लगाना, (3) कपाल में भोजन करना, (4) भस्म भक्षण करना, (5) मदिरा का पात्र सदैव समीप रखना तथा (6) उस पात्र में अवस्थित शिव की उपासना करना। इस सम्प्रदाय में अनेक बड़े-बड़े योगी हुए थे। कालमुख अपना मुँह काला कर लेते थे। उनकी क्रियाएं कापालिकों के समान ही थीं। यह सम्प्रदाय दक्षिण में अधिक प्रचलित था।

शैव साहित्य त्रिदर्शन (आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा) में पाशुपतों, कालमुखी एवं कापालिकों की गन्दी रीतियों की आलोचना करते हुए ज्ञान पर बल दिया गया है।

लिंगायत या वीर शैव सम्प्रदाय–अल्लम-प्रभु तथा बसवण्ण ने 12वीं सदी में कर्नाटक में लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना की। यह शैव धर्म का उत्कृष्ट रूप था। इसके अनुसार आरम्भ में मात्र शिव की सत्ता थी। वह निरालम्ब था, जो सर्वशून्य कहलाता था। उसके साथ शक्ति थी, जिससे उसमें चेतना उत्पन्न हुई। वह 'शून्य-लिंग' बन गया, जो 'निष्कल ब्रह्म' था। इसके बाद वह महालिंग तथा फिर पांच मुँह वाला सदाशिव बन गया। उसके पांच मुँह से पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश इन पांच तत्वों की उत्पत्ति हुई। उसकी आंखों तथा मन से सूर्य व चन्द्रमा की और छुपे हुए मुँह से जीवात्मा की उत्पत्ति हुई। परमात्मा से एकीकार हेतु जीवात्मा के लिये निम्न छः स्थलों से गुजरना अनिवार्य है–(i) भक्तस्थल (इसमें भक्ति भावना जागृत की जाती है।) (ii) महेश्वरस्थल (इसमें विश्वास तथा निश्चय उत्पन्न किया जाता है।) (iii) प्रसादी स्थल (इसमें ईश कृपा के अतिरिक्त सभी बातें तुच्छ मानी जाती हैं), (iv) प्राणिलिंगीस्थल (इसमें मन में भगवान के प्रसाद का अनुभव किया जाता है।) (v) शरणस्थल (इसमें एक शिव का साक्षात्कार होता है) तथा (vi) लिंगांगसामरस्य (इसमें जीवात्मा परमात्मा से मिल जाती है।) वीर शैव धर्म अथवा लिंगायत सम्प्रदाय का द्वार सभी के लिये खुला है। मानव मात्र की समानता पर आधारित इस सम्प्रदाय ने सामाजिक विद्रोह का सूत्रपात किया है। इसके सन्तों ने केदार, उज्जयिनी, श्रीशैलम, रम्भापुरी तथा वाराणासी नामक स्थानों पर मठ स्थापित किये, जिससे इस सम्प्रदाय का बहुत विकास हुआ।

शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय–यह सम्प्रदाय प्रधानतः दक्षिण के तमिल प्रदेशों में फैला। माणिक्कवाचकर, अप्पर, सम्बन्धक तथा सुन्दर इसके प्रमुख प्रवर्तक थे। ये जगत तथा जीव को अलग-अलग मानते हैं तथा शिव को चराचर जगत् के स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं। शिवाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकण्ठ थे, जिसने ब्रह्म को जगत का निर्मित कारण के साथ-साथ उपादान कारण भी माना। जगत ही शिव की शक्ति है। ब्रह्म तथा शिव एक ही हैं।

शैव धर्म का प्रसार–मध्ययुग में अनेक शिव मन्दिर बने। दक्षिण में राष्ट्रकूटों तथा चोलों ने इने संरक्षण दिया। एलोरा (वेरूल) में कैलाश तथा तंजौर में विशाल शिव मंदिरों का निर्माण हुआ। इन मंदिरों में शिव की मूर्तियाँ अनेक रूपों में स्थापित की गयी हैं। वह सृष्टि का संचालक है तथा अपने भक्तों के प्रति प्रेम से परिपूर्ण है। यह उसका सौम्य रूप है। सृष्टि के संहारक के रूप में उसका रौद्र रूप है। यह कई विधाओं व शिल्पों का प्रवक्ता है एवं उमा अथवा पार्वती का पति है। पुराणों की कथाओं के आधार पर शिव की अनेक मूर्तिया बनायी गयीं, जिनमें सौम्य, उग्र तथा नटराज की

मूर्तिया प्रमुख हैं। कालान्तर में शैव धर्म में तंत्रवाद का प्रवेश होने पर शिव लिंगों की पूजा होने लगी, जो आज भी प्रचलित है। यह लिंग सम्पूर्ण चर जगत् का प्रार्दुभाव करने वाले सृष्टि के तत्त्व की ओर संकेत करता है।

अवतारवाद

अवतारवाद प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा विभिन्न भारतीय धर्मों की केन्द्रीय धारणा रही है।

अवतार का अर्थ—सामान्यतः 'अवतार' का अर्थ पार होना होता है,[22] किन्तु परिभाषिक दृष्टि से इसका तात्पर्य अव्यक्त रूप से विद्यमान परमात्मा का विद्यमान हो जाना है।[23]

अवतारवाद का विकास-यद्यपि अवतारवाद का सर्वप्रथम उल्लेख महाकाव्य में होता है, किन्तु संभवतः यह धारणा वैदिक काल में ही विकसित हो चुकी थी।[24] वैदिक साहित्य में भी महाकाव्यों की भांति अवतार का माता-पिता, भाई-बन्धु इत्यादि रूपों में वर्णन मिलता है।[25] इसमें विष्णु व इन्द्र को कई रूपधारी कहा गया है।[26] वैदिक धर्म में एक देव के अनेक रूपों में प्रकट होने का वर्णन है।[27] वामदेव सूत्र में भी अवतार का वर्णन दिखायी देता है।[28] इन्द्र को भी पृथ्वी पर अवतार लेते हुए दिखाया गया है।[29] यास्क ने भी किसी कारणवश देवों के अवतारवाद का प्रतिपादन किया है।[30]. वैदिक साहित्य का ब्रह्मा का निर्गुण-सगुण रूप[31] ब्रह्मा के विराट शरीर की कल्पना,[32] दैवों का पार्षद,[33] आयुध,[34] वाहन,[35], धाम,[36] एवं आभूषण[37] की कल्पना अवतारवाद से मिलता है। वैदिक साहित्य में सोलह कला पूर्ण पुरुष का भी वर्णन आता है।[38] अंशावतार, आवेशातार आदि मान्यताएं भी वैदिक धर्म में मिलती हैं।[39]

शतपथ ब्राह्मण में मत्स्य (1/8/111), कूर्म (7/5/115), वराह (14/112/11) आदि में अवतारवाद का संकेत मिलता है, महाकाव्यकाल में विष्णु के अवतार लेने की धारणा पुष्ट हुई। राम तथा श्रीकृष्ण को अवतार माना गया। आरम्भ में कृष्ण तथा विष्णु को पृथक माना जाता था, किन्तु तीसरी सदी ई. पू. तक वे अपृथक् माने जाने लगे।[40] विभिन्न धर्म ग्रंथों में कृष्ण को विष्णु का अवतार बताया गया तथा व्यावहारिक जीवन में भी इन्हें विष्णु के अवतार के रूप में पूजा जाने लगा। कृष्ण वासुदेव के रूप में पूजा जाने लगा। तिलक ने गीता रहस्य तथा राय चौधरी ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सैक्ट' में कृष्ण तथा वासुदेव को एक ही माना है। महाभारत में भी यही धारण है।[41] पाणिनि ने वासुदेव के अनुयायियों को 'वासुदेवक' कहा है।[42]

विभिन्न सूत्रों में भी अवतारवाद के संकेत मिलते हैं।[43] वस्तुतः 600 ई. पू. तक अवतारवाद का उदय हो चुका था।

अवतारवाद का प्रभाव बौद्ध धर्म की महायान शाखा पर भी पड़ा तथा उसमें भी अवतारवाद की कल्पना की गयी। अब ब्राह्मणों ने भी कृष्ण वासुदेव को विष्णु का

अवतार घोषित किया[44] तथा विष्णु के साथ अवतारवाद का संबंध जुड़ गया।[45] महाकवि व्यास ने भी कृष्ण को विष्णु का अवतार माना है।[46] वस्तुतः 400 ई. पू. तक अवतारवाद दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था।

अवतार शब्द का प्रयोग–वैदिक साहित्य में 'अवतार' एवं 'अवतारिता' आदि शब्द मिलते हैं तथा इन्हीं से अवतार शब्द का जन्म हुआ है।[47] इसका सर्वप्रथम प्रयोग महाकाव्यों में देखने को मिलता है। पाणिनि द्वारा अवतार शब्द हेतु 'अवतृ' धातु प्रयोग में लायी गयी है। रामायण के वर्तमान रूप में भी राम को विष्णु का अवतार माना गया है।[48] इस काल में वैदिक देववाद एवं साम्प्रदायिक अवतारवाद दोनों का प्रचलन था। इनके अतिरिक्त अवतारवाद की धारणा का प्रयोजन,[49] ईश्वर का विराट रूप[50], उसी रूप का राम आरोप[51], सामूहिक देवाशांवतरण,[52] अवतारों के नामों का वर्णन,[53] अवतारवादी आयुध[54], वाहन,[55] धाम,[56] विष्णु की पत्नी लक्ष्मी (सीता)[57] आदि का उल्लेख है। इस प्रकार इन विवरणों के अनुसार रामायण काल तक अवतारवाद का उदय हो चुका था।[58] महाभारत में भी राम का प्रसंग है तथा कृष्णावतार की धारणा इसी से प्रेरित है।[59]

महाभारत में अवतारवाद की धारणा पूर्णतः विकसित हो चुकी थी तथा इस काल के अवतारवाद में वैदिक तथा साम्प्रदायिक अवतारवादी तत्त्वों का सम्मिलन है। इसके अन्तर्गत अवतारवाद का प्रयोजन[60], विष्णु के दस अवतारों का वर्णन[61], पौश्कर अवतार,[62] एकार्णविविधि,[63] देवाशांर-तरण,[64] आयुध,[65] आभूषण,[66] धाम,[67] वाहन[68] आदि तत्त्व अवतारवाद के विकास की ओर संकेत करते हैं। महाभारत में अवतारणार्थ[69], अवतेरू,[70] अवतीर्ण[71] आदि शब्द[72] भी मिलते हैं। वस्तुतः गीता तथा महाभारत में अवतारवाद की पूर्णतः पुष्टि हो जाती है।

हरिवंश पुराण में भी अवतारवाद का उल्लेख मिलता है।[73] गीता अवतारवाद के चरमोत्कर्ष की स्थिति है।[74] इसके आधार पर ही आगे धर्म मर्मज्ञों ने अवतारवाद का विवेचन किया। अश्वघोष ने अपने सौन्दरानन्द तथा बुद्ध चरित नामक काव्यों में अवतारवाद की पुष्टि करते हुए बुद्ध के अवतारों का वर्णन किया है। बौद्धों के अवतारवाद में बुद्ध को लोकोत्तर माना गया है।[75] बौद्ध अवतारवाद की प्रवृत्ति उत्क्रमणशील है।

पतंजलि ने वासुदेव को भगवान का अवतार माना है।[76] एरण प्रस्तर[77] लेख में वराहवतार का वर्णन मिलता है। ईसा पूर्व शताब्दियों में विष्णु के अवतारवाद का सिद्धांत पूर्णतः स्थापित हो चुका था। डॉ. पी.वी. काणे इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[78] भास ने भी अपने नाटकों[79] में इसका समर्थन किया है।

अवतारवाद का प्रभाव–अवतारवाद की धारणा का भारत के जन-जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। यह भारतीय संस्कृति का आधार रहा है। इसने मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्तियों का परिष्कार किया तथा उसे ऊपर की ओर उठाया। इसने भारतीय जनता

में एक नयी जागृति उत्पन्न की तथा अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की। अवतारवाद ने भक्ति भावना के प्रचार में भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। राम एवं कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिये जाने तथा विष्णु के कुल 24 अवतार होने के तथ्य ने भारतीय जनता की भक्ति भावना को उद्वेलित किया।

अवतारवाद की भावना ने भारतीयों का चारित्रिक परिष्कार करते हुए उन्हें उच्च नैतिक जीवन की ओर उन्मुख किया। सांस्कृतिक उदासीनता एवं राजनीतिक अस्थिरता के युग में भी अवतारवाद की कथाएं भारतीयों के हृदय में आशा तथा उत्साह की भावना का संचार करती रही। अवतारवाद के सिद्धांत ने धर्म में सरसता लाते हुए इसके प्रचार में बहुत योगदान दिया।

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता धर्म सहिष्णुता तथा समन्वयशीलता है तथा यह विशेषता अवतारवाद में चरम सीमा पर दिखायी देती है। विभिन्न ईश्वरों को एक ही ईश्वर का अवतार माने जाने से विभिन्न मतों में सहिष्णुता तथा परस्पर एकता की भावना का विकास होता है।

अवतारवाद ने वस्तुतः सहिष्णुता, उदारता एवं धर्म समन्वय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। अवतारवाद की समन्वय की यह प्रवृत्ति देश में विभिन्न भागों में स्थित धर्म स्थानों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। अवतारवाद के अनुयायी देश के विभिन्न स्थानों के हिन्दू तीर्थों की यात्रा करना गौरव का विषय समझता है। वस्तुतः अवतारवाद ने भारतीयों में एकता की भावना को प्रोत्साहित किया है तथा आज की परिस्थितियों में भी यह भावात्मक एकता स्थापित करने में समर्थ है। इस प्रकार अवतारवाद ने भारतीय जीवन में सदैव आशा एवं उत्साह की एक नयी चेतना का संचार किया है तथा भविष्य में भी करता रहेगा।

संदर्भ

1. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ. 111.
2. ऋग्वेद, 10-166-1.
3. अथर्ववेद, 11-5-24-26.
4. गोपथ ब्राह्मण, पूर्व 2-28.
5. श्रीमद्भागवत, 5-28.
6. ऋग्वेद 1-180-10 तथा 10-178-1.
7. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 136-137.
8. मजूमदार : प्राचीन भारत, पृ. 153-154.
9. जातक कथा (अविदूरेनिदानं) अ पृ. 43.
10. दिवाकर, आरआर : भगवान बुद्ध, पृ. 67-68.

11. मज्झिम निकाय, 1/2/3.
12. डॉ. जी. सी. पाण्डेय : स्टडीज इन द ओरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, भारतीय संस्कृति, पृ. 77.
13. धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र, संयुक्त निकाय, 55/2/1.
14. मजूमदार, आर.सी. : दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ 228..
15. सर चार्ल्स इलियट: हिन्दुज्म एण्ड बुद्धिज्म,-पृष्ठ 337.
16. दिवाकर, आरआर : भगवान बुद्ध, पृष्ठ 209.
17. घोषाल, एच.आर. : एन आउटलाइन हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपल, पृष्ठ 28.
18. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 163-64.
19. हैवेल, ई. बी. : दी हिस्ट्री ऑफ आर्यान्स रूल इन इण्डिया, पृष्ठ 136.
20. प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास पृ. 162.
21. सरकार, जे.एन. : इण्डिया थ्रू दी एजेज़, पृ. 17.
22. हिन्दी विश्व कोष, भाग 2, पृष्ठ 179.
23. गीता शंकरभाष्य 1/1.
24. जे.एन. फर्कुहर : आ. ला. आ. द. रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ. 87.
25. ऋग्वेद, 3/53/5, 4/17/17, 6/21/8, 10/48/1.
26. ऋग्वेद 7/99/1, 7/36/9, 7/100/6, श्वेताश्व. 4/9.
27. वही 1/164/46.
28. ऋग्वेद, 4/36/1, वृहदारण्यक 1/4/40.
29. वही, 8/17/13.
30. यास्क, निरुक्त, 7/6-7.
31. वृहदाख्यक उप. 2/3/1, 4/4/20.
32. ऋग्वेद 10/3/12-16, 10/90/1.
33. वंही, 1/22/29, 4/18/11, 6/20/2, 2/17/1, 9/114/3, 2/23/1.
34. वही, 10/96/4, 10/98/4, 6/75, सम्पूर्णसूक्त अथर्व 5:20, सूक्त
35. ऋग्वेद 1/164/46, निरुक्त 12/7/6.
36. वही 1/22/20, 1/154/5-6.
37. वही, 2/33/9-10.
38. प्रश्नोपनिषद् 6/2, 6/6, श. ब्रा. 10/4/1/6, 16-18, 12/3/8/13, वृहदा उप. 1/5/14.
39. अंश ऋग्वेद 10/90/3, छान्दो उप. 2/12/6, केन उप. 2/1, श्वेता 2/16, विभूति : ऋग्वेद 10/9/11/12, निरुक्त 7/4/8-9.
40. राय चौधरी : अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव सैक्ट. पृ. 63.
41. म. भा. शा. प., 34/48.
42. द इण्डियन एण्टीक्वैरी, सितम्बर, 1908, पृ. 255.
43. वेदान्त दर्शन, 3/2/24.
44. दि इण्डियन एन्टीक्वैरी, सितम्बर 1908, पृ. 256-57.
45. वही, पृ. 256.
46. बी. वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 282.

47. ऋग्वेद सायणभाष्य 1/139/4, अथर्ववेद 18/3/5, ऋग्वेद 1/11/7, 1/93/4, 6/25/2, 147/11.
48. दी एज ऑफ इम्पिरियल यूनिटी, पृ. 254.
49. वाल्मिकि रामायण, 1/16/3, 1/15/14, 1/14/21-22, 2/117.
50. वा. रा. यु. का. 117/14, 16, 26, 27, 31.
51. वही, यु. का, 128/120, यु. का. 35/36.
52. वही, बा. का. 17/2, 4.
53. वही, 1/29/9, 19-21, 1/40/3, 25, 29/30, 2/110/4.
54. वही, बा. का. 15/16, 17.
55. वही, 1/15/17.
56. वही, 1/1/97, यु. का. 117/29.
57. वही, यु. का., 113/52.
58. रूपनारायण : ब्रजभाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्यभक्ति, पृ. 28.
59. फादर कामिल बुल्के रामकथा, पृ. 145.
60. म. भा. आ. प., 209/10, 11, 339/101-102.
61. वही, शा. प. 339/104.
62. वही, शा. प. 207/12, 13.
63. वही, शा. प. 342/3-4.
64. वही, अ. प. 276/6-8.
65. वही 3/189/40, 1/130/23, 5/68/2.
66. वही, 121/209/40, 3/372/74.
67. वही, 3/361/37.
68. वही, उ. प., 105/9.
69. म. भा., 12/339/41-42.
70. म. भा. शा. प., 339/101, 341/38.
71. वही, अ. प. 65/3
72. वहीं, म. अ. प., 272/17.
73. श्री हाजरा : पौराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ. 23.
74. वही, पृ. 55.
75. महावस्तु, भाग 1. पृ. 163, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. 230.
76. महाभाष्य, सूत्र, 4/3/98.
77. एपीग्रेकिया, इण्डिया, जिल्द 10, अनुसूची, पृ. 63.
78. पी. वी. काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ. 724.
79. बी. वरदाचार्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 282.
बल्देव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, षष्ठ संस्करण, पृ. 497.

□

10

भारतीय दर्शन

मानव एक विचारशील प्राणी होने के कारण निरन्तर चिंतन करता रहता है तथा इसके फलस्वरूप प्राप्त अनुभूत ज्ञान ही दर्शन कहलाता है। भारतीय दर्शन के प्रमुख अंग इस प्रकार हैं–

उपनिषद्

डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है, "उपनिषद् भारतीय आध्यात्म शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं।"[1]

उपनिषद का अर्थ–उपनिषद् 'उप + नि + षद्' इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। उप का तात्पर्य है निकट, निः का निष्ठापूर्वक तथा षद् का बैठना है। इस प्रकार प्राचीनकाल में शिष्य अपने गुरु के पास निष्ठापूर्वक बैठकर जिन दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन करता था, उन्हें ही उपनिषद कहा जाता था। मैक्समूलर के अनुसार, "उपनिषद् वे आदि स्रोत हैं तथा ऐसे निबंध हैं, जिनमें मुझे मानवीय भावना अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी मालूम होती है।"

उपनिषदों की संख्या–उपनिषदों की संख्या के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है।

गीता प्रेस, गोरखपुर ने इनकी संख्या 220 तथा अडियार पुस्तकालय, मद्रास में इनकी संख्या 179 है। बाहर उपनिषद प्रमुख हैं–(1) ईश, (2) केन, (3) कठ, (4) प्रश्न, (5) मुण्डक, (6) माण्डूक्य, (7) ऐत्तरेय, (8) तैत्तिरीय, (9) वृहदारण्यक, (10) कोषीतकी, (11) छान्दोग्य एवं (12) श्वेताश्वर। शंकराचार्य ने इन सभी उपनिषदों पर भाष्य लिखे थे। इनकी रचना कालके संबंध में विद्वानों का अनुमान है कि ये सातवीं सदी ई. पू. में लिखे गये थे।

उपनिषद् वेदान्त क्यों कहलाते हैं?–उपनिषद् को 'वेदान्त' भी कहा जाता है। इसके निम्न कारण हैं–

(1) वैदिक साहित्य के चार अंग हैं–ब्राह्मण, संहिता, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम अंग हैं।

(2) उपनिषदों का अध्ययन सामान्यतः संन्यासाश्रम में किये जाने के कारण इन्हें वेदान्त कहते हैं।

3. वेदों के विचारों का पूर्ण विकास उपनिषद् में मिलता है।

(4) उपनिषद् वेदों के 'गूढ़ रहस्य' होने के कारण भी वेदान्त कहलाते हैं।

वेदों व उपनिषदों के विचारों में अन्तर

(1) वैदिक धर्म यज्ञों पर बहुत बल देता है, जबकि उपनिषद् यज्ञों का विरोध कर शुद्ध आचरण पर बल देते हैं।

(2) वेद बहुदेववाद का समर्थन करते हैं, तो उपनिषद् एकेश्वरवाद का।

(3) वेद तर्कों पर आधारित न होने के कारण दार्शनिक ग्रंथ नहीं हैं, जबकि उपनिषद दार्शनिक ग्रंथोमें आते हैं।

उपनिषदों के प्रमुख विचार

(1) आत्मा का स्वरूप–उपनिषदों में आत्मा को अजर, अमर, सर्वव्यापी बताया है। उस पर जन्म, जरा, मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। व्यक्ति अपनी आत्मा को पहचानने पर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, "आत्मा नाम और रूपरहित है। वह ब्रह्मा है, अमृत है।" पुरुष के शरीर में आत्मा का प्रकाश होने पर ही उसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

(2) ब्रह्मा का स्वरूप–उपनिषदों में ब्रह्मा को विश्व का सृष्टा, पालक, संचालक एवं संहारक माना गया है। जिस प्रकार मकड़ी पहले जाल बनाती है, कुछ समय उसे बना रहने देती है तथा तत्पश्चात् स्वयं ही उसे निगल जाती है, वैसा ही ब्रह्म तथा सृष्टि का संबंध है। ब्रह्म इस विश्व में दूध में मक्खन की भांति व्याप्त है।

(3) आत्मा एवं ब्रह्मा की एकता–उपनिषदों में आत्मा तथा ब्रह्मा को एक तथा अपृथक् माना गया है। शरीर छोड़ने पर आत्मा ब्रह्म में लुप्त हो जाती है, किन्तु यदि वह निर्मल नहीं है, तो उसे अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म लेना पड़ता है। उपनिषदों में आत्मा व ब्रह्म पर बहुत बल दिया गया है।

(4) जीवन का प्रयोजन : मोक्ष प्राप्ति–उपनिषदों के अनुसार मोक्ष परम शान्ति व परम आनंद की अवस्था तथा मानव जीवन का अंतिम ध्येय है। व्यक्ति अच्छे कार्य करके ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है, "उपनिषदों में सच्चे सुख की जो कल्पना की गयी थी, वह मोक्ष का सुख था। वह जीवन और मृत्यु से छुटकारा पाने का सुख था। इस सुख के सामने स्वर्ग सुख को उपनिषदों ने हीन बताया और इस प्रकार लोग स्वर्ग के सामने लौकिक जीवन को भी हीन मानने लगे।"[2]

उपनिषदों के अनुसार स्वर्ग में पुण्य समाप्त होते ही व्यक्ति को पुनः जन्म लेना पड़ता है, किन्तु मोक्ष परम शान्ति की स्थिति है। अतः उपनिषदों में स्वर्ग की तुलना में

मोक्ष पर अधिक बल दिया गया है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है, "धन से सब प्रकार के सांसारिक सुख मिलेंगे, परन्तु अमरत्व या अमरता नहीं मिल सकेगी।" उपनिषद् भोग विलास की अपेक्षा त्याग पर बल देते हैं।

(5) **सृष्टि निर्माण**–उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मा ने पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा प्रकाश को मिलाकर सृष्टि की रचना की है। वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है, "जिस प्रकार मकड़ी अपने सूत्रों के सहारे बाहर जाती है तथा जिस प्रकार अग्नि से चिंगारियां निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा से सभी विश्व, सभी देवता तथा सभी जीव निकलते हैं।"

(6) **वैदिक कर्मकाण्ड की आलोचना**–उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्डों की निन्दा की गयी है। मुण्डकोपनिषद् में यज्ञ करने वाले तथा कराने वाले दोनों को मूर्ख कहा गया है। उपनिषद कर्म की तुलना में ज्ञान को महत्त्व देते हैं।

(7) **ब्रह्म ज्ञान पर बल**–उपनिषदों के अनुसार व्यक्ति ब्रह्म ज्ञान की साधना कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। "ब्रह्म को जानना ही एक मात्र सत्य है। जो भी पुरुष प्राणियों में उसी ब्रह्म की सत्ता को देखते हैं, वे मरने के पश्चात् अमर हो जाते हैं।" मनुष्य मन, वचन तथा कर्म से संयम पालते हुए तथा सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य के अनुसार जीवन व्यतीत करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को अपनी इच्छाओं का दमन कर देना चाहिये। इच्छाओं का दमन करके ही व्यक्ति ब्रह्म बन सकता है तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो सकता है।

(8) **तर्क पर बल**–उपपनिषदों में गूढ़ रहस्यों के समाधान ढूँढ़ने हेतु तर्क की प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार व्यक्ति का अपनी आत्मा से साक्षात्कार हो सकता है।

(9) **कर्म व पुनर्जन्म का सिद्धांत**–उपनिषद् कर्म व पुर्नजन्म के सिद्धात में विश्वास रखता है। इसका मानना है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति का अगला जन्म होता है तथा मोक्ष प्राप्ति पर मनुष्य इस जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। अतः व्यक्ति स्वयं अपने दुःखों हेतु उत्तरदायी होता है। उसे अच्छे कर्म कर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये, ताकि वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाए।

(10) **नैतिकता पर बल**–उपनिषदों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान होने के साथ-साथ व्यक्ति का सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करना भी आवश्यक है। व्यक्ति को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। उसे अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिये तथा अतिथि का सम्मान करना चाहिये। ईशावास्योपनिषद् में लिखा है, "यह सारा संसार और इसमें जो कुछ है, वह ईश्वर से व्याप्त है। अतः त्याग के साथ भोग करो, किसी दूसरे के धन पर मत ललचाओ।"

मुण्डकोपनिषद् में सत्य के संबंध में लिखा गया है, "सत्य की ही जीत होती है, असत्य की नहीं। सत्य के बल पर दुर्बल भी बलवान को पराजित कर सकता है अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बल का सबसे बड़ा बल है।"

उपनिषदों का महत्त्व–उपनिषद् विश्व की श्रेष्ठतम दार्शनिक रचनाएं मानी जाती हैं। जैन धर्म, बौद्ध धर्म, गीता आदि सभी पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। विख्यात् जर्मन विद्वान शोपेनहावर ने लिखा है, "सारे संसार में ऐसा कोई भी स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदों के समान उपयोगी तथा उन्नति की ओर ले जाने वाला है। वे उच्चतम बुद्धि की उपज हैं। अन्ततोगत्वा एक दिन ऐसा होना ही है, जब वे जनसाधारण का धर्म होंगे।"

उपनिषदों की शिक्षाएं पूर्णतः नैतिक हैं तथा भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों पर उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। सभी विद्वानों ने उपनिषदों की जी खोलकर प्रशंसा की है। इन्होंने मानव मात्र को शान्ति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है, अतः इन्हें मानव मात्र का मार्गदर्शक कहा जाता है। उपनिषदों के कर्म व पुनर्जन्म तथा त्याग आदि सिद्धांतों का आज भी भारतीय जन-जीवन पर प्रभाव दिखता है। इनकी शिक्षाएं आज भी बड़ी महत्तवपूर्ण हैं।

योग

योग सैद्धांतिक दृष्टि से सांख्य दर्शन पर आधारित है। इसके प्रवर्तक पतंजलि मुनि माने जाते हैं। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के समान सांख्य दर्शन भी अनीश्वरवादी है। सांख्य दर्शन का प्रतिपादन कपिल मुनि ने किया था। इसके अनुसार सृष्टि का निर्माण पुरुष व प्रकृति के संयोग से हुआ है, इसके विपरीत योग दर्शन आस्तिक है तथा उसे आस्तिक सांख्य भी कहा जाता है।

योग की प्राचीनता–भारत में योग की परम्परा काफी प्राचीन मानी जाती है। सिन्धु घाटी में प्राप्त योगी की ध्यान मग्न मूर्ति से वहां योग साधना प्रचलित होने का पता चलता है। वेदों, उपनिषदों, महाभारत एवं बौद्ध धर्म में भी योग के संकेत दिखते हैं। महर्षि पतंजलि ने 150 ई. पू. में 'योग सूत्र' नामक ग्रंथ लिखा, जो योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

योग का अर्थ–योग शब्द 'पुत्र' नामक धातु से निकला है, जिसका तात्पर्य हे 'मिलना अथवा जुड़ना।' वस्तुतः योग साधना द्वारा आत्मा परमात्मा से जुड़ सकती है। पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए लिखा है 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' अर्थात् योग साधना चित्त पर नियंत्रण करने वाली साधना है1 मनुष्य का चित्त बड़ा चंचल है तथा योग साधना द्वारा ही उस पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। योग साधना में मन को एकाग्र करने हेतु अनेक क्रियाओं का वर्णन है।

योग के मूल विचार–योग दर्शन के मूल विचार इस प्रकार हैं–

(1) ईश्वर के संबंध में विचार–योग दर्शन आस्तिक है तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है। पतंजलि ने कहा कि व्यक्ति ईश्वर में विश्वास तथा भक्ति द्वारा ही अपना कल्याण कर सकता है। योग का अन्तिम अंग समाधि है, जो भक्ति पर ही आधारित है। पतंजलि ने ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में तर्क देते हुए कहा कि इस तथ्य को वेदों तथा उपनिषदों में भी स्वीकार किया गया है। इसके अलावा हमें कोई भी व्यक्ति सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं मिलता, अतः कोई न कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो सभी दृष्टियों से पूर्ण हो। यह ईश्वर ही है।

सांख्य दर्शन के अनुसार इस सृष्टि की रचना ईश्वर ने न करके प्रकृति व पुरुष के संयोग से हुई है, जबकि योग दर्शन ईश्वर में विश्वास रखता है तथा प्रकृति व पुरुष पर ईश्वर का नियंत्रण मानता है। इसके अनुसार संयोग से सृष्टि तथा वियोग से विलय होता है तथा ये दोनों ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं। ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए योग दर्शन कहता है कि वह अन्य पुरुषों से भिन्न एक पुरुष है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वोच्च व सर्वज्ञ है तथा उसमें किसी तरह का दोष नहीं होता। वह भय, वासना, दुःख, मृत्यु इन सभी बातों से दूर है। वह पूर्ण ज्ञानी तथा सृष्टि का संचालक है। वही सृष्टि पर नियंत्रण रखता है।

(2) प्रकृति–प्रकृति जड़ तत्त्व तथा पुरुष चेतन तत्त्व है। सृष्टि प्रकृति से ही विकसित हुई है। प्रकृति का निर्माण सत, रज एवं तम इन तीन गुणों से मिलकर हुआ है।

(3) पुरुष–पुरुष एक शुद्ध तत्त्व है, किन्तु अज्ञान एवं अविवेक से वह प्रकृति के विकारों से प्रभावित होकर स्वयं को कर्ता व भोक्ता समझने लगता है। अतः वह कर्म करने लगता है व जन्म-मरण के चक्र में बंध जाता है। मनुष्य विवेक से कार्य कर इस चक्र से छूट सकता है।

(4) मोक्ष–यह आनंद व परम शांति की स्थिति है। इसको प्राप्त कर व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

अष्टांग योग–योग दर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने चित पर नियंत्रण रखकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है तथा इस हेतु इसमें 'अष्टांग योग' का प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है–

(1) यम–चित्त पर नियंत्रण रखने हेतु निम्न पांच व्रतों का पालन करना चाहिये–

(i) **अहिंसा**–मनुष्य को मन, वचन व कर्म से किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये। इससे उसे मानसिक शांति मिलती है।

(ii) **सत्य**–व्यक्ति को सत्य का पालन तथा असत्य का त्याग करना चाहिये। इससे उसे चित की शांति मिलती है।

(iii) **अस्तेय**–इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति को चोरी नहीं करनी चाहिये।

(iv) **अपरिग्रह**–इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह नहीं करना चाहिये।

(v) **ब्रह्मचर्य**–व्यक्ति को भोगविलास से दूर रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

(2) **नियम**–इसके अन्तर्गत व्यक्ति को निम्न पांच नियमों का पालन करना चाहिये–

(i) **शौच**–इसका तात्पर्य शुद्धता से है तथा यह आन्तरिक व बाह्य दो प्रकार की होती है। बाहरी शुद्धता सात्विक भोजन व शरीर को साफ रखकर रखी जा सकती है तथा आन्तरिक शुद्धता मैत्री, दया आदि विचारों को अपनाकर रखी जा सकती है।

(ii) **संतोष**–व्यक्ति को जो कुछ प्राप्त हो, उसी में संतोष करना चाहिये।

(iii) **तप**–व्यक्ति को सर्दी, गर्मी तथा वर्षा आदि में विभिन्न कष्ट सहने हेतु अपने शरीर को ढालना चाहिये।

(iv) **स्वाध्याय**–इसका तात्पर्य है व्यक्ति को धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिये।

(v) **ईश्वर प्राणिधानं**–व्यक्ति को ईश्वर के प्रति श्रद्धा व समर्पण का भाव रखकर चिंतन करना चाहिये।

(3) **आसन**–योग दर्शन में शरीर को स्वस्थ रखने हुतु कुछ योगासन बताये गये हैं, जिनमें पद्मासन, मयूरासन, भद्रासन आदि प्रमुख हैं। इन आसनों से इन्द्रियों पर भी नियंत्रण रहता है।

(4) **प्राणायाम**–श्वसन क्रिया के उचित नियंत्रण को ही प्राणायाम कहा जाता है। इससे हृदय को शक्ति प्राप्त होती है।

(5) **प्रत्याहार**–प्रत्याहार का तात्पर्य है कि इन्द्रियों पर इस प्रकार से नियंत्रण स्थापित किया जाना चाहिये कि व्यक्ति का मन सांसारिक कार्यों से विरक्त हो जाये।

(6) **धारणा**–धारणा का तात्पर्य चित्त को इच्छित पदार्थ पर स्थिर अथवा केन्द्रित करना है। इसके द्वारा चित्त की प्रवृत्तियों को एकाग्रचित किया जाता है।

(7) **ध्यान**–ध्यान का तात्पर्य चित्त को एकाग्र करके किसी पदार्थ या विषय पर निरन्तर ध्यान बनाये रखना है। इससे व्यक्ति को उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

(8) **समाधि**–यह योग दर्शन की अन्तिम अवस्था है। इसे दो भागों में विभिक्त किया गया है–

(i) **संप्रज्ञात समाधि**–यह छोटी समाधि है तथा इसमें व्यक्ति को मात्र अपने ध्येय का ही ध्यान रहता है। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार इसमें योगी की बुद्धि क्रियाशील रहती है।

(ii) **असंप्रज्ञात समाधि**–यह बड़ी समाधि होती है। इसमें व्यक्ति अपने ध्येय के चिन्तन में इतना लीन हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व का ही पता नहीं रहता। इसमें योगी की बुद्धि क्रियाशील नहीं रह पाती। इसमें व्यक्ति को मात्र उसी वस्तु का ध्यान रहता है, जिस हेतु उसने समाधि ली है। इस समाधि से व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा पाना संभव है।

योग साधना से व्यक्ति में दैवीय शक्तियां आ जाती हैं। उसमें इच्छित वस्तु प्राप्त करने की तथा हिंसक जानवरों को वश में करने की शक्ति आ जाती है। उसमें अदृश्य होने की भी शक्ति आ जाती है। योग दर्शन में कहा गया है कि योगी को साधना इन सिद्धियों की प्राप्ति के उद्देश्य से न करके मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से करनी चाहिये।

गीता में योग–गीता में योग के महत्त्व को स्वीकार किया गया है तथा उसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का आधार बताया गया है। योग से मनुष्य का मनोबल ऊंचा रहता है तथा वह स्वस्थ रहता है, श्रीकृष्ण ने योग की परिभाषा देते हुए कहा है, "योग न तो कोई चमत्कार है और न शरीर को पीड़ा पहुँचाना ही योग है। जो अपने आहार और विहार में संतुलित है, जो कर्म चेष्टाओं में अति नहीं करता, जो सोने और जगने में नियम का पालन करता है, उसी का योग साधन ठीक है।"

योग दर्शन का महत्त्व–योग दर्शन का भारत के सभी धर्मों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। इसकी सृष्टि रचना संबंधी सिद्धांत को सभी धर्मों ने मान्यता दी है। योग द्वारा व्यक्ति का शारीरिक व बौद्धिक विकास होता है। योग द्वारा व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सकता है तथा मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म भी इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। बौद्ध धर्म की सम्यक् समाधि इसी की सूचक है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन न्याय की धारणा पर आधारित है। इसके प्रवर्तक गौतम मुनि माने जाते हैं। पाचवीं सदी में न्याय दर्शन की दो धाराएं विकसित हुईं–प्रथम, प्राचीन न्याय, जिसमें सूत्रकार गौतम ने प्रमाण, प्रयोजन, प्रमेय आदि का वर्णन किया है। द्वितीय, नव्य न्याय धारा, जिसमें शब्द प्रमाण का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

न्याय दर्शन में मोक्ष प्राप्ति हेतु सोलह तत्त्व बताये गये हैं– प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान। प्रमाण को ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता है। यह चार भागों में विभक्त है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द। इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त

ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। यह दो प्रकार का है– निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। हेतु के ज्ञान से उसे धारण करने वाली शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना 'अनुमान' कहलाता है। यह तीन प्रकार का है– पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। पूर्व अनुभूत वस्तु के सादृष्य रूप धारण करने से प्राप्त नया ज्ञान 'उपमान' कहलाता है। आप्त पुरुष का उपदेश शब्द प्रमाण कहलाता है–

न्याय दर्शन का दूसरा मुख्य तत्त्व प्रमेय है, जो बारह भागों में विभक्त है–(1) शरीर– भोगों का आधार। (2) आत्मा सभी वस्तुओं को देखने वाली व उनकी ज्ञाता। (3) इन्द्रिय– ये आत्मा को बाह्य पदार्थों का भोग कराती है। (4) अर्थ– भोग की गयी सामग्री। (5) बुद्धि– भोग, ज्ञान। (6) मन– सुख-दुःख का इन्द्रिय अन्तर। (7) प्रवृत्ति– मन, वचन तक शरीर का व्यापार किया जाना। (8) दोष– ये अच्छे अथवा बुरे कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। (9) प्रेत्यभाव– पुनर्जन्म की धारणा। (10) फल– सुख-दुःख का अनुभव। (11) दुःख– कारणवश मन को पहुँची पीड़ा। (12) अपवर्ग– दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पाना।

सिद्धांत चार प्रकार के होते हैं– सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण व अभ्युपगम। अवयव भी पांच भागों में विभक्त होते हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय व निगमन। हेत्वाभास पांच भागों में विभक्त होता है– असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदष्टि एवं प्रकरण सम। छल तीन भागों में विभक्त होता है– वाक् छल, सामान्य छल व उपचार छल।

वैशेषिक दर्शन

इसके मुख्य सिद्धांत न्याय दर्शन के समान ही है। इस पर बौद्धों का विशेष प्रभाव रहा है। आरंभ में इनका प्रत्यक्ष व अनुमान इन दो प्रमाणों में ही विश्वास था। इस कारण इन्हें आधा बौद्ध भी माना जाता है।

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय व अभाव। द्रव्य नौ प्रकार के हैं– भू, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा व मन। गुण चौबीस भागों में विभक्त हैं– स्पर्श, रूप, रस, गंध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, वियोग, परिणाम, पृथकत्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुखेच्छा, दुःखेच्छा, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, द्वेष, स्नेह, गुरुत्व व द्रवत्व, कर्म पाच भागों में विभक्त है– उत्क्षेप, अवक्षेप, अवकुञ्चनक, प्रसारण तथा भेद। सामान्य पर एवं अपर दो भागों में विभक्त है। इन तत्त्वों का ज्ञान हो जाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। न्याय दर्शन के समान ही वैशेषिक दर्शन में भी चार प्रमाण माने गये हैं।

इस दर्शन की एक मुख्य विशेषता परमाणुवाद है। इसका उल्लेख तो यद्यपि न्याय दर्शन में भी है, किन्तु इसका विश्लेषणात्मक विवेचन वैशेषिक दर्शन में मिलता है। इस सिद्धांत का तात्पर्य है कि समूचे भौतिक जगत् का निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। ये

परमाणु कभी पृथक् एवं कभी अपृथक् रहते हैं। ईश्वर के ध्यान मात्र से पृथ्वी व अग्नि के परमाणुओं से इस सृष्टि की रचना हुई है।

सांख्य दर्शन

यह दर्शन न्याय एवं वैशेषिक दर्शन की तुलना में प्राचीन है। कठ, छान्दोगय व श्वेताश्वर आदि उपनिषदों में इस दर्शन के सूत्र दिखते हैं। इसके प्रतिपादक कपिल मुनि थे। सांख्य का तात्पर्य यथार्थ के ज्ञान से है। इस दर्शन में पच्चीस तत्त्व बतलाये गये हैं, किन्तु इनमें पुरुष व प्रकति मुख्य हैं, इस दर्शन में पुरुष को लंगड़ा एवं प्रकृति को अन्धा बतलाया गया है तथा इन दोनों के संयोग से ही सांसारिक चक्र चलता रहता है, किन्तु पुरुष को कैवल्य ज्ञान प्राप्त होने से रुक जाता है। पच्चीस तत्त्वों के विकास को इस प्रकर समझाया जा सकता है–

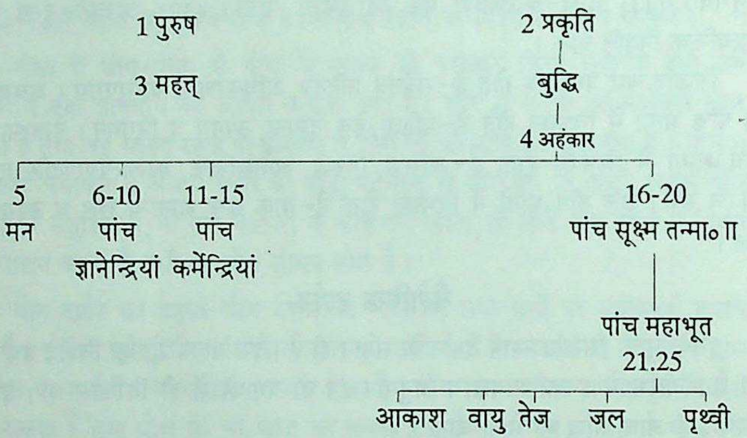

सांख्य दर्शन में पुरुष के अमूर्त, नित्य भोगी, चेतन, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म आदि गुण माने गये हैं। यह पुरुष शरीर, मन व इन्द्रिय से युक्त होने पर 'जीव' बन जाता है। सांख्य दर्शन में ज्ञान पांच भागों में विभक्त किया गया है– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति। प्रमाण तीन प्रकार का है–प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द। दुःख को आध्यात्मिक, अधिदैविक व अधिभौतिक तीन भागों में विभक्त किया गया है।

प्राचीन आचार्यों ने सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का कोई वर्णन नहीं किया है। इससे कुछ विवाद उत्पन्न हो गये। अतः आगे चलकर वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नगेश आदि आचार्यों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

बौद्ध दर्शन ने सांख्य दर्शन से बहुत प्रेरणा ली है। अहिंसा, दुःख की धारणा, अनीश्वरवाद, वैदिक कर्मकाण्डों का विरोध आदि धारणांए सांख्य दर्शन से ही ली हैं।

पूर्व मीमांसा दर्शन

यह काफी प्राचीन माना जाता है तथा इसका उल्लेख संहिताओं व ब्राह्मण ग्रंथों आदि में आता है। इस दर्शन के बिखरे विचारों को महर्षि जैमिनि (600-500 ई. पू.) ने व्यवस्थित किया था। इस दर्शन के आधार शबर स्वामी ने 'शबर भाष्य' की रचना की। शबर भाष्यों के टीकाकारों ने तीन सम्प्रदायों को जन्म दिया-भाट्ट, गुरु व मुरारी, जिनके प्रवर्तक क्रमशः–कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र व मुरारि मिश्र थे।

मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत वेदों को नित्य तथा अपौरुषेय माना गया है। इस संसार में कर्म ही प्रधान है। मीमांसा दर्शन में कर्म तथा उसके फल के संबंध में 'अपूर्व' नामक सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इस दर्शन में कर्म तीन भागों में विभक्त किये गये हैं–नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। इसमें कर्म को ही सत्य माना गया है।

मीमांसा के अन्तर्गत वैदिक देवताओं के अस्तित्व को तो स्वीकार किया गया है, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में ये कुछ नहीं कहते। इसमें मीमांसक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, तो दूसरी तरफ कुमारिल आदि मीमांसक इसका विरोध करते हैं। इस दर्शन के अन्तर्गत् आत्मा को नित्य व शाश्वत तत्त्व माना गया है तथा उसमें चैतन्य का गुण निहित माना गया है।

मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत् छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया है–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव। इसमें ज्ञान प्राप्ति के चार अंग माने गये हैं–ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान तथा ज्ञातता अथवा कारण। प्रभाकर ने आठ तत्त्वों का वर्णन किया है–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य परतंत्रता, शक्ति, सादृष्य व संख्या। गुणों का अधिष्ठान द्रव्य कहलाता है तथा यह नौ भागों में विभक्त है–भू, जल, वायु, अग्नि, आकाश, आत्मा, मन, काल व स्थान। वस्तुतः मीमांसा दर्शन भौतिक जगत् के अस्तित्व को स्वीकार कर यथार्थवादिता का परिचय देता है।

नास्तिक-आस्तिक दर्शन

यह भी भारतीय दार्शनिक विचारधारा का एक प्रमुख अंग है। सामान्यतः आस्तिक का तात्पर्य ईश्वर में विश्वास रखने वाले तथा नास्तिक का तात्पर्य ईश्वर में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति से लिया जाता है। किन्तु प्राचीन काल में आस्तिक का अभिप्राय वेदों के समर्थक तथा नास्तिक का अभिप्राय वेदों के विरोध् से लिया जाता था। इसके अलावा आस्तिक का तात्पर्य परलोक में विश्वास रखने वाले व्यक्ति तथा नास्तिक का तात्पर्य परलोक में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति से लिया जाता है। आस्तिक व नास्तिक विचारधारा का अध्ययन निम्न तीन आधारों पर किया जा सकता है–

(1) ईश्वर के आधार पर–साधारणतया ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखने वाले व्यक्ति को आस्तिक तथा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति को

नास्तिक कहा जाता है। इसके अन्तर्गत मीमांसा दर्शन अपूर्व की कल्पना द्वारा एवं सांख्य दर्शन पुरुष व प्रकृति के संयोग के अन्तर्गत् ईश्वर की कल्पना को स्वीकार करते हैं। दूसरी तरफ जैन एवं बौद्ध धर्म ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते दिखायी देते, किन्तु प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नास्तिक-आस्तिक दर्शन का यह आधार भ्रमपूर्ण है एवं अनेक विवादों को उत्पन्न करने वाला है।

(2) परलोकवाद के आधार पर–भट्टोजी दिक्षित ने पाणिनि के सूत्र की व्याख्या करते हुए परलोक में विश्वास करने वाले व्यक्ति को आस्तिक तथा परलोक में विश्वास न करने वाले व्यक्ति को नास्तिक कहा है। इस व्याख्या के आधार पर चार्वाक दर्शन को छोड़ शेष सभी दर्शन अर्थात् जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त एवं मीमांसा आस्तिकता की श्रेणी में आते हैं। किन्तु आस्तिकता व नास्तिकता के विभाजन का यह आधार भी दोषपूर्ण व विवादाग्रस्त है।

(3) वेदों के आधार पर–इसके अनुसार वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास करने वाले दर्शन को आस्तिक व वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास न करने वाले दर्शन को नास्तिक कहा गया है। इस व्याख्या के अनुसार चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि दर्शनों को नास्तिकता की श्रेणी में रखा जा सकता है। किन्तु दूसरी तरफ इस धारणा के अन्तर्गत वैदिक धर्म के दोषों से ग्रस्त होने के कारण उसे लौकिक उपायों के समान मानकर सांख्य दर्शन प्रतिपादित ज्ञान मार्ग को विशेष महत्त्व दिया जाता है। अतः यह तथ्य स्वयं ही एक विवाद उपस्थित कर देता है।

चारवाक दर्शन

यह नास्तिक दर्शन भी कहा जाता है। इसे ब्राहस्पत्य दर्शन भी कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास करता हैं तथा पूर्णतः भौतिकवादी है। यह ईश्वर, परलोक, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि में विश्वास नहीं रखता है। इसका मुख्य सिद्धांत 'खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ' है। 'जब तक जिओ, सुख से जिओ' 'ऋण लेकर भी घी पिओ', क्योंकि यह जन्म पुनः मिलने वाला नहीं है। इनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य द्रव्य प्राप्ति व योग है। ये वेदों के निर्माताओं को धूर्त एवं पाखण्डी मानते हैं। इनके दर्शन का मूल ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। (ब्राहस्पत्य सूत्र) इनके सिद्धांत 'सर्वदर्शन संग्रह' के प्रथम अध्याय में देखने को मिलते हैं।

भरतीय दर्शन की विशेषताएं–भारतीय दर्शन की विशेषताएं इस प्रकार बतलायी जा सकती हैं–

(1) भारतीय दर्शन की चरम परिणिति अथवा परम ध्येय मोक्ष प्राप्ति है।

(2) भारतीय दर्शन का प्रमुख उद्देश्य जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करना है।

(3) चारवाक दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों ने अध्यात्म पर विशेष बल दिया है।

(4) भारतीय दर्शन में जीवन तथा व्यवहार दोनों को समान महत्त्व दिया गया है।

(5) यद्यपि भारतीय दर्शन पर निराशवादी होने का भी आरोप लगाया जाता है, किन्तु वस्तुतः यह एकांगी आक्षेप हैं।

(6) भारतीय दर्शन विद्या एवं अविधा पर विस्तार से विचार करते हुए विद्या के महत्त्व का प्रतिपादन करता है।

(7) भारतीय दर्शन समन्वय प्रधान है। इसमें ब्रह्म संबंधी विरोधी धारणाओं में समन्वय का प्रयत्न किया गया है।

(8) भारतीय दर्शन परलोक व पुनर्जन्म में विश्वास रखता है।

(9) भारतीय दर्शन में व्यावहारिक ज्ञान हेतु प्रमाणों के महत्त्व पर बहुत बल दिया गया है।

(10) भारतीय दर्शन अपनी विवेचनात्मकता हेतु भी विख्यात है।

संदर्भ

1. शर्मा, एस.आर. (डॉ.) : इण्डिया एज आई सी हर, पृष्ठ 45 से उद्धृत.
2. दिनकर, रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 91.

□

11

धार्मिक नीति

हर्यक वंश के शासकों की धार्मिक नीति

डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार हर्यक वंश की स्थापना 544 ई. पू. में बिम्बिसार ने की थी।

बिम्बिसार (544 ई. पू. 493 ई. पू.) – बुद्ध से प्रभावित होकर बिम्बिसार ने बौद्ध धर्म अपना लिया। उसने बौद्धभिक्षुओं पर से कर हटा लिया तथा उनके लिये कई विहार बनवाये, किन्तु दूसरी तरफ जैन धर्म के ग्रंथ उसे जैन बतलाते हैं। वस्तुतः उसने जैन व बौद्ध दोनों ही धर्मों को संरक्षण दिया।

अजातशत्रु (493 ई. पू. 462 इ. पू.) —जैन ग्रंथों में अजातशत्रु को भी आरम्भ में जैन धर्म का अनुयायी बताया गया है। जैन ग्रंथ अजातशत्रु को पितृ हन्ता नहीं मानते। ऐसा लगता है कि वह आरम्भ में जैन रहा होगा तथा कुछ समय बाद उसने बौद्ध धर्म अपना लिया होगा। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु ने अपने पितृ हत्या के पाप की बुद्ध से क्षमा मांगी थी। उसने राजगृह में बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अवशेषों पर एक स्तूप भी बनवाया था। उसने राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन करवा कर उसका समस्त भार स्वयं वहन किया। नन्द वंश के शासकों ने जैन धर्म को संरक्षण दिया था।

मौर्य शासकों की धार्मिक नीति

चन्द्रगुप्त मौर्य (322 ई. पू.–298 ई. पू.) –मेगस्थनीज के अनुसार आरम्भ में चन्द्रगुप्त वैदिक धर्म का अनुयायी था। जैन साहित्य के अनुसार उसने अपने जीवन के अंतिम दिनों में जैन धर्म अपना लिया था तथा तत्पश्चात् राजसिंहासन त्याग कर दक्षिण चला गया, जहां 298 ई. पू. में उसने उपवास द्वारा अपने प्राण त्याग दिये।

अशोक महान (269 ई. पू.–232 ई. पू.)

अशोक और बौद्ध धर्म

अशोक ने बौद्ध धर्म को अपनाकर न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी इसका प्रचार किया,

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करना–डॉ. राधा-कुमुद मुकर्जी के शब्दों में, "अशोक आरम्भ से ही बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था।"[1] राजतरंगिणी के अनुसार पहले वह शिव भक्त था। वह शिकार खेलता था तथा मांस खाता था। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार अशोक ने 265 ई. पू. में बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। अशोक के शिलालेखों के अनुसार आरम्भ में वह एक साधारण अनुयायी रहा एवं बौद्ध होने के बावजूद उसने कलिंग के युद्ध में भयंकर रक्तपात किया, किन्तु युद्ध के परिणामों के प्रभाव से वह बौद्ध धर्म का दृढ़ अनुयायी बन गया। उसने इसके प्रचार का हर संभव प्रयत्न किया। एडवर्ड थामस एवं डॉ. डी.आर. भण्डारकर इस मत से सहमत नहीं है। उनके अनुसार अशाक ने कलिंग के युद्ध के बाद ही बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। डॉ. भण्डारकर के शब्दों में, "बौद्ध धर्म को अपनाने के पश्चात् उसने अपने समस्त जीवन में एक समान असाधारण उत्साह का परिचय दिया।[2]

दिव्यावदान के अनुसार अशोक ने बालपण्डित नामक बौद्ध भिक्षु से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म अपनाया था। जबकि ह्वेनसांग बौद्ध भिक्षु का नाम उपगुप्त व कुछ अन्य लेखक तिस्स मानते हैं। वैड्डुल ने तिस्स व उपगुप्त एक ही व्यक्ति के नाम माने हैं। अशोक के लघु शिलालेख प्रथम तथा भाब्रू शिलालेख आदि से अशोक की बुद्ध व संघ के प्रति अगाध श्रद्धा होने व उसके बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने का संकेत मिलता है। कुछ अभिलेखों में प्राप्त सफेद हाथी का चिन्ह एवं स्तम्भों के मस्तकों पर निर्मित घोड़ा, शेर, हाथी व बैल की मूर्तियां बुद्ध के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की सूचक हैं। "हाथ गर्भावस्था का, बैल जन्म भूमि का, घोड़ा महात्याग का तथा शेर शाक्य सिंह के चिन्ह हैं।"[3]

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक ने बौद्ध धर्म अपने राज्यभिषेक के चौथे वर्ष में ग्रहण किया था, जवकि अशोक के शिलालेखों के अनुसार उसने बौद्ध धर्म राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में ग्रहण किया था।

अशोक व बौद्ध धर्म का प्रसार–अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार हेतु निम्नलिखित कदम उठाये–

(1) बौद्ध तीर्थों की यात्रा–बौद्ध सूत्रों एवं अशोक के शिलालेखों के अनुसार अशोक ने निम्न बौद्ध तीर्थों की यात्रा की– **(i) लुम्बिनी वन**–बुद्ध का जन्म स्थल। **(ii) कपिल वस्तु**–बुद्ध का सन्यास स्थल। **(iii) गया का बोधिवृक्ष**–बुद्ध का ज्ञान प्राप्ति का

स्थल। (iv) **सारनाथ**-बुद्ध के प्रथम उपदेश का स्थल। (v) **श्रावस्ती**-बुद्ध की दीर्घ काल तक रहा निवास स्थान। (vi) **कुशीनगर**-बुद्ध का निर्वाण स्थल। अशोक के आठवें शिलालेख के अनुसार गया के बोधिवृक्ष की यात्रा उसकी प्रथम धर्मयात्रा थी। दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथ के अनुसार अशोक ने यहा एक चैत्य का निर्माण करवाया था। अशोक के रूमिनदेई स्तंभ लेख के अनुसार अशोक ने अपने शासन के बीसवें वर्ष में लुम्बिनी की यात्रा कर वहां एक स्तम्भ गड़वाया, जिस पर निम्न शब्द अंकित थे "यहाँ पर महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था। उसने लुम्बिनी में तीर्थ यात्रा कर समाप्त कर दिया तथा वहां भूमि कर 1/6 से घटाकर 1/8 भाग कर दिया। उसकी इन धर्म यात्राओं से अनेक व्यक्ति प्रभावित हुए होंगे।

(2) **तृतीय बौद्ध सभा**-बौद्ध धर्म में मतभेद दूर कर एकता स्थापित करने के उद्देश्य से अशोक ने 251 ई. पू. में पाटलिपुत्र में मोगलिपुत्र तिस्स की अध्यक्षता में तृतीय बौद्ध संगीति बुलायी। यह नौ माह तक चलती रही व इसमें अनेक बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए। इसमें 'कथावथु' नामक ग्रंथ में बौद्ध धर्म के सिद्धांत संकलित किये गये। इसके बाद विदेशों में बौद्ध धर्म प्रचार हेतु भिक्षुक भेजे गये।

(3) **बौद्ध धर्म को संरक्षण**-सारनाथ, प्रयाग एवं सांची के स्तभ लेखों से अशोक के बौद्ध धर्म के संरक्षक होने का पता चलता है। सारनाथ स्तंभ लेख से पता चलता है, "देवनामप्रिय, प्रियदर्शी राजा इस प्रकार आदेश देते हैं कि कोई संघ में फूट न डाले। यदि किसी भिक्षु अथवा भिक्षुणी ने संघ में फूट डालने का प्रयत्न किया, तो उसे सफेद कपड़े पहना कर उस स्थान पर रख दिया जायेगा, जो भिक्षु-भिक्षुणियों के योग्य नहीं है।" बौद्ध धर्म में एकता बनाये रखने हेतु उसने शासन के 27 वें वर्ष में उपर्युक्त स्तम्भ लेख जारी किये थे।

(4) **धर्म महामात्रों की भूमिका**-अशोक का धम्म बौद्ध धर्म से प्रभावित था तथा उसने इसके प्रचार हेतु धर्म महामात्र नामक अधिकारी नियुक्त किये। ये अधिकतर बौद्ध होते थे एवं प्रजा को बौद्ध धर्म की तरफ आकर्षित करते थे।

(5) **विहारों व स्तूपों का निर्माण**-महावंश के अनुसार अशोक ने 84,000 स्तूपों का निर्माण करवाया था। यद्यपि यह मत भ्रांतिपूर्ण है, तथापि यह सत्य है कि अशोक ने अनेक विहार, स्तूप व स्तंभ बनवाये थे, जिनमें सांची, सारनाथ, भारहुत आदि प्रमुख हैं। ये विहार व मठ बौद्ध धर्म के प्रचार के मुख्य केन्द्र बन गये।

(6) **हिंसा पर प्रतिबंध**-अशोक ने पशुओं की लड़ाइयों तथा पशुओं की हिंसा को दण्डनीय बना दिया। पांचवें स्तम्भ लेख के द्वारा तोता, हंस, लालचकोर, चमगादड़, मछली, कछुआ, बारहसिंगा, सांड़, कबूतर, मृग आदि पशुओं के वध पर प्रतिबंध लगा दिया। उसने अपनी पाकशाला में भी पशुओं के वध पर प्रतिबंध लगा दिया।

(7) **विदेशों में प्रसार**–डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, "पत्थर तथा गाथा दोनों ही अशोक के विदेशों में प्रचारक भेजने का समर्थन करते हैं।"[4] तृतीय बौद्ध संगीति के पश्चात् बौद्ध धर्म के प्रसार हेतु निम्न भिक्षु भारत व विदेशों में भेजे गये (1) मञ्झान्तिक (कश्मीर व गान्धार), (2) महारक्षित (यवन राज्य), (3) महादेव (मैसूर), (4) मज्झिम (हिमालय प्रदेश), (5) धर्म रक्षित (पश्चिमी प्रान्त), (6) महाधर्मरक्षित (महाराष्ट्र), (7) सोन व उत्तरा (बर्मा), (8) रक्षित वनवासी (उत्तरी कनारा) व (9) महेन्द्र व संघमित्रा (लंका)। इन भिक्षुओं के प्रयासों से हजारों लोगों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। सर्वाधिक सफलता महेन्द्र व संघमित्रा को लंका में मिली। इनके प्रयासों से लंका के राजा-रानी व हजारों लोगों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। वस्तुतः अशोक ने बौद्ध धर्म को अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बना दिया।

अशोक का धम्म अथवा धर्म

अपनी प्रजा की नैतिक व आध्यात्मिक हेतु अशोक ने अपने शिलालेखों द्वारा कुछ नैतिक सिद्धांतों का प्रचार किया, जिन्हें सामूहिक रूप से अशोक का धम्म कहा जाता है। उसका यह धम्म बौद्ध धर्म से प्रभावित माना जाता है। डॉ. भण्डारकर के शब्दों में, "इस प्रकार अशोक के धम्म का स्रोत तथा आधार बौद्ध धर्म ही था।"[5] जबकि दूसरी तरफ अनेक विद्वान इससे असहमत हैं। शिलालेख 12 में कहा गया है, "यह सभी धर्मों का सार है।" डॉ. रोमिला थापर के अनुसार, "धम्म अशोक का अपना आविष्कार था। चाहे उसने बौद्ध धर्म तथा हिन्दू धर्म के सिद्धांत ग्रहण किये हों, परन्तु यह संक्षेप में राजा की ओर से लोगों के लिये व्यावहारिक व सुविधापूर्ण जीवन बिताने के ढंग तथा नैतिकता का पालन करने का आदेश था।[6] अशोक ने प्रजा के परलोक को सुधारने हेतु धम्म की स्थापना की व इसका बहुत प्रचार किया। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, "इस प्रकार उसने सार्वभौमिक धर्म की नींव रखी तथा इतिहास में इस प्रकार का कार्य करने वाला वह पहला व्यक्ति था।"[7]

अशोक के धर्म के सिद्धान्त

अशोक के धम्म के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं–

(1) **बड़ों का आदर**–छोटों को बड़ों का आदर, सेवा व आज्ञापालन करना चाहिये। बच्चे को माता-पिता की व शिष्य को गुरु की सेवा करनी चाहिये। वृद्ध लोगों, राजकीय अधिकारियों, साधुओं व भिक्षुओं के प्रति भी सम्मान रखना चाहिये।

(2) **छोटों से प्यार**–बड़ों को छोटों से प्यार करना चाहिये। माता-पिता को बच्चे से, गुरु को शिष्य से, धनी को निर्धन से, स्वामी को सेवक से तथा राज्याधिकारियों को प्रजा से सहानुभूति व प्रेम का व्यवहार करना चाहिये। शिलालेख XI व XIII में वह नौकरों साथ सद्व्यनहार का आदेश देता है।

(3) **सत्य**–लघु शिलालेख (ii) एवं स्तंभ लेख दो व सात के अनुसार व्यक्ति को सत्य का पालन व झूंठ का त्याग करना चाहिये।

(4) **पाप से दूर रहना**–स्तंभ लेख तीन के अनुसार व्यक्ति को क्रोध, अत्याचार, ईर्ष्या, अभियान आदि पाप की जड़ों से दूर रहना चाहिये।

(5) **स्वयं की परीक्षा**–स्तंभ लेख तीन में अशोक ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं की परीक्षा लेनी चाहिये व अपने अच्छे-बुरे कार्यों का मूल्यांकन करना चाहिये।

(6) **अहिंसा पर बल**–अशोक अहिंसा का बहुत समर्थक था। पाचवें स्तंभ लेख के अनुसार उसने पशु पक्षियों के वध, शिकार व पाकशाला में पशु वध पर प्रतिबंध लगा दिया।

(7) **दान पर बल**–अशोक ने विद्वानों, ऋषियों व निर्धनों को दान देने पर बल दिया है। शिलालेख 11 में उसने धर्म दान को साधरण दान से श्रेष्ठ बताया है।

(8) **सच्चे रीति रिवाजों पर बल**–शिला लेख 9 में अशोक ने सच्चे रीति-रिवाजों के प्रसार तथा झूँठे रीति-रिवाजों के त्याग पर बल दिया है। सत्य, दान, अहिंसा आदि सच्चे रीति-रिवाज हैं।

(9) **धार्मिक सहिष्णुता**–अशोक धार्मिक सहनशीलता का समर्थक था तथा उसने लोगों को सभी धर्मों का सम्मान करने का आदेश दिया। शिलालेख 12 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दूसरों के धर्म की निन्दा करता है, तो वह अपने धर्म को आघात पहुँचाता है।

(10) **परलोक में सुधार**–अशोक का मुख्य उद्देश्य परलोक में सुधार करना था। उसके शिलालेख 10 में कहा गया है, "मेरे ये सब प्रयत्न परलोक के लिये ही हैं।" अशोक का मानना था कि व्यक्ति के इस जीवन के कार्यों के अनुसार ही उसका अगला जन्म होता है। अतः उसने अपनी प्रजा के इहलौकिक जीवन के साथ पारलौकिक जीवन को भी सुखी बनाने का प्रयास किया।

वस्तुतः अशोक का धम्म कुछ नैतिक सिद्धांतों का संग्रह था। अतः कहा जाता है, "अशोक ने बौद्ध धर्म का नहीं, अपितु अच्छी नागरिकता के कर्त्तव्यों का प्रचार किया।" प्रो. नीलकंठ शास्त्री के शब्दों में, "अशोक का धर्म इस प्रकार सामाजिक सदाचार के नियमों का व्यावहारिक रूप में संग्रह था और इसका धर्म अथवा धर्मशास्त्र से बहुत कम संबंध था।"[8]

धम्म प्रचार हेतु प्रयास–अशोक ने अपने धम्म के प्रचार हेतु निम्नलिखित प्रयास किये–

(1) उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों में सतंभ लेख व शिलालेख खुदवाकर उन पर धर्म के सिद्धांत अंकित करवा दिये, ताकि लोग उन्हें पढ़कर समझ सकें।

(2) उसने इन सिद्धांतों का व्यावहारिक जीवन में पालन किया। इस प्रकार "उसने

अपना व्यक्तिगत उदाहरण लोगों के सामने रखा।"[9] उसके इस आचरण से जनता को प्रेरणा मिली।

(3) अशोक ने अपनी विभिन्न धर्म यात्राओं के दौरान भी प्रचार हेतु धर्म महामात्र नामक अधिकारियों की नियुक्ति की।

अशोक के धम्म का महत्त्व–प्रजा के परलोक को सुधारने हेतु कार्य करने वाला अशोक विश्व का पहला सम्राट था। उसने कलिंग के युद्ध के बाद धम्म विजय की नीति अपनायी। धम्म के प्रभाव से जनता नैतिक व पवित्र जीवन व्यतीत करने लगी तथा राज्याधिकारी प्रजा के साथ नम्र व्यवहार करने लगे। अतः राज्य में शांति स्थापित हुई। अशोक की धार्मिक सहनशीलता की नीति से हिन्दू, जैन एवं बौद्ध इन तीनों धर्मों में एकता स्थापित हुई। अशोक के धम्म ने उसकी लोकप्रियता में चार चांद लगा दिये। प्रजा उसका पिता के समान आदर करती थी।

सम्प्रति (216 ई. पू.–207 ई. पू.) –बौद्ध साहित्य में जो स्थान अशोक का है, जैन साहित्य में वही स्थान सम्प्रति का है। इससे उसके जैन धर्म के अनुयायी तथा संरक्षक होने का पता चलता है।

पुष्यमित्र शुंग की धार्मिक नीति–पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का अनुयायी व इसका महान् संरक्षक था, अतः इस काल में ब्राह्मण धर्म अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने में सफल रहा। इस समय सूर्य व अग्नि पूजा की जाने लगी तथा यज्ञों में बलि दी जाने लगी। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा मनुस्मृति ने संस्कृति की दुर्बलता दूरकर उसे सुदृढ़ता प्रदान की। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म को नयी चेतना मिली।

पुष्यमित्र व बौद्ध धर्म–एन.एन. घोष तथा बौद्ध परम्पराओं ने पुष्यमित्र पर धर्मान्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति आत्याचारी होने का आरोप लगाते हुए अपने मत की पुष्टि में निम्न तर्क दिये हैं–

(1) पुष्यमित्र शुंग की सिंहासन प्राप्ति ब्राह्मण धर्म की बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम थी। अतः उसने स्वाभाविक तौर पर ब्राह्मण धर्म के संरक्षण तथा बौद्ध धर्म के विनाश की नीति अपनायी होगी।

(2) दिव्यावदान के अनुसार स्यालकोट (साकल) की ओर कूच करते समय मार्ग में अनेक बौद्ध बिहारों को नष्ट कर दिया तथा एक बौद्ध भिक्षु का सिर काटकर लाने पर 100 दीनार देने की घोषणा की

(3) तिब्बती लेखक तारानाथ ने पुष्यमित्र पर मध्य प्रदेश से जालंधर तक के अनेक बौद्धों का वध करने का आरोप लगाया है।

(4) आर्य मंजूश्री मूलकल्प में इसी तरह का वर्णन है।

दूसरी तरफ अनेक विद्वान पुष्यमित्र को सहिष्णु शासक बताते हैं तथा अपने मत की पुष्टि में निम्न तर्क देते हैं–

(1) कोई भी स्वतंत्र साधन इस तथ्य की पुष्ट नहीं करता।

(2) दिव्यावदान, तारानाथ व मंजूश्री मूलकल्प पुष्यमित्र के काफी समय बाद लिखे गये हैं, अतः इन्हें सत्य व प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अलावा पुष्यमित्र के समय में दीनार प्रचलित ही नहीं था, तो 100 दीनार देने की बात कैसे सही मानी जाये।

(3) पुष्यमित्र बौद्ध धर्म का विनाशक होने पर भारहुत सांची में स्तूप बनाने की आज्ञा नहीं देता।

(4) दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र के कुछ मंत्री भी बौद्ध थे।

(5) मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र के दरबार में भगवती कोशिकी नामक बौद्ध महिला को काफी सम्मान प्राप्त था।

(6) डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार चूँकि पुष्यमित्र ने वृहद्रथ की हत्या कर सिंहासन प्राप्त किया था, अतः बौद्ध उसके शत्रु बन गये। बौद्ध लोग स्यालकोट में जाकर पुष्यमित्र को हटाने हेतु विदेशियों से सांठ-गांठ कर रहे थे। इसलिये पुष्यमित्र ने इन्हें मरवाया था।

(7) इस समय जैन व बौद्ध धर्म उन्नत थे एवं मथुरा व कलिंग जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे।

वस्तुतः पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का संरक्षक होते हुए भी सहिष्णु था। डॉ. राजबली पाण्डेय के शब्दों में, "शुंगों की नीति बौद्ध धर्म के विनाश की होती, तो उनकी छत्रछाया में बौद्ध धर्म के इतने सुन्दर स्मारक नहीं बन पाते।" वस्तुतः बौद्ध साहित्यकारों द्वारा पुष्यमित्र पर लगाया गया आक्षेप अतिरंजना का सूचक है।

गौतमीपुत्र शातकर्णी की धार्मिक नीति–नासिक प्रशस्ति से गौतमीपुत्र शातकर्णी के बौद्ध धर्म का समर्थक होने का पता चलता है। वह वर्ण संकर संतान का विरोधी होते हुए भी सहिष्णु था।

कनिष्क की धार्मिक नीति

कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करना–डॉ. राय चौधरी ने कनिष्क की कीर्ति उसकी विजयों की अपेक्षा बौद्ध धर्म के प्रचार में निहित मानी है। मुद्राओं एवं पेशावर में प्राप्त लेखों के अनुसार उसने आरम्भ में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उस पर अश्वघोष नामक बौद्ध भिक्षु का बहुत प्रभाव पड़ा। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु विदेशों में भी भिक्षु भेजे तथा इस दिशा में उसे अशोक के समान ही महत्व प्राप्त है।

चतुर्थ बौद्ध संगीति–बौद्ध धर्म के मतभेदों को दूर करने हेतु कनिष्क ने कश्मीर के कुण्डलवन में वसुमित्र की अध्यक्षता तथा अश्वघोष की उपाध्यक्षता में चौथी बौद्ध

संगीति आयोजित की। इसमें 500 बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए, जिनमें नागार्जुन, पार्श्व, अग्निमित्र आदि प्रमुख थे। इस सभा में त्रिपिटक पर टीकाएं लिखी गयीं, जिन्हें 'महाविभाष' कहा गया। इस सभा के निर्णयों को कनिष्क ने ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करवाकर कर स्तूप में लगवा दिया। इस संगीति में बौद्ध धर्म–हीनयान व महायान दो भागों में विभक्त हो गया। महायान सम्प्रदाय ने बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना तथा बुद्ध व बोधिसत्वों की मूर्ति पूजा करना आरम्भ कर दिया। इससे मूर्तिकला की गान्धार व मथुरा शैली का विकास हुआ। इसका साहित्य संस्कृत भाषा में रचा गया। कनिष्क ने महायान को राजधर्म घोषित कर संरक्षण दिया।

बौद्ध धर्म का प्रचार–कनिष्क ने भी बौद्ध धर्म का प्रचार करने का निश्चय किया तथा अशोक की भांति उसने भी चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रसार करने हेतु भिक्षु भेजे। उसने भिक्षुओं के रहने हेतु पेशावर, मथुरा तथा कश्मीर में अनेक विहार बनवाये। अपने इन कार्यों के कारण उसे द्वितीय अशोक भी कहा जाता है।

अन्य धर्मों के प्रति नीति–कनिष्क ने बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने सभी धर्मों का आदर किया। उसके सिक्कों पर बुद्ध के अलावा यूनानी देवता सूर्य (हिलिओस), चन्द्रमा (माओ), ईरानी देवता अग्नि (अतशो) व हिन्दू देवता शिव के चित्र अंकित हैं। इनसे उसके धार्मिक दृष्टि से उदार तथा सहिष्णु होने का पता चलता है। उसके दरबार में भी सभी धर्मों के लोग रहते थे।

कनिष्क के पश्चात् उसका पुत्र हुविष्क शासक बना। वह भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने मथुरा में एक सुन्दर विहार बनवाया। उसके उत्तराधिकारी वासुदेव की मुद्राओं पर शिव तथा नन्दी के चित्र अंकित हैं, जिससे उसके शैव होने का पता चलता है।

गुप्त शासकों की धार्मिक नीति

समुद्रगुप्त (335-375 ई.) –समुद्रगुप्त के अनेक सिक्कों पर विष्णु एवं गरूड़ के चित्र अंकित हैं, जिनसे उसके वैष्णव होने का पता चलता है। उसने 'अश्वमेध यज्ञ' भी किया था तथा इस अवसर पर ब्राह्मणों में अनेक स्वर्ण मुद्राएँ बांटी गयी थीं। उसने संस्कृत भाषा व साहित्य को प्रोत्साहन दिया।

उसने अन्य धर्मों के प्रति सहनशीलता की नीति अपनाते हुए सहानुभूति का प्रचार किया। उसके असंग, वसुबंधु आदि दरबारी बौद्ध थे। हरिसेन ने लिखा है कि समुद्रगुप्त में सभी गुण विद्यमान हैं। अतः समुद्रगुप्त को धार्मिक सहिष्णु भी माना जा सकता है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375-414 ई.) –चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ सिक्कों पर परम भागवत की उपाधि मिलती है एवं कुछ सिक्कों पर विष्णु के वाहन गरुड़ के चित्र

हैं, अतः उसके वैष्णव होने का पता चलता है। उसने संस्कृत भाषा व हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन दिया तथा इनका पुनरुद्धार किया।

यद्यपि चन्द्रगुप्त वैष्णव धर्म का अनुयायी था, तथापि उसने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी। शासन संचालन में उसने धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया। फाह्यान के अनुसार उसके समय में बौद्ध विहारों को सरकारी सहायता मिलती थी। कर्मचारियों की नियुक्ति में भी धर्म को आधार नहीं बनाया जाता था। उसका सेनापति अमर कर्ड देव बौद्ध था। फाह्यान ने भी उसे धार्मिक सहिष्णु बताया है।

स्कन्दगुप्त (455–467 ई.) –स्कन्दगुप्त भी अपने पूर्वजों की भांति वैष्णव होते हुए भी धर्म सहिष्णु था। प्रजा को धार्मिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। उसके समय में भद्र नामक व्यक्ति ने जैन तीर्थंकरों की पांच मूर्तियां बनवायी थीं। इसके अलावा अनेक बौद्ध मूर्तिया भी बनायी गयीं। इस समय सभी धर्मों को स्वतंत्रता प्राप्त थी।

नरसिंह बालादित्य (468-472 ई.) नामक गुप्त शासक बौद्ध धर्म का अनुयायी था। कुमारगुप्त द्वितीय (472–475 ई.) के भीतरी मुद्रा लेख में प्राप्त 'परम भागवत' की उपाधि से उसके वैष्णव होने का पता चलता है।

हर्ष की धार्मिक नीति– (606-648 ई.)– बाण के अनुसार हर्ष आरम्भ में हिन्दू था तथा सूर्य एवं शिव का भक्त था। 631 ई. में वह अपनी बहिन राज्यश्री तथा अपने मंत्री दिवाकर के प्रभाव से बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का अनुयायी बन गया। ह्वेनसांग के सम्पर्क में आने के पश्चात् उसने बौद्ध धर्म की महायान शाखा को अपना लिया। प्रयाग में आयोजित छठे समारोह से पता चलता है कि बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह जैन धर्म व बौद्ध धर्म की पूजा करता रहा।

बौद्ध धर्म को संरक्षण–अशोक व कनिष्क की भांति हर्ष भी बौद्ध धर्म का महान् संरक्षक था। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये निम्न लिखित कदम उठाये–

(i) उसने अपने साम्राज्य में पशुओं के वध एवं मांस भक्षण पर प्रतिबंध लगा दिया।

(ii) उसने भिक्षुओं हेतु हजारों विहार व स्तूप बनवाये व पुराने मठों का पुनर्निमाण करवाया।

(iii) वह बौद्ध भिक्षुओं को उदारतापूर्वक दान देता था।

(iv) वह प्रतिवर्ष एक सभा आयोजित कर अच्छे भिक्षुओं को सम्मान व बुरे भिक्षुओं को दण्ड देता था।

(v) उसने कई औषधालय स्थापित कर निःशुल्क औषधि वितरण करवाया तथा निर्धनों व रोगियों हेतु निःशुल्क भोजन की व्यवस्था की।

(vi) कन्नौज तथा प्रयाग सभा भी उसके बौद्ध धर्म के दृढ़ अनुयायी हाने की पुष्टि करती है। ह्वेनसांग के अनुसार वह प्रतिदिन 500 भिक्षुओं को भोजन करवाता था।

(vii) उसने नालन्दा विश्वविद्यालय को भी काफी संरक्षण दिया।

(viii) उसने कश्मीर से बुद्ध का एक दांत प्राप्त कर कन्नौज में मठ बनवाया।

हर्ष बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से सहनशील था। वह प्रतिदिन सूर्य व शिव की पूजा करता था। प्रयाग सभा में उसने पहले दिन बुद्ध की, दूसरे दिन सूर्य की व तीसरे दिन शिव की पूजा की।

सभाओं का आयोजन–डॉ. आर. के. मुकर्जी ने लिखा है, "हर्ष इतिहास में एक ऐसा राजा हुआ है, जिसे समय-समय पर नियमपूर्वक धार्मिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्यों से जनसभाओं के आयोजन करने के आविष्कार का श्रेय प्राप्त है।"[10]

कन्नौज की सभा–यह सभा महायान सम्प्रदाय के प्रसार के उद्देश्य से आयोजित की गयी थी। इसकी तुलना चतुर्थ बौद्ध संगीति से की जाती है।

डॉ. मुकर्जी ने इसे विभिन्न धर्मों का सम्मेलन कहकर पुकारा है। इस सभा में वल्लभी व कामरूप सहित 18 राज्यों के शासक, 3000 बौद्ध भिक्षु, 3000 ब्राह्मण व 1,000 नालन्दा मठ के विद्वान सम्मिलित हुए। इस सभा का अध्यक्ष ह्वेनसांग था। उसने महायान सम्प्रदाय के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए अपने विपक्षी विद्वानों को उन्हें गलत सिद्ध कर देने पर अपना शीश कटवा लेने की चुनौती दी।

चूँकि हर्ष ह्वेनसांग का बहुत आदर करता था, अतः उसने चिंतित होकर घोषणा की, "यदि कोई व्यक्ति धर्माचार्य (ह्वेनसांग) को स्पर्श करेगा अथवा उन्हें चोट पहुँचायेगा, तो उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा और जो उनके विरुद्ध कोई बात करेगा, तो उसकी जीभ कटवा ली जायेगी।" डॉ. स्मिथ ने इस सम्मेलन को एक तरफा बताया है, जो नितान्त उचित है। अतः ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर हर्ष व ह्वेनसांग की हत्या के उद्देश्य से सभा के अन्तिम दिन सभा भवन में आग लगा दी। अतः हर्ष ने 500 ब्राह्मणों को देश से निर्वासित कर दिया। यह सभा 23 दिन चली। हर्ष ने ह्वेनसांग को 'महायान देव' की उपाधि दी।

प्रयाग की सभा–हर्ष हर पांचवें वर्ष दान देने हेतु प्रयाग में एक विशाल सभा आयोजित करता था। उसने 643 ई. में प्रयाग में छठी सभा आयोजित की तथा इसमें ह्वेनसांग को भी आमंत्रित किया। ह्वेनसांग इसका विस्तृत वर्णन करता है। यह सभा 75 दिन तक चलती रही। इसमें पाच लाख लोग एवं 20 राजा सम्मिलित हुए।

सभा के प्रथम दिन बुद्ध की, दूसरे दिन सूर्य की तथा तीसरे दिन शिव की पूजा की गयी। इसके बाद हर्ष ने बौद्ध भिक्षुओं, ब्राह्मणों एवं निर्धन लोगों को पिछले पांच वर्षों

में एकत्रित समूचा धन दान में दे दिया। उसने अपनी निजी सम्पत्ति भी दान में दे दी। यहां तक कि उसने अपने आभूषण व वस्त्र भी दान में दे दिये तथा अपनी बहन राज्यश्री से पुराने वस्त्र लेकर पहने। वस्तुतः वह बड़ा दानी था। इस अधिवेशन के बाद ह्वेनसांग अपने देश लौट गया।

करकोटवंशीय शासक ललितादित्य की धार्मिक नीति–ललितादित्य (724-760 ई.) ने ब्राह्मण धर्म का अनुयायी होते हुए भी अनेक स्तूप व विहार बनवाये। वह कश्मीर का शासक था। उसने शिव, विष्णु, सूर्य आदि देवताओं के मन्दिर बनवाये। उसके द्वारा निर्मित सूर्य का मार्तण्ड मन्दिर विख्यात है।

दक्षिण भारत के मुख्य राजवंश

चालुक्य शासक हिन्दू धर्म के समर्थक थे। कीर्तिवर्मन (567-597 ई.) में वातापी में सुन्दर विष्णु मन्दिर बनवाया।

पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन (600-630 ई.) पहले जैन धर्म का अनुयायी था, किन्तु बाद में शिव का उपासक बन गया। उसने अर्काट जिले में गुफा काटकर कलात्मक मन्दिर बनवाया। उसके पुत्र नरसिंहवर्मन (630-668 ई.) ने त्रिचनापल्ली में अनेक कलात्मक मन्दिर बनवाये। नरसिंहवर्मन द्वितीय (695-723 ई.) ने कांची का विख्यात कैलाशनाथ का मन्दिर बनवाया। इस प्रकार पल्लव शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे। इसके अलावा धार्मिक आंदोलनों का प्रसार भी पल्लव राज्य से ही हुआ।

चोल शासक भी हिन्दू थे। विजयालय ने तंजौर में दुर्गामाता का मन्दिर बनवाया। आदित्य (871-907) शिव का उपासक था व उसने अनेक मन्दिर बनवाये। चोल शासक राजराज (985-1014 ई.) द्वारा तंजौर में निर्मित स्थापत्यकला का शानदार नमूना माना जा सकता है। राजराज शैव होते हुए भी धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु था। उसने सुमात्रा के शासक को बौद्ध विहार के निर्माण हेतु नागापट्टम नामक गांव अनुदान में दिया था। उसके पुत्र राजेन्द्र चोल (1014-1044) ने चोलपुरम् में चोलेश्वर का विख्यात मन्दिर बनवाया।

राष्ट्रकूट शासक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। इस वंश के कृष्ण ने एलोरा का विख्यात कैलाश मन्दिर बनवाया। राष्ट्रकूट शासकों ने भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी।

प्रतिहार वंश का शासक मिहिर भोज (836-885 ई.) शिव व विष्णु का भक्त था। राठौड़ शासक गोविन्द चन्द्र (1114-1170) भी सूर्य व विष्णु का उपासक था। उसकी पत्नी कुमारदेवी बौद्ध थी व उसने सारनाथ में एक बौद्ध विहार बनवाया था।

मालवा के परमार शासक भी हिन्दू था। इस वंश के मुंज व भोज ने अनेक मन्दिर बनवाये।

गुजरात का शासक कुमारपाल जैन धर्म का अनुयायी था, किन्तु सहिष्णु था। बंगाल के पाल शासक बौद्ध थे। पाल शासक गोपाल ने उदान्तपुर में विशाल मठ बनवाया। उसके पुत्र धर्मपाल ने विक्रमशिला का मठ बनवाया, जो आगे चलकर विख्यात विश्वविद्यालय बन गया।

इस प्रकार राजपूत काल में हिन्दू धर्म का बड़ा विकास हुआ। अल्तेकर के शब्दों में, "इस काल में हिन्दू धर्म अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया था।"

संदर्भ

1. मुकर्जी, आर. के. : अशोक, पृष्ठ 62.
2. भण्ड़ारकर, डी. आर. : अशोक, पृष्ठ 74.
3. मुकर्जी, आर.के. (डॉ.) : अशोक, पृष्ठ 61.
4. मुकर्जी, आर. के. (डॉ.) : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 177.
5. भण्डारकर, डी.आर. (डॉ.) : अशोक, पृष्ठ 110.
6. रोमिला थापर (डॉ.) : अशोक एण्ड द डाउनफॉल ऑफ मौर्याज़, पृष्ठ 149.
7. मुकर्जी, आर. के. (डॉ.) अशोक, पृष्ठ 76.
8. शास्त्री, नीलकंठ, : दी एज ऑफ नन्दाज़ एण्ड मौर्याज़, पृ. 240.
9. मुकर्जी, आर.के. (डॉ.) : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ.172-73.
10. मुकर्जी, आर.के. (डॉ.), : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 354.

□

(iii) **व्याकरण**–व्याकरण का तात्पर्य है, जिसके द्वारा सुबन्त, तिंगन्त आदि पदों की व्याख्या संभव हो सके। इसे वेद पुरुष का मुख कहा जाता है। इस क्षेत्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण की प्रमुख रचना मानी जाती है। पतंजलि, कात्यायन, जिनेन्द्र बुद्धि, भर्तृहरि, कय्यर, विमल सरस्वती, हेमचन्द्र आदि प्रमुख व्याकरणाचार्य माने जाते हैं। पश्चिमी विद्वान मैक्डॉनल के शब्दों में, "भारतीय व्याकरणों ने ही विश्व में सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन किया है। प्रकृति और प्रत्ययों का अंग पहचाना है, प्रत्ययों के कार्य का निर्धारण किया है। इस प्रकार से परिपूर्ण और अति विशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया, जिसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्त नहीं है।"

(iv) **निरूक्त**–यह 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्द कोष की टीका है। सबसे प्राचीन निरूक्त यास्क कृत मानी जाती है। सायण के अनुसार अर्थ की जानकारी हेतु स्वतंत्र पदों का संग्रह ही निरूक्त कहलाता है।

(v) **छन्द**–ये वेद रूपी शरीर के पाद माने जाते हैं। व्यक्ति छन्दों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही वेद मंत्रों का उचित स्वर एवं उच्चारण के साथ पाठन कर सकता है। इस क्षेत्र में पिंगलाचार्य कृत छन्द सूत्र महत्वपूर्ण माना जाता है। छन्दोर्णव, विष्णु सूत्र, छन्दोरहस्य, छन्द प्रभाकर, छन्द प्रवेश, छन्दोरत्नाकर आदि ग्रंथों में लौकिक छन्दों का वर्णन मिलता है।

(vi) **ज्योतिष**–वेदों के अनुसार यज्ञों का समय नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु आदि के आधार पर निर्धारित करना चाहिये तथा यह कार्य ज्योतिष के आधार पर ही किया जा सकता है। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, कमलाकर आदि प्रमुख ज्योतिषाचार्य माने जाते हैं।

सूत्र साहित्य–ये तीन भागों में विभक्त है कल्प सूत्र, ग्रह्य सूत्र व धर्म सूत्र। कल्प सूत्र में वैदिक यज्ञों के सम्बन्ध में वर्णन हैं। गृह्यसूत्र में संस्कारों, कर्मकाण्डों व लौकिक कर्तव्यों का तथा धर्मसूत्र में राजनीतिक, सामाजिक व कानूनी व्यवस्था का विवेचन है। इन ग्रंथों से तत्कालीन समाज व धर्म की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

रामायण व महाभारत–ये दोनों हिन्दुओं के प्राचीन महाकाव्य हैं। रामायण में राम व लंका नरेश रावण का वर्णन है। इसके अन्तर्गत राम द्वारा दक्षिण में अपने उपनिवेश स्थापित करने का पता चलता है। एक विद्वान ने रामायण के सम्बन्ध में लिखा है, "रामायण के लेखक वाल्मीकि भारतीय ह्दय के ही प्रकाश आदि कवि नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी भी हैं। कमनीय काव्य कला उनके रामायण के पद्यों में स्वतः नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति, उसके पात्रों के द्वारा अपनी मनोरम झांकी दिखाती है। इसलिये कविता कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल रूप वाल्मिकी का कूजन किसे आन्नद विभोर नहीं बनाता।"

दूसरा ग्रंथ महाभारत है, जिसके लेखक वेद व्यास हैं। इसके रचनाकाल के बारे में मतभेद है। श्री शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है, "महाभारत के रचना काल के बारे में निश्चिततः तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु वर्णित विषय के आलोचनात्मक अध्ययन के सहारे मेक्डॉनल प्रभृति विद्वानों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि महाभारत का मौलिक रूप ई. पू. पाचवीं शताब्दी के लगभग का होना चाहिये।"[2] इसमें कौरवों व पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है तथा यह बहुत ही महत्वपूर्ण महाकाव्य है। व्यास ने इसके सम्बन्ध में कहा है, "इस ग्रंथ में जो कुछ है, वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।" बी.ज़ी. गोखले के अनुसार, "अपने आधुनिक रूप में महाभारत केवल एक महाकाव्य नहीं है, वह एक ऐसी रचना है, जिसमें धर्म, नीति, दर्शन एवं लोक ज्ञान की ऐसी समस्याओं पर विचार किया गया, जो हमारे देश के असंख्य व्यक्तियों के जीवन की मूलाधार है। इसमें हमारे सामूहिक अचेतन का सारतत्व दिखता है।"[3]

वस्तुतः इन दोनों महाकाव्यों से तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

दर्शन–हिन्दुओं की दार्शनिक विचारधारा मुख्यतः छः भागों में विभक्त है-कपिल का सांख्यशास्त्र, पंतजलि का योगशास्त्र, गौतम का न्याय शास्त्र, कणाद का वैशेषिक शास्त्र, जैमिनी का पूर्व मीमांसा व व्यास का उत्तर मीमांसा। इनके विस्तृत अध्ययन के लिये अध्याय संख्या दस देखिये।

पुराण–पुराण भारतोय इतिहास की जानकारी के दृष्टिकोण से अमूल्य निधिय हैं। एन.एन. घोष ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "पुराणों का प्राचीन भारत के धार्मिक साहित्य की अन्य प्रत्येक शाखा के मुकाबले में वास्तविक इतिहास से कहीं अधिक सम्बन्ध है।"[4] पुराणों की संख्या 18 है, जो इस प्रकार हैं–(1) मत्स्य पुराण, (2) मार्कण्डेय पुराण, (3) भविष्यत् पुराण, (4) भागवत पुराण, (5) ब्रह्माण्ड पुराण, (6) ब्रह्मवैवर्त पुराण, (7) ब्राह्म पुराण, (8) वामन पुराण, (9) वाराह पुराण, (10) विष्णु पुराण, (11) वायु पुराण, (12) अग्नि पुराण, (13) नारद पुराण, (14) पद्म पुराण, (15) लिंग पुराण, (16) गरूड़ पुराण, (17) कूर्म पुराण, (18) स्कन्द पुराण।

इसके अलावा निम्न उपपुराण भी माने गये हैं–(1) सनत्कुमार, (2) नारासिंह (3) स्कन्द, (4) शिव धर्म, (5) आश्चर्य, (6) नारदीय, (7) कापिल , (8) वामन, (9) औशनस, (10) ब्रह्माण्ड, (11) वारूण, (12) कालिका, (13) माहेश्वर, (14) साम्ब, (15) सौर, (16) पाराशर, (17) मारीच, (18) भार्गव।

इन पुराणों से इतिहास, धर्म, आख्यान आदि विषयों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, कण्व, आन्ध्र तथा गुप्त शासकों की

वंशावली पुराणों से ही प्राप्त होती है। ये प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत हैं।

स्मृतियां–ऐतिहासिक दृष्टि से स्मृतियों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें मनुष्य के जीवन के विभिन्न अंगों के कार्य के नियम एवं उन पर प्रतिबंध का वर्णन किया गया है। इनसे उन समय के सामाजिक जीवन, रूढ़ियों व प्रथाओं के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। स्मृतियों के अन्तर्गत सबसे प्राचीन मनु की स्मृति मानी जाती है। इसका रचना काल दूसरी सदी ई. पू. से लेकर दूसरी सदी ई. के बीच में माना जाता है। मनुस्मृति में सामाजिक व प्रशासनिक नियमों का वर्णन किया है, जिनका पालन राजा तथा प्रजा अपना कर्तव्य मानकर करते थे। इसके पश्चात् कुछ अन्य स्मृतियां भी रची गयीं, जिनमें याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पाराशर स्मृति आदि प्रमुख हैं।

बौद्ध ग्रंथ

भारतीय साहित्य के अन्तर्गत बौद्ध साहित्य का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आरंभिक बौद्ध ग्रंथ पाली भाषा में रचित हैं। ये त्रिपिटिक कहलाते हैं तथा इस प्रकार हैं–(1) सुत्तपिटक, (2) विनय पिटक व (3) अभिधम्म पिटक। सुत्तपिटक में महात्मा बुद्ध के उपदेश संकलित किये गये हैं। विनय पिटक में बौद्ध भिक्षु व भिक्षुणियों के आचरण से सम्वन्धित नियमों का वर्णन किया गया है। अभिधम्मपिटक में बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों से हमें उस समय के भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

'जातक ग्रंथ' भी बौद्ध साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। इनमें बुद्ध की पूर्व जन्म की कथाओं का वर्णन किया गया है। इनकी कुल संख्या 549 हैं। इनसे तत्कालीन भारत के धर्म व समाज पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। विन्टरनित्ज ने लिखा है, "जातक केवल कला एवं साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, अपितु ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी की सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त मूल्यवान ग्रंथ थे।"[5]

पाली भाषा में लिपिबद्ध मिलिन्द-पन्हो, दीपवंश, महावंश आदि ग्रंथ भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। मिलिन्दपन्हो यूनानी शासक मिनेण्डर, जिसने बौद्ध धर्म अपना लिया था तथा बौद्ध आचार्य नागसेन के मध्य हुए वार्तालाप पर प्रकाश डालता है। दीपवंश तथा महावंश लंका में रचे गये थे तथा इससे वहां की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

इनके अलावा बौद्ध साहित्य के महावस्तु, ललितविस्तार, दिव्यावदान, मंजूश्री मूलकल्प आदि ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध हैं। महावस्तु महात्मा बुद्ध की जीवनी

है। ललित विस्तार भड़कीला काव्य माना जाता है। मंजूश्री मूलकल्प अशोक से लेकर हर्ष तक की ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। दिव्यावदान अशोक से लेकर पुष्यमित्र शुंग तक के इतिहास का सुन्दर वर्णन करता है। कनिष्क के समय में अश्वघोष महान् विद्वान हुआ। उसने 'महायान', 'श्रद्धोत्पाद', 'सौन्दरानन्द', 'बुद्धचरित,' 'सूत्रालंकार,' 'वज्रसूची', 'सारिपुत्र प्रकरण' आदि प्रमुख हैं। एक फ्रांसीसी विद्वान ने लिखा है, " ईसा की आरम्भिक शताब्दी में जिन महान् धाराओं ने भारत को रूपान्तरित कर नवजीवन दिया, उनके आरम्भ बिन्दु पर वह खड़ा है।"

अपनी बहुलता तथा विभिन्नता में वह मिल्टन, गेटे, काण्ट व वाल्टेयर के समकक्ष हैं।[6] वसुमित्र ने 'महाविभाष' नामक ग्रंथ लिखा।

जैन धर्म ग्रंथ

जैनियों के ग्रंथों से हमें प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। इनमें परिशिष्ट पर्वन, भद्रबाहु चरित्र तथा जैन आगम ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रंथों से हमें बिम्बिसार के समय से मौर्य वंश. तक के इतिहास के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित 'परिशिष्ट पर्वन' ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इससे महावीर के समय से मौर्य वंश तक के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। भद्रबाहु चरित्र से चन्द्रगुप्त मौर्य के बारे में जानकारी मिलती है। भगवती सूत्र भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ है।

मौर्यकालीन साहित्य

मौर्यकाल में साहित्य का बड़ा विकास हुआ। अशोक के शिलालेख व स्तम्भ लेख इस दिशा में महत्वपूर्ण हैं। डॉ. स्मिथ के अनुसार, "अशोक के अभिलेखों की शैली में अनुभव तथा प्रभाव का अभाव नहीं है। कई बातों में तो यह कुछ उपनिषदों की शैली से मिलती जुलती है।"[7] अशोक के अभिलेख खरोष्ठी तथा ब्राह्मी लिपियों में लिपिबद्ध हैं। मानसेहरा तथा शाहबाजगढ़ी के अभिलेखों को छोड़कर अन्य सभी अभिलेख ब्राह्मी लिपि में हैं। खरोष्ठी लिपि दांई से बांई ओर तथा ब्राह्मी लिपि बांई से दांई ओर लिखी जाती थी। ब्राह्मी लिपि ने आगे चलकर अनेक महत्वपूर्ण भाषाओं को जन्म दिया।

इस काल में अनेक साहित्यिक ग्रंथ लिखे गये। वैदिक साहित्य के ग्रह्य सूत्र, धर्म सूत्र, वेदांग आदि ग्रंथ इसी काल में रचे गये। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र', वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' तथा भास ने 'स्वप्न वासवदत्तम्' नामक ग्रंथ इसी काल में लिखे। इस काल में बौद्ध साहित्य का भी बड़ा विकास हुआ। त्रिपिटक इसी काल में संगठित किये गये तथा 'कथावथु' नामक ग्रंथ रचा गया। इस काल में भद्रबाहु, जम्बुस्वामी, स्वयंभव आदि

जैन विद्वान हुए तथा आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, समवायांग सूत्र आदि जैन ग्रंथ इसी काल में रचे गये। इस प्रकार मौर्य काल में सभी भाषाओं का साहित्य विकसित हुआ।

शुंगकालीन साहित्य

इस काल में संस्कृत भाषा की काफी उन्नति हुई। महर्षि पतंजलि ने 'महाभाष्य' नामक संस्कृत ग्रंथ लिखा। पाणिनि ने सूत्रों को नये क्रम में व्यवस्थित किया। ये उस समय की दशा पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। कुछ इतिहासकारों के अनुसार मनुस्मृति भी इसी काल में लिखी गयी थी। महाभारत का नवीन संयरण भी इस काल में ही तैयार हुआ था।

सातवाहनकालीन साहित्य

सातवाहन काल में प्राकृत भाषा का बड़ा विकास हुआ तथा इसी में साहित्य रचा गया। सातवाहन शासकों के ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होने के कारण इस काल में संस्कृत साहित्य का भी विकास हुआ। हाल नामक शासक बड़ा विद्वान था। उसने 'गाथा सप्तशती' नामक काव्य लिखा, जिसमें सुन्दर मुक्तकों का प्रयोग हैं। उसने कई कवियों को संरक्षण भी प्रदान किया। उसके दरबारी कवि गुनाढय ने 'बृहत्कथा' नामक कहानी संग्रह लिखा, जिसकी भाषा पैशाची प्राकृत थी।

कनिष्ककालीन साहित्य

कनिष्क साहित्य का बहुत बड़ा संरक्षक था। उसके दरबार में अनेक महत्वपूर्ण विद्वान रहते थे तथा इस काल में कई प्रमुख ग्रंथ लिखे गये। उसके प्रमुख दरबारी विद्धान इस प्रकार थे–

अश्वघोष–अश्वघोष एक महान् विद्वान था। प्रो. एन.एन. घोष ने उसके सम्बन्ध में लिखा है, "उसके नाना प्रकार के गुण मिल्टन, गोयिटे, कान्त एवं वाल्टेयर की याद दिलाते हैं।"[8] उसे वाल्मीकि का उत्तराधिकारी तथा कालिदास का अग्रदूत तक माना गया है। उसने 'बुद्ध चरित' नामक महाकाव्य में बुद्ध के उपदेशों का बड़ा ही सुन्दर तथा शाश्वत वर्णन किया है। उनकी दूसरी कृति 'सौन्दरानन्द' है। अन्य रचनाओं में 'सूत्रालंकार' तथा 'वज्रसूची' नामक ग्रंथ महत्वपूर्ण माने जाते हें। वह एक अच्छा नाटककार भी था। उसने नौ अंकों में 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक नाटक की रचना की। यह संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन नाटक माना जाता है।

नागार्जुन–नागार्जुन भी एक श्रेष्ठ कोटि का दार्शनिक था। वह पहले ब्राह्मण था, किन्तु कालान्तर में उसने बौद्ध धर्म को अपना लिया। महायान धर्म के सम्बन्ध में लिखने वाला वह पहला बौद्ध विद्वान था। बी.एन. पुरी ने लिखा है, "उसने बौद्ध दर्शन के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ किया तथा इसे एक निश्चित रूप प्रदान

किया।"[9] उसने महायान शाखा व बौद्ध धर्म पर अनेक ग्रंथ लिखे। उसके द्वारा रचित दार्शनिक ग्रंथों में 'माध्यमिक सूत्र' तथा 'परजनापार मित्र सूत्र' आदि प्रमुख थे। शून्यवाद का प्रतिपादन उन्होंने ही किया था।

वसुमित्र–वसुमित्र भी कनिष्क के समय का एक प्रसिद्ध विद्वान व दार्शनिक था। वह कुण्डलवन (कश्मीर) में हुई चतुर्थ बौद्ध संगीति का अध्यक्ष था। उसकी देख-रेख में महाविभाष नामक ग्रंथ संकलित हुआ था, जिसे बौद्ध धर्म के महाकोष की संज्ञा दी जाती है।

चरक–यह कनिष्क का राजवैध था तथा उसने आयुर्वेदिक चिकित्सा पर 'चरक संहिता' नामक ग्रंथ लिखा। चरक के सिद्धान्त आज भी चिकित्सा शास्त्र में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

गुप्तकालीन साहित्य

गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। यदि गुप्तकाल को प्राचीन भारत के साहित्य का स्वर्ण काल माना जाये, तो कदापि गलत न होगा। श्री के.एम. पणिक्कर ने लिखा है, "गुप्तकाल में उच्च कोटि के संस्कृत साहित्य का सृजन हुआ। इसे संस्कृत साहित्य का श्रेष्ठ युग कहा जा सकता है। पाणिनि के पश्चात् पाँच सौ वर्षों तक संस्कृति का परिमार्जन और परिष्कार होता रहा और तब कहीं वह कालिदास के समय में अपनी लावण्य साहित्य सुषमा से अत्यन्त मनोरम बन पायी।"

संस्कृत साहित्य–गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य का बड़ा विकास हुआ तथा इसे संस्कृत साहित्य का स्वर्ण काल माना जा सकता है। गुप्त सम्राटों ने संस्कृत को राजभाषा घोषित कर इसके पुनरुत्थान हेतु अनेक प्रयत्न किये। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये। हरिसेन की प्रयाग प्रशस्ति तथा वत्सभट्टि की मन्दसौर प्रशस्ति संस्कृत भाषा में ही मिलती है। गुप्त शासकों के सिक्कों व अभिलेखों पर विरूद भी संस्कृत में मिलते हैं। इस प्रकार इस समय संस्कृत का बड़ा विकास हुआ।

लौकिक साहित्य–गुप्तकाल में लौकिक साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। महान कवि व नाटककार कालिदास इसी समय हुआ था। उसे संस्कृत साहित्य का सबसे महान् कवि माना जाता है। उसने ऋतुसंहार व मेघदूत नामक दो खण्डकाव्य, रघुवंश व कुमारसंभव नामक महाकाव्य तथा विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् नामक नाटकों की रचना की। अपनी साहित्यिक शैली के कारण वह संस्कृत का सबसे महान कवि माना जाता है। उसे 'भारत के शेक्सपियर' की संज्ञा दी जाती है। इतिहासकार ए.एल.बाशम ने लिखा है, "जिन व्यक्तियों ने कालिदास के मौलिक ग्रंथों का अध्ययन किया है, वे सभी एक ही बात कहते हैं, कालिदास कवि तथा

नाटककार के रूप में संसार के महान कवियों में से एक है।"[10] उनकी काव्य विशेषता के सम्बन्ध में एक विद्धान ने लिखा है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास की रचनाओं में काव्य शैली अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी, क्योंकि कालिदास की कविताओं में भावनाओं को प्रधानता प्राप्त है, अलंकारों को नहीं। अलंकार भावनाओं पर छा जाने के बजाय केवल उनकी शोभ बढ़ाते हैं। कालिदास के निकट भाव कविता की आत्मा होते हैं और यद्यपि कविता में अलंकार जन्म सौन्दर्य के प्रति उनकी रूचि बहुत थी, पर वह रस के फेर में अपने मुख्य लक्ष्य का हनन नहीं करते।" आगे के साहित्यकार लाख प्रयत्न कर भी कालिदास के समान रचनाएं नहीं लिख सके।[11] डॉ.आर.सी. मजूमदार के अनुसार, "कालिदास गुप्तकालीन साहित्यक आकाश पर सबसे चमकदार नक्षत्र हैं।"

इस युग के दूसरे प्रमुख नाटककार विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' तथा 'देवीचन्द्र गुप्तप्' नामक नाटक लिखे। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नामक नाटक लिखा। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' नामक ग्रंथ लिखा। भैरव ने 'किरातार्जुनीय' नामक ग्रंथ की रचना की। वत्स भट्ट ने 'रावण वध' नामक महाकाव्य लिखा। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक, श्रृंगार शतक, नीति शतक आदि ग्रंथ लिखे। एक विद्वान के शब्दों में, " हम संस्कृत का श्रेष्ठतम रूप देखते हैं। भर्तृहरि का हर छन्द साधारणतया स्वतः पूर्ण होता है और एक छन्द में एक ही विचार को, चाहे वह प्रेम भाव का हो अथवा विरक्ति का या करुणा का, पूर्णतः बड़े परिमार्जित ढंग से व्यक्त किया जाता है।"

भास, साब, वीरसेन आदि अन्य प्रमुख विद्वान थे। प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता हरिषेण तथा मन्दसौर प्रशस्ति के रचयिता 'वत्स भट्टि' भी बड़े विद्वान थे। विष्णु शर्मा ने 'पंचतंत्र' नामक ग्रंथ लिखा, जिसका विश्व की 50 से अधिक भाषाओं में अनुवाद किया जा चुका है। 'रीति काव्यालंकार' का लेखक भामह भी इसी युग में हुआ।

व्याकरण का विकास–गुप्तकाल में व्याकरण साहित्य के क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। चन्द्र नामक बौद्ध विद्धान ने 'चन्द्रव्याकरण' नामक व्याकरण ग्रंथ लिखा, जो बड़ा लोकप्रिय हुआ। यह कश्मीर, लंका, नेपाल व तिब्बत में भी लोकप्रिय हुआ। भर्तृहरि ने 'वाक्यप्रदीप' नामक ग्रंथ में 'महाभाष्य' पर विचार व्यक्त किये हैं। बौद्ध विद्वान अमरसिंह ने 'अमरकोष' नामक ग्रंथ लिखा, जो व्याकरण का विख्यात ग्रंथ है।

धार्मिक साहित्य की प्रगति–गुप्त सम्राटों ने हिन्दू धर्म के अनुयायी होने के कारण धार्मिक साहित्य को भी अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। इस काल में प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रंथों के नवीन संस्करण लिखे गये।

इस काल में पुराणों को नवीन रूप दिया गया। वायु, भागवत, विष्णु, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड आदि पुराण संशोधित किये गये। मनुस्मृति में भी संशोधन हुआ तथा इसके

आधार पर याज्ञवल्क्य, कात्यापन, बृहस्पति आदि स्मृतियों की रचना की गयी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को आधार वनाकर कामन्दक ने 'नीतिसार' नामक ग्रंथ लिखा।

दार्शनिक साहित्य की प्रगति–गुप्तकाल में दार्शनिक साहित्य का भी बहुत अधिक विकास हुआ। हिन्दुओं, जैनों तथा बौद्धों के दार्शनिक क्षेत्र में अनेक ग्रंथ रचे गये। ईश्वर कृष्ण इस काल का विख्यात दार्शनिक था। उसने सांख्यदर्शन पर 'सांख्य कारिका' नामक ग्रंथ लिखा। वात्सयायन ने न्याय सूत्र पर 'न्याय भाष्य' तथा प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्र पर 'पदार्थ धर्म संग्रह' नामक ग्रंथ लिखा। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत असंग तथा वसुबन्धु ने कई दार्शनिक ग्रंथों की रचना की। वसुबंधु का 'अभिधर्मकोष' नामक ग्रंथ विख्यात है। बौद्ध आचार्य दिगनाग ने 'प्रमाण समुच्चय' व 'न्याय प्रवेश' नामक ग्रंथ लिखे। बुद्धघोष ने 'सुमंगल विलासिनी' नामक ग्रंथ लिखा। शंकरपाल, धर्मपाल व चन्द्र कीर्ति आदि भी प्रमुख बौद्ध दार्शनिक थे। सिद्धसेन नामक जैन दार्शनिक ने 'न्याय दर्शन' व 'न्यायवतार' नामक दार्शनिक ग्रंथों की रचना की। जिन भद्रमणि एवं सामन्त भद्र आदि अन्य प्रमुख दार्शनिक थे।

वैज्ञानिक प्रगति

गणित का विकास–गुप्तकाल में गणित के क्षेत्र में बहुत अधिक विकास हुआ। आर्यभट्ट इस युग का विख्यात गणितज्ञ था। उसने 499 ई. में 'आर्य भट्टीय' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें अकगणित, बीजगणित व रेखागणित के सिद्धांन्तों व सूत्रों का प्रतिपादन है। गणित को पृथक विज्ञान मानने वाला वह पहला व्यक्ति था। रेखागणित में बिन्दु का आविष्कार उसी की ही देन था।

ज्योतिष का विकास–गुप्त काल में ज्योतिष के क्षेत्र में भी अत्यधिक विकास हुआ। आर्य भट्ट एक महान ज्योतिषी भी था। उसने इस क्षेत्र में 'दशगीतिक सूत्र' व 'आर्याशितषत' आदि ग्रंथ लिखे। उसके द्वारा बतलायी गयी पृथ्वी की परिधि आज भी सही मानी जाती है।

उसने प्रथम बार यह प्रतिपादन किया था कि पृथ्वी गोल है व अपनी धुरी पर घूमती है। उसने बताया कि ग्रहण राहू तथा केतु का प्रभाव न होकर चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है। वराहमिहिर इस काल का दूसरा प्रमुख ज्योतिषी था। उसने पाँच पुस्तकों की रचना की। 'वृहत्संहिता' नामक ग्रंथ में उसने नक्षत्रों की गति तथा इनका मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव की विवेचना की है। ब्रह्मगुप्त नामक एक अन्य ज्योतिषी ने 'बह्म सिद्धांत' नामक ग्रंथ की रचना की। उसने न्यूटन से सदियों पूर्व इस तथ्य का प्रतिपादन कर दिया था कि, "सभी चीजें पृथ्वी के नियमानुसार पृथ्वी पर गिरती हैं, क्योंकि पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपनी तरफ खींचती है।"

चिकित्सा विज्ञान की प्रगति–इस काल में चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में वाण भट्ट ने 'अष्टांग संग्रह' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें चरक व सुश्रुत की संहिताओं का सार है।

संभवतः महान् आयुर्वेदाचार्य धनवन्तरि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक था। इस काल में अनेक चिकित्सालय स्थापित किये गये। पालकाप्य ने अपने ग्रंथ 'हस्त्यायुर्वेद' में हाथियों के रोग व उनके निदान की चिकित्सा का वर्णन किया है। नागार्जुन ने चिकित्सा के क्षेत्र में एक नवीन पद्धति का आविष्कार करते हुए कहा कि स्वर्ण, चांदी, तांबा, लोहा आदि धातुओं द्वारा भी रोगापचार किया जा सकता है। संभवतः इस समय चेचक का टीका भी प्रचलित था।

अन्य विज्ञान–गुप्त काल में रसायन विज्ञान व धातु विज्ञान भी काफी विकसित थे, किन्तु इस क्षेत्र में अधिक जानकारी नहीं मिलती। फिर भी मेहरोली का लौह स्तंभ एवं बुद्ध की तांबे की मूर्ति इनके विकास को बताते हैं।

हर्षकालीन साहित्य

हर्ष की रचनाएं–हर्ष स्वंय बहुत विद्वान था। उसने नागानन्द, प्रियदर्शिका व रत्नावली नामक तीन नाटक लिखे। बंसखेरा के अभिलेखों के अनुसार उसका हस्तलेख बड़ा सुन्दर था। जयदेव ने उसकी तुलना कालिदास से की है।

विद्वानों का संरक्षक–हर्ष विद्वानों का बहुत बड़ा संरक्षक था। वह उन्हें खुलकर अनुदान देता था। उसके दरबार में अनेक विद्वान थे। इत्सिंग के अनुसार हर्ष के आदेश पर दरबारी कवियों ने रचनाएं लिखीं, जिसे 'जातक माला' नामक ग्रंथ में संगृहीत किया गया। बाणभट्ट महान कवि था। उसके द्वारा रचित 'हर्ष चरित्र' से हर्ष व उसके पूर्वजों के संबंध में जानकारी मिलती है। उसने कादम्बरी, पार्वती परिणय, चण्डी शतक आदि ग्रंथ भी लिखे। जयसेन नामक विद्वान् योग, वेद, ज्योतिष, भूगोल, गणित, चिकित्सा आदि का विद्वान था। हुईली के अनुसार उसने हर्ष द्वारा दान में दी गयी अस्सी नगरों की आय को त्याग भाव के कारण स्वीकार नहीं किया था।

मयूर ने कामशास्त्र का ग्रंथ 'अष्टक' व 'सूर्यशतक' नामक ग्रंथ लिखे। दिवाकर, भर्तृहरि आदि उसके दरबार के अन्य विद्वान थे।

पल्लवकालीन साहित्य

पल्लव काल में संस्कृत तथा तमिल साहित्य का बहुत विकास हुआ। उनकी राजधानी कांची विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र थी। ह्वेनसांग के अनुसार कांची में लगभग सौ मन्दिर तथा दस हजार पुरोहित थे। पल्लव शासकों में अपने सभी अभिलेख तथा प्रशस्तियां संस्कृत में खुदवायीं। एक ताम्र लेख के अनुसार कांजीवरम् के निकट कुर्रम गाँव में रहने वाले लगभग 100 परिवार चारों वेदों का अध्ययन करते थे। इस प्रकार पल्लव राज्य में संस्कृत भाषा प्रचलित थी। पल्लव कालीन कवि भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' नामक ग्रंथ लिखा। अलंकार रचयिता दंडिन व प्रसिद्ध मातदत्त पल्लव

राज्य के साहित्य सम्राट माने जाते हैं। पल्लव शासक महेन्द्रवर्मन ने 'मत्तविलास' नामक ग्रंथ लिखा।

चोलकालीन साहित्य

चोल शासकों ने भी साहित्य को बड़ा संरक्षण दिया। इस समय संस्कृत व तमिल साहित्य का विकास हुआ। इस काल का साहित्य जन-जागरण का साहित्य माना जाता है।

राष्ट्रकूटकालीन साहित्य

राष्ट्रकूट काल में भी साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ। अमोघवर्ष नामक विद्वान ने 'रत्न मालिका' तथा 'कविराज' नामक ग्रंथ लिखे। अमोधवृत्ति नामक ग्रंथ भी इसी काल में रचा गया। जिनसेन नामक विद्वान ने 'पार्श्वाभ्युदय' तथा 'हरिवंश' नामक ग्रंथ लिखे। रेन्ना, योना एवं पम्पा आदि इस काल के प्रमुख कवि थे।

राजपूतकालीन साहित्य

राजपूत काल में भी साहित्य का बड़ा विकास हुआ राजपूत शासक स्वयं भी विद्वान थे एवं उन्होंने अनेक साहित्यकारों को भी संरक्षण दिया। इस काल में काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन, राजनीति, स्मृति आदि विषयों पर ग्रंथ लिखे गये। राजा मुंज महान् कवि था। परमार शासक भोज भी बड़ा विद्वान था। राजा पृथ्वीराज स्वंय भी बहुत विद्वान था तथा उसने अनेक विद्वानों को अपने यहाँ संरक्षण भी दिया। राजशेखर ने 'कर्पूर मंजरी' नामक ग्रंथ लिखा। बंगाल के कवि जयदेव ने 'गीत गोविन्द' नामक महाकाव्य में कृष्ण तथा राधा के प्रेम का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। कल्हण द्वारा रचित 'राजतरंगिणी' से कश्मीर के इतिहास के बारे में जानकारी मिलती है। भारवि ने अलंकारिक काव्य शैली में 'किरातार्जुनीय' नामक ग्रंथ लिखा। नारायण पण्डित कृत 'हितोपदेश' तथा क्षेमेन्द्र कृत 'वृहत कथा मंजरी' नामक ग्रंथ कथा साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। श्री हर्ष नामक कवि ने 'नैषधचरित' नामक काव्य की रचना की।

इस युग में नाटक साहित्य का भी बहुत विकास हुआ। भवभूति महान् नाटककार था। उसने 'महावीर चरित', 'मालती माधव' व 'उत्तरराम चरित', नामक नाटक लिखे। इस काल मे अनेक दार्शनिक ग्रंथों की भी रचना की गयी। कुमारिल ने 'श्लोक कार्तिक', मुण्डन ने 'विधि विवेक' एवं वाचस्पति मिश्र ने सांख्य शास्त्र पर 'सांख्य तत्त्व कौमुदी', रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीभाष्य' नामक ग्रंथ लिखा। व्याकरण ग्रंथों में चन्द्रगोपिन ने 'चन्द्र व्याकरण' तथा जिनेन्द्र ने 'जिनेन्द्र व्याकरण' की रचना की। आयुर्वेद में वागभट्ट ने 'अष्टांग संग्रह' तथा चक्रपाणित ने 'चिकित्सा सार संग्रह' नामक

ग्रंथ लिखे। नागार्जुन कृत 'रति शास्त्र' तथा कामन्दक कृत 'नीतिसार' आदि नीतिशास्त्र के श्रेष्ठ ग्रंथ माने जाते हैं।

इस प्रकार प्राचीन काल में साहित्य का बहुत विकास हुआ।

संदर्भ

1. शर्मा, एस. आर. (डॉ.) : इण्डिया एज़ आई सी हर, पृष्ठ 45.
2. शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, पृ. 155.
3. गोखले, बी. जी. : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 168.
4. घोष, एन. एन., : अरली हिस्ट्र ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 7.
5. विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर (भाग प्रथम), पृष्ठ 155.
6. सिल्वां लेवी : कलकत्ता रिव्यू, सितम्बर 1923, पृ. 177.
7. स्मिथ, वी. ए. (डॉ.) : दी ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 135.
8. घोष, एन. एन. : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 237.
9. पुरी, बी. एन. (डॉ.) : इण्डिया अण्डर द कुशान्स.
10. बाशम, ए. एल. : अद्‌भुत भारत, पृ. 457.
11. गोखले : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 174.

□

13

प्राचीन भारतीय कला

कला शब्द की व्युत्पत्ति कल् + अय् + टाप् धातु व प्रत्यय से हुई है, जिसका तात्पर्य है किसी वस्तु का छोटा अंश। यह मानव की सौन्दर्य भावना का बोध कराती है। डॉ. रामदत्त भारद्वाज के अनुसार, "कवि का लास्य (उछल कूद) ही कला है।" क्षेमराज के शब्दों में, कला वस्तुओं को संवारने वाली प्रतिभा है। गुप्तजी ने कुशल अभिव्यक्ति की शक्ति को तथा आचार्य शुक्ल ने एक की अनुभूति दूसरे तक पहुंचाने को ही कला कहा है। रवीन्द्र के अनुसार, "व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करने को ही कला कहते हैं।" टाल्स्टाय के शब्दों में, "कला अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द आदि के सहारे दूसरों के हृदय में पहुंचा देती है।"

भारत का कला के क्षेत्र में भी एक समृद्ध इतिहास रहा हे। भारतीय कला की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं। भावाभिव्यक्ति, धार्मिकता, प्रतीकात्मकता, पारम्परीयता, सामाजिकता, लोकप्रतिबद्धता, अनामता आदि। प्राचीन भारतीय कला की प्रगति का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :

सैन्धवकालीन कला

नगर निर्माण–सिन्धु घाटी के नगर व्यवस्थित ढंग से बसे हुए थे। प्रो. मैके के अनुसार, "उन अवशेषों को देखकर व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वह लंकाशायर के किसी आधुनिक नगर के अवशेष हैं।" सड़कें चौड़ी होतीं थीं तथा एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। मुख्य सड़क $10\frac{1}{2}$ मीटर चौड़ी थी। नगर का गन्दा पानी बाहर निकालने हेतु नालियों की भी व्यवस्था थी।

भवन निर्माण–मकान पक्के व कच्चे दोनों होते थे। उनमें प्रकाश व हवा की भी व्यवस्था थी। मकान दुमंजिला भी होते थे। उनकी खिड़कियाँ तथा दरवाजे गली की ओर खुलते थे। हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की खुदाई में विशाल अन्नगृह व मकान प्राप्त हुए हैं।

मूर्ति कला–खुदाई मे प्राप्त मूर्तियां इस क्षेत्र में सैन्धवों की कुशलता को प्रमाणित

करती हैं। इस काल में दो तरह की मूर्तिया बनती थीं धार्मिक व साधारण। यहाँ की दो मूतियाँ प्रसिद्ध हैं- लाल पत्थर की मानव मूर्ति व कांसे की नर्तकी की मूर्ति। नर्तकी की मूर्ति के संबंध में त्रिपाठी ने लिखा है, "यह मूर्ति ऐतिहासिक काल की किसी भी मूर्ति से अधिक श्रेष्ठ है।" सर जॉन मार्शल के अनुसार, " ये मूर्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि चौथी सदी ई. का कोई भी कलाकार इनको अपनी कृति कहने में गर्व का अनुभव करेगा।"[1]

धातु कला–सिन्धुवासी सोने, चांदी तांबे आदि के सुन्दर आभूषण बनाते थे तथा धातुओं के बर्तनों पर नक्काशी करते थे।

चित्रकला–बर्तनों, मुहरों, सार्वजनिक भवनों आदि पर बने चित्रों से उनकी चित्रकला का पता चलता है। प्राकृतिक दृश्य व जानवरों दोनों के चित्र बनते थे। उनमें रंगों का प्रयोग भी होता था।

नृत्य व संगीत–खुदाई में तबला, ढोल आदि प्राप्त हुए हैं। नर्तकी की कांसे की मूर्ति नृत्य कला में सिन्धुवासियों की रुचि बताती है।

ताम्रपत्र (निर्माण) कला–खुदाई में अनेक वर्गाकार ताम्रपत्र मिले हैं।

मुहर निर्माण कला–खुदाई में मिट्टी व पत्थरों की बनी 550 मुहरें मिली हैं। ये वर्गाकार तथा गोलाकार हैं। इन मुद्राओं पर पशुओं व प्राकृतिक दृश्यों के चित्र अंकित हैं।

परमेश्वरी लाल गुप्त ने लिखा है, "इस प्रकार हम देखते हैं कि सैन्धव सभ्यता की वास्तुकला प्रत्येक अंग में पूर्ण एवं विकसित थी। वैसी विकसित वास्तु कला का परिचय हमें इस युग के बाद बहुत दिनों तक नहीं मिलता।"

लिपि–खुदाई में अनेक मुहरें प्राप्त हुई हैं, जिन पर कुछ लिखा हुआ है, इससे सिन्धुवासियों के लेखन कला से परिचित होने की पुष्टि होती है। उनकी लिपि चित्रात्मक थी एवं दांई से बांई ओर लिखी जाती थी। इसे अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है।

ऋग्वैदिक कालीन कला

ऋग्वेद में हजार स्तम्भों हजार द्वारों वाले पुरों (किलों) का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि आर्य भवन निर्माण कला, में दक्ष थे। ऋग्वेद में इन्द्र की स्वर्ण मूर्ति का संकेत मिलता है। इसमें आर्यों के मूर्तिकला से भी परिचित होने की जानकारी मिलती है। इसके अलावा वे संगीत, नृत्य तथा वाद्य कला में भी दक्ष थे।

मौर्यकालीन कला

मौर्य काल प्राचीन भारतीय कला का स्वर्ण युग था। श्री लूनिया के अनुसार, "मौर्य काल भारतीय कला के इतिहास में युग प्रवर्तक है। हमारे पास ऐसे कोई प्राचीन

अवशिष्ट स्मारक नहीं, जिनका संबंध मौर्यों से पूर्व की भारतीय कला से हो।"[2] श्री नागर के अनुसार, "भारतीय कला का इतिहास वास्तविक रूप में इसी युग से प्रारंभ होता है।"[3] बी. जी. गोखले के अनुसार, "मौर्य काल से ही भारतीय कला का इतिहास आरंभ होता है।"[4] पहले स्थापत्य कला में लकड़ी व ईटों का प्रयोग होता था, किन्तु अशोक के समय से इस क्षेत्र में पत्थरों का प्रयोग होने लगा। डॉ. स्मिथ के शब्दों में, "उसके शासन काल में कलाकृतियाँ निःसंदेह उत्तम कोटि तक पहुंच गयी थीं।"[5]

अनेक विद्वानों ने मौर्य कला पर विदेशी प्रभाव माना है। पर्सी ब्राउन के अनुसार, "अपने आरंभिक काल में ही मौर्य राज्य अपनी पश्चिमी सीमा के बाहर अपने से अधिक विकसित और उन्नत सभ्यता की ओर दृष्टिपात कर रहा था तथा स्थापत्य के लिये ग्रहण कर रहा था।[6] वी. ए. स्मिथ के अनुसार, "वास्तुकला और मूर्तिकला में अचानक प्रस्तर का प्रयोग बहुत अंशों में विदेशी, संभवतः पर्सिया का परिणाम है।"[7] नीहार रंजन राय के अनुसार, "इसमें जरा भी संदेह नहीं कि प्रेरणा विदेश बाहर से मिली है।"[8] बेंजामिन रोलैण्ड के शब्दों में, मौर्य संस्कृति की भांति मौर्य कला भी "अधिकांश में विदेशी है।"[9] डॉ. रामप्रसाद चन्दा ने लिखा है, "फारस के पाषाण भवनों की प्रतिकृति में ही अशोक ने वास्तुकला में प्रस्तर का प्रयोग किया।"[10] भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार, "ईरानी मिश्री संस्कृति का प्रभाव भारतीय संस्कृति व कला पर है।"[11] डॉ. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह के अनुसार, "मौर्य कला भारतीय परम्परा पर नहीं वरन् विदेशी अनुकरण पर राजकीय प्रेरणा और निर्देश पर आधारित थी।"[12]

किन्तु दूसरी तरफ मौर्य कला में अनेक भारतीय विशेषताएं भी थीं। अतः इसे भारतीय व विदेशी कला का सम्मिश्रण कहा जा सकता है।

नये नगरों का निर्माण–कल्हण के अनुसार कश्मीर की राजधानी श्रीनगर का संस्थापक अशोक ही था। उसने यहाँ 500 बौद्ध विहार बनवाये। उसने अपनी पुत्री चारूमति के साथ नेपाल की यात्रा के दौरान वहाँ ललितपाटन (नेपाल) नामक नगर बसाया। उसने यहाँ पाँच स्तूप भी बनवाये। चारूमति ने अपने पति की स्मृति में नेपाल में देवपाटन नामक नगर बनवाया।

भवन–मौर्यों के भवन बड़े कलात्मक व सुन्दर थे। मेगस्थनीज ने लिखा है, "चन्द्र गुप्त के भवन ईरान के सूसा तथा इकबताना के भवनों से कला तथा सजावट में अधिक सुन्दर हैं।" अशोक के समय से भवन निर्माण कला में पत्थर का प्रयोग होने लगा। वह महान् भवन निर्माता था। उसने पाटलिपुत्र में एक विशाल उद्यान के मध्य एक भव्य राजमहल बनवाया था, जिसकी सुन्दरता से आश्चर्यचकित होकर गुप्तकालीन चीनी यात्री फाह्यान ने कहा, "नगर (पाटलिपुत्र) में अभी तक अशोक का राजमहल व सभा भवन है। ये सब असुरों द्वारा बनाये गये थे। उन्होंने पत्थर चुनकर दीवारों तथा द्वारों का निर्माण किया और उन पर ऐसी सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी, की जो इस संसार के

मनुष्यों के लिये करनी असंभव है।"[13] कुम्हरार से प्राप्त मौर्य सभा भवन के अवशेष वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ. विन्ध्येश्वरी प्रसाद के अनुसार, "भारतीय स्थापत्य के इतिहास में कुम्हरार का यह मौर्य सभा भवन अभूतपूर्व है। भारतीय स्थापत्य कला मौर्य काल में कितनी ऊंची थी, इस सभा भवन के अवशेषों से अनुमान किया जा सकता है।"[14]

स्तूप–बौद्ध सूत्रों के अनुसार अशोक ने 84,000 स्तूप बनवाये। वस्तुतः यह कथन भ्रांतिपूर्ण लगता है, किन्तु फिर भी यह सत्य है कि उसने बड़ी संख्या में स्तूप बनवाये। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने तक्षशिला, श्रीनगर, थानेश्वर, कन्नौज, मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, कपिलवस्तु, कौशाम्बी, कुशीनगर, बनारस, गया, वैशाली आदि नगरों में अशोक के स्तूप देखे थे। उसके द्वारा निर्मित अधिकांश स्तूप आज नष्ट हो चुके हैं। भोपाल के निकट स्थित सांची का स्तूप आज भी अशोक कालीन स्थापत्य कला के गौरव की याद दिलाता है। इसकी ऊंचाई 77 1/2 फुट, व्यास 121 1/2 फुट व इसकी बाड़ की ऊंचाई 11 फुट है। इस स्तूप का द्वार बड़ा कलात्मक है।

स्तंभ–अशोक ने कई स्तंभ बनवाये। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, "उसके स्तंभ ललित कलाओं के क्षेत्र में मौर्यों की उच्चतम सफलता के प्रतीक हैं।"[15] वी. ए. स्मिथ के अनुसार, "निर्माण, स्थानान्तर तथा स्थापना मौर्यकालीन शिल्पाचार्यों एवं शिलारक्षकों की बुद्धि एवं कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं, स्तंभों की सुन्दरता से अधिक विलक्षण वस्तु उनका एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना था।"[16] ह्वेनसांग ने हर्ष द्वारा बनवाये गये 15 स्तंभों का उल्लेख किया है। अशोक द्वारा बनवाये गये स्तंभ टोपरा, मेरठ, इलाहाबाद, सांची, सारनाथ, लौरिया, ऐरराज, लौरिया नन्दनगढ़, रामपुरवा, रूमनिदेई आदि स्थानों पर मिले हैं। ये चुनार के पत्थर के बने हैं व 40 से 50 फुट तक ऊंचे हैं। ये स्तंभ एक ही पत्थर के बने हैं तथा नीचे से चौड़े तथा ऊपर से पतले हैं। प्रत्येक बड़ा स्तंभ लगभग 50 टन भारी है। प्रत्येक स्तंभ के ऊपर एक पत्थर का मस्तक है, जिसके तीन भाग हैं तथा सबसे नीचे का भाग उल्टी घण्टी के समान है। हैवेल ने इन्हें विष्णु के कमल के फूल के आकार का माना है। इनके ऊपर एक गोल पत्थर है, जिस पर शेर, हाथी, बैल आदि की मूर्ति हैं। इन स्तंभों पर की गयी पालिश आज भी ज्यों की त्यों है एवं आधुनिक कारीगरों के लिये भी विस्मय का विषय है। डॉ. वी. ए. स्मिथ के अनुसार, " कठोर पाषाणों को चिकना बनाने की कला इस पूर्णता तक पहुंच गयी थी कि कहा जा सकता है कि आधुनिक कलात्मक शक्तियों के लिये यह खोयी हुई कला ही है।" इन स्तंभों के मस्तक कलात्मक दृष्टि के बड़े सुन्दर हैं, सर जॉन मार्शल ने लिखा है, "ये आकार तथा शैली की दृष्टि से भारत की शिल्प कला की निःसंदेह सर्वोत्तम कृतियां हैं और मैं समझता हूं कि ये संसार के प्राचीन इतिहास में अद्वितीय हैं।"[17]

सारनाथ का पाषाण स्तंभ बड़ा सुन्दर है। इसमें चार शेरों की आकृतियाँ हैं, जो

परस्पर पीठ सटाएं बैठे हैं। शेरों के नीचे के पत्थर पर चार धर्मचक्र एवं चार पशु घोड़ा, शेर, हाथी व नन्दी के चित्र बने हुए हैं तथा उल्टी घण्टी सी बनी है। समस्त मस्तक पर काले रंग की पालिश है। डॉ. स्मिथ के अनुसार, "संसार के किसी भी देश में कला की इस सुन्दर कृति से बढ़कर अथवा इसके समान शिल्पकला का उदाहरण पाना कठिन होगा।"[18] जॉन मार्शल के अनुसार, "सारनाथ की कला अत्यधिक विकसित कला का आदर्श है।" श्री भगवत शरण उपाध्याय के अनुसार, "सारनाथ के स्तंभ का शीर्ष, जो 242 और 232 ई. पू. के बीच कभी प्रस्तुत हुआ, परिष्कार, सौन्दर्य और शिल्प चातुरी में संसार की कृतियों में अनुपम हैं।"[19] श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार, "इस मूर्तिकला में सजीवता व निखारपन मिलता है व कहीं भी भद्दी या बेड़ौल रचना नहीं मिलती।"[20] श्री लूनिया ने लिखा है, "इन सिंहों में इतनी सजीवता, नवीनता और आकर्षण है कि ये आज के ही बने प्रतीत होते हैं।"[21] बी. जी. गोखले के अनुसार, "यह सिंह प्रतिष्ठावान व्यक्ति व उदात्त संकल्प का प्रतीक है।"[22] श्री सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में, "सिंह की चार मूर्तियां हैं, जो मूर्ति निर्माण कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं।"[23] श्री रायकृष्ण दास के अनुसार, "कहीं से लबरपन, बोदापन और भद्दापन नहीं है। न एक छेनी कम लगी है न एक छेनी अधिक।"[24]

कुछ इतिहासकार स्तंभों के शीर्ष भाग यूनानी कला पर आधारित मानते हैं, जबकि हैवल ने इन्हें विष्णु के कमल के फूल के समान माना है, घण्टी के समान नहीं। इन मस्तकों में बैल व हाथियों की मूर्तियां मिलना भी इनके भारतीय होने की पुष्टि करता है। जिम्मर के अनुसार, "अशोक के राज्य में सहसा उद्भूत और तदनन्तर तीव्र गति से विकास प्राप्त कृतियों की पूर्णता एवं अनुपम अवस्था से यह प्रत्यक्ष है कि शताब्दियों पूर्व भारतीय धार्मिक कला की वेगवती धारा तीव्र गति से प्रवाहित हो रही थी।"[25]

गुफाएं–इस काल में पर्वतों को काटकर गुफाओं का निर्माण करवाया गया। अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ ने गया के समीप बाराबर व नागार्जुन की पहाड़ियों में आजीविकों के निवास हेतु गुफाएं प्रदान की थीं। इन गुफाओं की दीवारों पर की गयी पॉलिश आज भी शीशे के समान दमकती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रेक्षागृहों व रंगशालाओं के निर्माण का भी पता चलता है। रायगढ़ की पहाड़ियों में बने गृह भवनों में प्रेक्षा गुहाओं के भी कुछ नमूने मिले हैं।

इंजीनियरिंग कला–इस काल में इन्जीनियरिंग कला का बड़ा विकास हुआ था। इस काल के इंजीनियर पचास टन के पत्थर काटकर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले गये थे। सौराष्ट्र में सुदर्शन झील भी वैज्ञानिक ढंग से बनायी गयी थी। डॉ. आर. के. मुकर्जी के अनुसार मौर्यकालीन इन्जीनियर योजना बनाने में कुशल थे। मेगस्थनीज़ के अनुसार पाटलिपुत्र नगर निश्चित योजना के अनुसार बसा हुआ था।

मूर्ति कला–इस काल में मूर्ति कला भी काफी विकसित थी। स्तंभों पर बनी पशु

पक्षियों, पुष्पों व लताओं की आकृतियाँ कलात्मक हैं। मथुरा के समीप परखम में प्राप्त यक्ष की मूर्ति, बेसनगर की स्त्री मूर्ति एवं पटना व दीदारगंज की मूर्तियां बड़ी सुन्दर हैं। सारनाथ स्तंभ पर बनी चार शेरों की मूर्ति के संबंध में डॉ. वी. ए. स्मिथ ने लिखा है, "वह अनुपम है, प्राचीन संसार में उस जैसी कोई प्रभावशाली मूर्ति उपलब्ध नहीं है।"

इस प्रकार मौर्य काल में कला का असाधारण विकास हुआ, किन्तु मौर्य साम्राज्य के साथ-साथ मौर्य कला का भी पतन हो गया, क्योंकि यह एक राजकीय कला थी तथा कभी भी लोक कला का रूप धारण न कर सकी। निहार रंजन राय ने लिखा है, "मार्य राजप्रासाद कला भारतीय कला के विकास में स्थायी रूप से कोई योगदान देने में असफल रही।"[26]

शुंगकालीन कला

शुंगकाल में भी कला का बड़ा विकास हुआ। इस काल में पत्थर की देविकाओं तथा शानदार तोरण द्वारों का निर्माण हुआ। भारहुत के स्तूप का निर्माण इसी काल में हुआ। इन स्तूपों पर बुद्ध के जीवन से संबंधित आधा दर्जन मूर्तियां हैं तथा छः जातक कथाएं अंकित हैं। इस काल की कला में जन जीवन का बड़ा सुन्दर चित्रण दिखायी देता है। कुल्लू के गुण्डला स्थान से तांबे का लोटा प्राप्त हुआ है, जिसके चारों ओर चित्र बने हैं।

सातवाहन कालीन कला

सातवाहन काल में भी कला का बड़ा विकास हुआ। इस काल में अमरावती के स्तूप का पुनर्निमार्ण किया गया। इस काल में नासिक, कार्ले, कुन्हेरी आदि स्थानों पर चैत्य बनवाये गये। इस के अलावा अल्लरू, गोली, गुढ़ीवाद आदि स्थानों पर नयी गुफाएं व स्तूप बनवाये गये। स्तूपों पर तथा चैत्यों की छतों व दीवारों पर सुन्दर रंग बिरंगी चित्रकारी की गयी। इन चित्रों के रंग आज भी जैसे के तैसे हैं।

कनिष्ककालीन कला

कनिष्क एक महान भवन निर्माता एवं स्थापत्य प्रेमी था। अलबरूनी ने उसके भवनों की बहुत प्रशंसा की है। इस काल में स्थापत्य कला की मुख्यतः चार शैलियों का प्रचलन था–

गान्धार शैली–कुषार साम्राज्य के उत्तर पश्चिम प्रांत गान्धार में विकसित हुई शैली को गान्धार शैली कहा जाता है। इस शैली का विषय भारतीय था, किन्तु शैली यूनानी थी। इस शैली को भारतीय यूनानी कला भी कहा जाता हे। यद्यपि यह कुषाण काल से भी पहले ही उदित हो चुकी थी, किन्तु कनिष्क् के समय में यह विकास के चरम शिखर

पर जा पहुंची। इस शैली की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

(i) पारदर्शक कपड़े व उनमें सिलवटें दिखाना।

(ii) मानव शरीर की सुन्दर रचना तथा मांसपेशियों की सुक्षमता।

(iii) उनमें नक्काशी का काम सुन्दर ढंग से दर्शाना।

गान्धार शैली में निर्मित बुद्ध की मूतियाँ यूनानी देवता अपोलो की मूतियों से मिलती है। बी. एन. लूनिया ने लिखा है, "सरसरी तौरपर देखने पर गान्धार कला का संबंध यूनानी कला से ही प्रतीत होता है।"[27] इसमें बनायी गयी बोधिसत्वों की मूर्तियाँ भी यूनानी राजाओं के समान लगती हैं। उनके वस्त्र भड़कीले हैं। भगवान बुद्ध की महाभिनिष्क्रमण की अवस्था से पूर्व की मूर्तियों में उन्हें यूरापियन वेश-भूषा व रत्नाभूषणों से युक्त दर्शाया गया है। इस प्रकार बुद्ध व बोधिसत्व आदि इस शैली के विषय हैं तथा इसकी कलम यूनानी है। इस शैली के अनेक नमूने कलकत्ता, पेशावर एवं लाहौर के संग्रहालयों में मिलते हैं। मथुरा, सारनाथ, विदिशा, अमरावती आदि स्थानों की कला पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा।

दूसरी तरफ इस शैली की आलोचना भी की जाती है। प्रोफेसर आनन्द कुमार स्वामी ने लिखा है, "पश्चिमी रूपों का समस्त परवर्ती भारतीय तथा चीनी बौद्ध कला पर प्रभाव सुस्पष्ट रूप से खोजा जा सकता है, परन्तु गान्धार की वास्तविक कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है।"[28] डॉ. नीहार रंजन राय ने लिखा है, "इन मूर्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि ये किसी सिद्धहस्त कलाकार की कृति न होकर मशीन से निर्मित है।"[29] पर्सी ब्राउन के अनुसार, "गान्धार शैली के मूर्तिकारों में कलात्मक रुचि का अभाव था।"

मथुरा शैली–इस काल में मथुरा भी कला का विख्यात केन्द्र था तथा यहाँ जो शैली विकसित हुई, उसे मथुरा शैली कहा जाता है। इस शैली में लाल पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। मथुरा में कनिष्क की मस्तकविहीन विशाल प्रतिमा मिली है। कुछ इतिहासकारों ने मथुरा शैली को मौर्यों की सांची-भरहुत शैली के अनुरूप बताया है, जबकि कुछ अन्य इतिहासकार इस पर गान्धार शैली का प्रभाव मानते हैं।

पेशावर का चैत्य–कनिष्क ने अपनी राजधानी पेशावर में विशाल चैत्य बनवाया। इसमें बहुत बड़ा विहार तथा 400 फीट ऊंचा स्तूप था। यह लकड़ी का बना था एवं इसके ऊपर लोहे का विशाल छत्र था। यह कुषाणकालीनकला का प्रमुख नमूना है।

नये नगरों का निर्माण–कनिष्क ने कश्मीर में कनिष्कपुर नामक नगर बसाया, जो वर्तमान में बारामूला कहलाता है। उसने तक्षिशला के एक भाग में सिरमुख नगर बसाया। उसने इन नगरों में कई भवन व विहार बनवाये।

मुद्राएं–इस काल में सोने व तांबे के सिक्के प्रचलित थे। इन सिक्कों पर यूनानी,

ईरानी व हिन्दू देवताओं के चित्र अंकित हैं। इनसे कनिष्क की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की तथा उसकी प्रजा की आर्थिक दशा अच्छी होने की जानकारी मिलती है।

गुप्तकालीन कला

डॉ. वी. एस. अग्रवाल ने लिखा है, "गुप्त कला की आज भी दिखायी देने वाली कलाकृतियों के द्वारा इसका गौरव स्थायी हो गया है।" इस काल में भवन निर्माण, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत कला आदि सभी क्षेत्रों में प्रगति हुई। इस काल की कुछ कृतियाँ तो विश्व में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। गुप्त कला में मथुरा, बनारस, पाटलिपुत्र आदि कला के प्रमुख केन्द्र थे।

स्थापत्य कला–एस. के. सरस्वती के अनुसार, "गुप्त काल से भारतीय भवन निर्माण कला के इतिहास में एक नये युग का आरंभ हुआ।"[30] इससे पूर्व भवन निर्माण में सामान्यतः लकड़ी व ईटों का प्रयोग होता था, किन्तु अब पत्थरों का प्रयोग किया जाने लगा। इस काल में अनेक भव्य व कलात्मक मन्दिरों का निर्माण किया गया, जिनमें से कुछ आज भी उस काल के कलात्मक गौरव की कहानी कहते हैं। इनमें भुमरा का शिव मन्दिर, देवगढ़ का मन्दिर (झांसी जिले में), भीतरी गांव का मन्दिर (कानपुर के समीप), तिगावा का विष्णु मन्दिर (जबलपुर जिले में), नचना कुठार का पार्वती मन्दिर (अजयगढ़), बौद्धगया का महाबोधि मन्दिर आदि मुख्य हैं। इन मंदिरों के स्तंभ सजे हुए हैं तथा इनके प्रवेश द्वारों पर धार्मिक चित्र बने हुए हैं। श्री कृष्णदत्त बाजपेयी ने लिखा है, "ये मन्दिर उत्तर भारत में गुप्त कालीन स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण हैं।"[31]

इस काल में मठ तथा स्तूप भी बनवाये गये। सारनाथ का कलात्मक स्तूप इसी काल में बना था। इस समय के दो मठ सांची व गया में बने हुए हैं। इस काल में निश्चित योजनानुसार गुफाएं बनवायी गयीं तथा प्रत्येक गुफा में सुन्दर स्तंभ बनवाये गये। इनमें अजन्ता की गुफा प्रमुख है। इस काल के गुफा मन्दिरों में मध्य प्रदेश में भिलसा के समीप स्थित उदयगिरी का मन्दिर प्रमुख है। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार, "गुप्त काल के स्तंभ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक ही स्तंभ के विविध भागों में विविध कोण हैं। कोई स्तम्भ यदि नीचे आधार में चार कोणों का है, तो बीच में आठ कोणों का हो गया है।"[32]

मूर्तिकला–इस काल में मूर्ति कला का भी बहुत विकास हुआ। इस काल में मुख्य रूप से पशुओं तथा देवताओं की मूर्तिया बनायी गयीं। इस काल की मूर्तिकला के नमूने मूर्तिकला के श्रेष्ठ उदाहरणों में गिने जाते हैं। इस काल की कला कुषाण कला से भी आगे निकल गयी थी। इस काल में मूर्तियां जेवर व आभूषण सहित बनायी जाने लगीं। इनमें बाहरी आकार तथा आन्तरिक भाव का सुन्दरता से मेल था।

इस काल में सारनाथ तथा मथुरा में प्राप्त बुद्ध व बोधिसत्वों की मूर्तियों से

गुप्तकालीन शिल्प की उत्कृष्टता का पता चलता है। वस्त्रों एवं आभूषणों से सजी बुद्ध की मूर्तियों में आध्यात्मिक भाव बड़े सुन्दर ढ़ंग से दर्शाये गये हैं। सारनाथ एवं मथुरा से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति वड़ी कलात्मक है। सारनाथ से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति के संबंध में डॉ. वी. एस. अग्रवाल ने लिखा है, "रत्न जटित आसन पर बैठे, प्रचार करने का संकेत करते हुए, सारनाथ बुद्ध का आध्यात्मिक प्रदर्शन, शांतिमय मुस्कुराहट तथा ध्यान में लगा हुआ चेहरा भारतीय कला की सबसे महान् सफलता के द्योतक हैं।"

"मथुरा की यह खड़ी बुद्ध मूर्ति सुरुचि, परिष्कार, आवयवीय अनुपात, व्यंजना और सहानुभूति में अप्रतिम है, संसार के बुद्धों में बेजोड़ है।[33] इस काल में शिव, विष्णु, सूर्य आदि देवताओं की भी मूर्तियाँ बनायी गयीं। इनमें भुमरा, देवगढ़ व ग्वालियर के मन्दिरों में अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। गुप्तकालीन शिल्पकला के आधार पर जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बाली व बोर्नियो में भी मूर्ति निर्माण होने लगा। वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है, "गुप्त काल की मूर्तियों में गम्भीरता, शान्ति और चमत्कार है। मूर्तियों की रचना बड़ी ही सुचारू तथा उनकी भावभंगी मनोबेधक हैं।"[34]

डॉ. विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह के अनुसार, "गुप्त काल की मूर्तिकला विशुद्ध भारतीय है और जो कुछ भी विदेशी तत्त्व थे, उनको इस तरह से आत्मसात् कर लिया है कि उनकी स्वतंत्र स्थिति का पता ही नहीं चलता।"[35] आर. डी. बनर्जी ने लिखा है, "गुप्तकालीन कला की आत्मा तो मूलतः भारतीय परम्परा से ओत प्रोत है। इस काल की मूर्तिकला विशेष उल्लेखनीय है, जो भारतीय तत्त्वों के पुनरुद्धार से अनुप्राणित हैं।" आर. सी. मजूमदार के शब्दों में, "संक्षेप में ताल गति और सौन्दर्य की उच्च भावना से परिपूर्ण उच्च आदर्श ही गुप्तकालीन मूर्तियों की विशेषता हैं।"[36]

संगीत कला–इस काल में संगीत कला का भी बड़ा विकास हुआ। समुद्रगुप्त के कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं, जिनमें वह गद्दी पर बैठकर वीणा बजा रहा है। इससे उसके संगीत प्रेमी होने का पता चलता है। हरिषेण के अनुसार उसने अपने संगीत द्वारा नारद एवं तुम्बारू को भी चकित कर दिया था। स्कन्दगुप्त भी महान संगीतज्ञ था। इस प्रकार गुप्त शासकों के संरक्षण में संगीत का बड़ा विकास हुआ।

चित्रकला–इस काल में चित्रकला का असाधारण विकास हुआ। इस काल की प्राप्त कलाकृतियों के आधार पर इसे भारतीय चित्रकला का स्वर्ण युग कहा जा सकाता है। इस काल के चित्र अजन्ता तथा बाघ की गुफाओं में मिलते हैं। अजन्ता में 19 गुफाएं हैं, जिनमें महात्मा बुद्ध, देवताओं, अप्सराओं, विभिन्न राजाओं व राजकुमारियों, जानवरों आदि के बड़े सुन्दर चित्र बनाये गये हैं। ये चित्र रंगीन तथा बारीक हैं। गुफा नं. 16 का चित्र 'मर रही राजकुमारी' बड़ा कलात्मक है। हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार, "अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, चिंता, घृणा, आदि सभी प्रकार के भाव दिखते हैं।" बी. जी. गोखले के अनुसार, "इनकी शैली अत्यन्त

सरल तथा चित्ताकर्षक है और चित्रों की रूपरेखा भावमय तथा सप्राण है, जिन कलाकारों ने ये दृश्य अंकित किये हैं, उनके पीछे परिपक्व कला की एक लम्बी परम्परा थी।" ग्रिफिथ के अनुसार, "शोक और मनोभाव व्यक्त करने में तथा कहानी को उचित ढंग से बताने में यह चित्र, मैं समझता हूँ कला के इतिहास में अद्वितीय रहेगा।" बुद्ध व बोधिसत्वों के जीवन से संबंधित चित्र भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। निवेदिता ने लिखा है, "ये चित्र संभवतः भगवान बुद्ध का सबसे बड़ा कल्पनात्मक प्रदर्शन है।"[37] श्री रायकृष्णदास के अनुसार, "अजन्ता की 17 वीं गुफा के सभी चित्र एक से बढ़कर एक हैं।" सर आरेल स्टाइन के अनुसार, "पूर्वी कला तथा बुद्ध धर्म के विद्यार्थी के लिये भिविष्य में होने वाले अनुसंधनों के द्वारा अजन्ता के चित्रों की महत्ता संभवत अतिक्रमण नहीं की जा सकती।"[38] लारेंस बिनयान के शब्दों में, "अजन्ता की कला तथा एशिया की कला के लिये वही विशेष महत्ता रखती है, जो कि सीना, एसिसी तथा फ्लोरेंस की कला यूरोप तथा यूरोपीय कला के लिये।"[39] श्री वासुदेव उपाध्याय के अनुसार, "अजन्ता की चित्रकला में स्वाभाविकता है, जीवन है, सादगी है, साम्य है, औचित्य है तथा सबसे बढ़कर उन चित्रकारों की सौन्दर्य भावना है।"[40]

बाघ की गुफाओं में बुद्ध, बोधिसत्वों तथा जनसाधारण के अनेक सुन्दर चित्र मिले हैं। गुफा नं. 3 में झुक रही स्त्री का चित्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

धातुकला–इस काल में धातुकला का भी बड़ा विकास हुआ। नालन्दा में बुद्ध की 7 1/2 फीट ऊंची तांबे की मूर्ति मिली है। दिल्ली के समीप चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा निर्मित महरौली का लोह स्तंभ है, जिस पर हजारों वर्षों की वर्षा, सदी तथा गर्मी के बावजूद आज तक जंग नहीं लगा है।

मुद्रा कला–गुप्त काल में मुद्रा निर्माण कला भी बड़ी विकसित थी। सिक्के सोने, चांदी व तांबे के थे तथा वे पूर्णतः भारतीय थे। इस काल के सिक्कों पर भारतीय भाषा, संवत, अस्त्र-शस्त्र, देवी, देवताओं व पशुओं के चित्र अंकित हैं। इनसे तत्कालीन जनजीवन के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। ये सिक्के पूर्ववर्ती सिक्कों की तुलना में बड़े सुन्दर थे।

हर्ष कालीन कला

हर्ष के शासन काल में भी कला का बड़ा विकास हुआ। उसकी राजधानी कन्नौज में 100 मठ तथा अनेक सुन्दर राजप्रासाद थे। नगर में अनेक संग्रहालय, उद्यान तथा सरोवर थे। ह्वेनसांग ने हर्ष कालीन बौद्ध मठों तथा विहारों को कलापूर्ण बताया है तथा भगवान बुद्ध की आठ फीट ऊंची ताम्र मूर्ति की भी प्रशंसा की है। इस काल में मध्य प्रदेश में रायपुर के सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर तथा शाहाबाद में भभुआ के पास शुण्डेश्वरी का मन्दिर कलात्मक हैं।

पल्लवकालीन कला

पल्लव शासकों ने आरकाट, कांची, चिगलपेट, त्रिचनापली व महाबलीपुरम् आदि स्थानों पर अनेक कलात्मक मन्दिर बनवाये। डॉ. नीलकंठ शास्त्री के अनुसार, "दक्षिण भारत में वास्तुकला का प्रारंभ वास्तव में पल्ल्व शासकों द्वारा निर्मित पत्थरों से हुआ।" इस काल में निम्न चार शैलियाँ उत्पन्न हुई–

(i) **महेन्द्र शैली**–इस शैली का निर्माता महेन्द्रवर्मन प्रथम था। उसके द्वारा आरकाट व चिगलपेट में निर्मित मन्दिर इस शैली के प्रमुख नमूने हैं। सादगी इस शैली की प्रमुख विशेषता है।

(ii) **नरसिहं शैली**–इस शैली का जन्मदाता सम्राट महामल्ल नरसिहं वर्मन तथा। त्रिमूर्ति, वराह, दुर्गा आदि देवताओं की मूर्तियाँ एवं पाँच पाण्डवों के रथ इस शैली के कलात्मक नमूने हैं। महाबलीपुरम के मन्दिर भी इसी शैली में बने हैं। पाँच पाण्डवों के रथों (मन्दिरों) में धर्मराज का रथ बड़ा कलात्मक है। यह पूर्ववर्ती शैली से अधिक अलंकृत है।

(iii) **राजसिंह शैली**–इस शैली का निर्माता नरसिंह वर्मन द्वितीय अथवा राजसिंह था। इस शैली में ईट व पत्थरों के ऊंचे-ऊंचे मन्दिर बनाये गये हैं। कांची में स्थित कैलाशनाथ मन्दिर इस शैली का मुख्य नमूना है।

(iv) **अपराजित शैली**–इसका निर्माता सम्राट अपराजित था। पाण्डिचेरी के निकट बेल्लूर के मन्दिर इसी शैली में बनाये गये थे।

इन शैलियों ने इण्डोनेशिया, जावा व बोर्नियों की स्थापत्य कला को भी प्रभावित किया। डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार, "अंगकोरवट का विष्णु मन्दिर स्थापत्य कला तथा मूर्तिकला के आधार पर भारतीय है और पल्लव कला कौशल का ऋणी है।"

चोलकालीन कला

चोल काल में कला का बड़ा विकास हुआ। इस काल में अनेक सुन्दर व कलात्मक मन्दिर तथा राजप्रासाद बनाये गये। चोल शासक राजराज द्वारा तंजौर में निर्मित राजराजेश्वर का मंदिर विख्यात है। उसने विष्णु के मन्दिर भी बनवाये। राजेन्द्र चोल ने अपनी नयी राजधानी गंगई कौंडा चोलपुरम् में चोलेश्वर का मन्दिर बनवाया। चोल शासकों ने अनेक नगर, झीलें व बांध भी बनवाये।

राष्ट्रकूटकालीन कला

राष्ट्रकूट काल में भी कला का बड़ा विकास हुआ। कृष्णराज प्रथम द्वारा एलोरा में निर्मित कैलाश मन्दिर बड़ा कलात्म्क है। द्रविड़ शैली में निर्मित इस मंदिर के दीवारों पर पौराणिक कथाएं अंकित हैं।

राजपूतकालीन कला

राजपूत शासक भी कला प्रेमी थे तथा इस काल में कला के सभी क्षेत्रों में बहुत अधिक विकास हुआ।

स्थापत्य कला–राजपूत काल में स्थापत्य कला का बहुत विकास हुआ। राजपूत शासकों ने अनेक सुन्दर महल, जलाशय, बांध, झीलें तथा विशाल दुर्ग बनवाये। इस काल में निर्मित दुर्गों में चित्तौड़, माण्डू, ग्वालियर, रणथम्भौर, चंदेरी, जोधपुर, उदयपुर व जयपुर आदि प्रमुख हैं, जिन्हें देखकर मुसलमान भी आश्चर्य चकित रह गये थे। राजपूतों द्वारा निर्मित मन्दिरों में स्थापत्य कला की निम्न शैलियों का प्रयोग किया गया था

(1) **नागर शैली**–उत्तर भारत की स्थापत्य शैली नागर शैली अथवा आर्य शैली कहलाती है। उड़ीसा के भुवनेश्वर व पुरी के मन्दिर, मध्यप्रदेश के खजुराहों का मन्दिर, राजस्थान का देलवाड़ा मन्दिर आदि इस शैली के प्रमुख मन्दिर हैं। देलवाड़ा का मन्दिर वस्तुतः कला का स्वर्ग है।

(2) **द्रविड़ शैली**–दक्षिणी भारत की शैली द्रविड़ शैली कहलाती है। महाबलिपुरम्, कांची का मन्दिर, राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वारा निर्मित एलोरा का कैलाश मन्दिर तथा राजराज निर्मित तंजौर का राजराजेश्वर मन्दिर इस शैली का प्रमुख नमूना है। पर्सी ब्राउन ने लिखा है, "तंजौर वर्तमान सम्पूर्ण भारतीय शिल्पकला की कसौटी है।"

(3) **बेसर शैली**–इसका सम्मिश्रण नागर व द्रविड़ शैली के सम्मिश्रण से हुआ था। काशी विश्वेश्वर तथा मैसूर के सोमनाथपुर का केशव मन्दिर इस शैली के प्रमुख नमूने हैं। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार, "इन तीन प्रधान शैलियों के प्रभेद हैं या निर्माण की दृष्टि से गौण हैं। इनमें नागर और द्रविड़ नाम तो यथावत व्यवहृत हुए हैं! पर बेसर के मिश्र, मिश्रक, वाराट आदि पर्याय भी शास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं। वे उस शैली के स्वभाव और देश का संकेत है।"[41]

मूर्ति कला–राजपूत काल में तीन प्रकार की मूर्तियों का निर्माण हुआ–(i) स्वतंत्र खड़ी मूर्तियाँ, (ii) अलंकार मूर्तियाँ, (iii) किसी कथा के सन्दर्भ में बनी मूतियाँ। स्वतंत्र खड़ी मूर्तियाँ उपासना हेतु तथा अलंकार मूर्तियाँ मन्दिरों के बाहरी भाग पर उसका सौन्दर्य बढ़ाने के लिये निर्मित होती थीं। खजुराहों के मन्दिर की दीवारों पर अनेक अलंकृत मूर्तियाँ मिली हैं। किसी कथा के संदर्भ में बनायी गयी प्रतिमाओं में गंगा अवतरण, कालियादमन आदि प्रमुख हैं। सूर्य, शिव, विष्णु, बुद्ध, तारा, बोधिसत्व, जैन धर्म के 24 तीर्थकरों तथा विष्णु के 24 अवतारों की मूर्तियाँ मिली हैं। ये मूतियाँ तांबे एवं कांस्य की बनी हैं। खजुराहो की मूर्तियाँ इस काल की मूतिकला का श्रेष्ठ उदाहरण है।

चित्रकला–इस काल में चित्रकला का बड़ा विकास हुआ। मन्दिरों की दीवारों पर सुन्दर चित्र बनने लगे। हस्तलिखित पुस्तकों के किनारे पर भी सुन्दर शैलियों का निर्माण हुआ। गुजरात शैली अथवा जैन शैली, राजपूत शैली, दक्षिण शैली आदि इस काल की चित्रकला की मुख्य शैलियाँ थीं। गुजरात शैली में रास लीला, राग रागिनी, नायक-नायिका भेद, पत्र-पुष्पलता, पशुओं आदि के सुन्दर चित्रों का निर्माण हुआ। इस काल की चित्रकला में भावों का अंकन बड़ा सुन्दर था।

संदर्भ

1. त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 19.
2. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास पृ. 172.
3. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 264-65.
4. एन्शेण्ट इण्डिया : पृ. 183.
5. स्मिथ, वी. ए. (डॉ.) : अशोक, पृष्ठ 135.
6. पर्सी ब्राउन : इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 6.
7. स्मिथ, वी. ए. : फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 16.
8. राय, नीहार रंजन : मौर्य शुंग आर्ट, पृ. 31.
9. बेंजामिन रोलैण्ड : आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया, पृ. 63.
10. चन्दा, रामप्रसाद : मेमारी ऑफ आर्कोलोजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नं. 30, पृ. 8.
11. उपाध्याय भगवतशरण : भारतीय कला और संस्कृति की भूभिका, पृ. 187.
12. भारतीय कला को बिहार की देन, पृ. 67-68.
13. पर्सी ब्राउन : हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट आर्किटेक्चर, पृ. 6.
14. विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भारतीय कला की बिहार को देन, पृ. 52-53.
15. मुकर्जी, आर. के. : अशोक, पृष्ठ 189.
16. प्राचीन भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास.
17. मुकर्जी, आर. के (डॉ.) : अशोक, पृ. 9 से उद्धृत.
18. स्मिथ, वी. ए. : अशोक.
19. भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ. 44.
20. (हिन्दी) साहित्य, पृष्ठ 218.
21. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, पृ. 175.
22. एन्शियेण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 180.
23. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ. 234.
24. भारतीय मूर्तिकला, पृ. 42.
25. एच. जिम्मर : दी माइथ्स एण्ड सिम्वल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन।

26. राय, निहार रंजन (डॉ.) : एज ऑफ दी नन्दाज एण्ड मौर्याज (सम्पादनकर्ता के. ए. नीलकंठ शास्त्री), 388.
27. भारतीय सभ्यता व संस्कृति का इतिहास, पृ. 181.
28. आनन्द कुमार स्वामी : बुद्ध एण्ड द गौस्पिल ऑफ बुद्धिज्म, पृ. 329.
29. दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 519.
30. सरस्वती, एस. के. : दी क्लासिकल एज (अनु. डॉ. आर. सी. मजूमदार), पृ. 199.
31. श्री कृष्ण दत्त वाजपेयी : हिन्दी साहित्य, पृ. 210.
32. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ. 360.
33. भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ. 98.
34. गुप्त साम्राज्य का इतिहास (2), पृ. 270.
35. भारतीय कला को बिहार की देन, पृ. 112-13.
36. मजूमदार, आर. सी. : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 490.
37. फुट फाल्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ. 135-36.
38. एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्कोलोजिकल डिपार्टमेंट ऑफ निजाम्स डोमिनियन फार, 1018-19
39. अजन्ता फ्रेस्कोज-लेडी हर्मिंघम.
40. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 310.
41. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास पृ. 565.

□

14

भारतीय संस्कृति का प्रसार

विश्व के अनेक भागों में उपलब्ध मन्दिर, स्तूप, अभिलेख, भवन, ग्रंथ आदि इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन काल में विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ था। वस्तुतः इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति की महानता कहीं अधिक बढ़ जाती है। भारतीय ऋषियों, बौद्ध भिक्षुओं, व्यापारियों तथा राजाओं ने विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार किया।

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने सबसे पहले अपनी पुस्तक 'दी फण्डामेन्टल यूनिटी ऑफ इण्डिया' में 'वृहत्तर भारत' शब्द का प्रयोग किया। इसका तात्पर्य दक्षिण पूर्व के देशों जावा, मलाया, सुमात्रा, बर्मा, लंका, बोर्नियो, कम्बोड़िया, चम्पा, बाली आदि से था, जहाँ भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित कर अपनी संस्कृति का प्रसार किया। इसे ही बृहत्तर भारत कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इसे भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य भी कहा जा सकता है। अन्धकार के उस युग में भारत ने अपने ज्ञान की ज्योति का प्रकाश फैलाया था। डॉ. आर. सी. मजूमदार के शब्दों में, "भारत ने दक्षिण पूर्व में स्थित एशिया के देशों को सभ्य बनाने में उतना ही महत्वपूर्ण योगदान दिया, जितना कि प्राचीन यूनान ने समस्त यूरोप को सभ्य बनाने में दिया था।" आज भी इन देशों में भारतीय संस्कृति के चिन्ह दिखते हैं।

भारतीय संस्कृति के विदेशों में प्रसार के कारण

(1) **व्यापार**-प्राचीन काल में भारत का दूर-दूर के देशों के साथ जल एवं स्थल मार्गों द्वारा व्यापार होता था। भारतीय व्यापार हेतु अनेक कष्ट सहन कर भी विदेशों में पहुंच जाते थे। इस काल में भारत का रोम, सीरिया, मिश्र, अफ्रीका आदि देशों के साथ व्यापार होता था। भारतीयों की धारणा थी कि जावा, सुमात्रा, बर्मा, मलाया आदि देश समृद्ध होने के कारण ही 'स्वर्ण भूमि' व 'स्वर्ण दीप' कहलाते हैं। अतः अनेक भारतीय व्यापारी लाभ कमाने हेतु इन देशों में पहुंचे। ये देश अज्ञानता के अन्धकार में जीवन बिता रहे थे, अतः उन्होंने यहाँ भारतीय संस्कृति का प्रकाश फैलाया।

(2) धर्म प्रचारकों की भूमिका–बौद्ध भिक्षु अनेक बाधाओं को पारकर भी धर्म प्रचार हेतु विदेशों में गये। अशोक तथा कनिष्क ने लंका, बर्मा, यूनान, चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने हेतु बौद्ध भिक्षु भेजे। इन भिक्षुओं ने वहां अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय संस्कृति का भी प्रसार किया।

(3) उपनिवेशों की स्थापना–इस काल में चोल, कलिंग, बंगाल आदि राज्य जो, समुद्र तट पर स्थित थे, ने अपनी शक्तिशाली नौसेना के बूते पर आस-पास के द्वीपों पर कब्जा कर लिया तथा वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार किया।

इस प्रकार व्यापारियों, धर्म प्रचारकों तथा राजाओं द्वारा प्राचीन काल में विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार किया गया। इन्होंने वहाँ के लोगों का किसी प्रकार शोषण नहीं किया और न ही जबरदस्ती की। इनका उद्देश्य तो उन असभ्य देशों में अपनी सभ्यता तथा संस्कृति की ज्योति जलाना था। वृहत्तर भारत के क्षेत्र में आने वाले देश दो भागों में विभक्त किये जाते हैं–

(i) जिन देशों के साथ भारत के व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंध थे।

(ii) जहां भारतीय शासकों ने अपने उपनिवेश स्थापित कर भारतीय संस्कृति का प्रसार किया।

(1) भारत के विदेशों से व्यापारिक व सांस्कृतिक संबंध

मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई में मिली वस्तुओं के अनुसार भारत के उस काल में ही रोम, यूनान, मिश्र व अन्य पश्चमी देशों के साथ व्यापारिक संबंध बन चुके थे। 1400 ई. में मेसोपोटामियाँ के लोग इन्द्र, वरूण आदि वैदिक देवताओं को पूजते थे।

ईरान–फारस (ईरान) के शासक देरियस प्रथम द्वारा पंजाब व सिन्ध प्रांत के प्रदेशों पर अधिकार कर लेने से ईसा पूर्व चौथी व पाँचवीं सदी में भारत के ईरान से व्यापारिक व सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुए।

यूनान–सिकन्दर के आक्रमण से भारत व पश्चिमी देशों के मध्य चार नये स्थल व एक जल मार्ग खुल गया। अतः दोनों देशों में परस्पर आवागमन होने लगा। तत्पश्चात् हिन्द बैक्ट्रियन साम्राज्य की स्थापना से भारत व यूनान के संबंध घनिष्ठ हुए। भारतीयों ने यूनानियों से गणित, ज्योतिष, मुद्रा, मूर्तिकला व स्थापत्य कला व यूनानियों ने भारतीयों से साहित्य व दर्शन में बहुत कुछ सीखा।

रोम–रोमन इतिहासकार प्लिनी के अनुसार भारत रोम को रेशम, सूत, हीरे, जवाहरात, सुगंधित व विलासिता की सामग्री निर्यात करता था तथा इसके बदले में भारत में धन आता था। प्लिनी के अनुसार रोम भारत से प्रतिवर्ष दस लाख स्वर्ण

मुद्राओं की विलासिता सामग्री का आयात करता था। भारत में मिले रोमन सिक्के इस मत की पुष्टि करते हैं।

सैवेल्ल के अनुसार रोम के अनेक व्यापारी दक्षिणी भारत में निवास करते थे।

व्यापारिक संपर्क के साथ-साथ दोनों देशों में राजनीतिक सम्पर्क भी स्थापित होने लगा। सिकन्दरिया में भारतीय व रोमन राजदूत परस्पर मिला करते थे। पंजाब, गुर्जर, चैर व पांड्य शासकों ने रोमन शासक आगस्टस सीजर के दरबार में दूत भेजे थे। अरबों से पहले भारत तथा रोम में स्थल व जल मार्ग से प्रत्यक्ष व्यापार होता रहा, किन्तु इन मार्गों पर अरबों का अधिकार हो जाने के बाद भारत का प्रत्यक्ष सम्पर्क टूट गया। किन्तु फिर भी अरबों के माध्यम से भारतीय संस्कृति यूरोप में पहुंचती रही।

मध्य एशिया–सर आरेल स्टाइन तथा अनके साथियों ने पुरातत्व प्रमाणों के आधार पर मध्य एशिया में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार माना है। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु मध्य एशिया में बौद्ध भिक्षु भेजे, जिससे यहाँ बौद्ध धर्म इस्लाम के उदय तक भी कुछ अंशों में विद्यमान रहा। अलबेरूनी ने इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है, "पहले खुरासान, पर्सिया, इराक, मोसुल और सीरिया तक की सीमा के देश बौद्ध थे।" कनिष्क का मध्य एशिया के कई राज्यों पर अधिकार था, अतः उसने यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। गुप्त शासकों ने भी यहाँ अपने उपनिवेश स्थापित किये। इस काल में कई भारतीय यहाँ बस गये तथा उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों से संबंध स्थापित कर एक नयी जाति को जन्म दिया, जो पूर्णतः भारतीय थी।

खोतान बौद्ध धर्म व भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। फाह्यान ने इस संबंध में लिखा है, "यहाँ के निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। भिक्षुओं की संख्या हज़ारों में है। साधारण लोग अपने घर में निवास करते हैं तथा प्रत्येक घर के सामने बौद्ध स्तूप बनाये जाते हैं।" खोतान में चौदह बौद्ध विहार थे, जो शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। इसके अलावा बैक्ट्रिया, यारकन्द, काशगर, कूची, बोखारा, समरकन्द आदि स्थानों पर प्राप्त मन्दिर, गुफायें, मूर्तियाँ तथा चित्र वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार की पुष्टि करते हैं। यहाँ प्राप्त लेखों व सिक्कों पर अंकित भीम, आनन्द सेन, बुद्धघोष आदि व्यक्तियों के नाम दूत, दिविर (लेखक) आदि पदों के नाम तथा शासकों की महाराज, देवपुत्र, प्रियदर्शन आदि उपाधियाँ पूर्णत : भारतीय हैं। इस प्रकार मध्य एशिया में बौद्ध धर्म व भारतीय संस्कृति का बहुत प्रचार था। कालान्तर में इसका स्थान इस्लाम ने ले लिया।

चीन–ईसा पूर्व प्रथम सदी में धर्मरक्ष एवं काश्यपमातड़ग आदि बौद्ध भिक्षु धर्म प्रचार हेतु चीन गये। इन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया तथा बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। यहूदी शासक दूसरी सदी ई. पू. में कई बौद्ध ग्रंथ चीन ले आये। शनैः शनैः चीन में बौद्ध धर्म लोक प्रिय होने लगा। कूची विजय (401 ई.) के समय

चीनी कुमारजीव नामक भिक्षु को अपने साथ ले आये। कुमारजीव संस्कृत व चीनी का उच्च कोटि का विद्वान था तथा उसने संस्कृत ग्रंथों का चीनी अनुवाद किया। डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार, "कुमारजीव भारत, मध्य एशिया तथा चीन के आपसी सांस्कृतिक मेल जोल का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।"[1] चौथी से छठी सदी के दौरान संघ भूति, गौतम संघ, धर्म क्षेत्र, यशोगुप्त, बुद्ध भद्र एवं जीवगुप्त आदि बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिग आदि चीनी यात्रियों ने भारत में बौद्ध तीर्थों की यात्रा की व बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया। इन्होंने अपना यात्रा वृत्तान्त भी लिखा। नालन्दा विश्वविद्यालय में कई चीनियों ने संस्कृत तथा पाली भाषा का अध्ययन किया तथा अपने देश लौटकर बौद्ध ग्रंथों का चीनी अनुवाद किया। इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म का बहुत प्रसार हुआ। यह आज भी वहां का मुख्य धर्म है।

तिब्बत–उत्तर में भारत का सबसे निकट पड़ोसी देश होने के कारण तिब्बत स्वाभाविक रूप से भारत से प्रभावित हुआ। इसने भारतीय धर्म, भाषा व साहित्य को अपनाया। 639 ई. में तिब्बत के शासक स्रान सेन गैम्पो ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया तथा वहां इसका बहुत प्रसार किया। तिब्बतियों ने भारतीय वर्णमाला को अपनाया। उन्होंने नालन्दा विश्विद्यालय में ज्ञान प्राप्त किया। आठवीं सदी में तिब्बत के शासक के निमंत्रण पर नालंदा मठ के विद्वान शान्ति रक्षित ने तिब्बत में लामावाद का प्रचलन किया तथा कई संस्कृत ग्रंथों का तिब्बत अनुवाद करवाया। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के मुखिया प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान 'अतीश' भी तिब्बत के शासक के निमंत्रण पर वहां गये। उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रसार किया तथा संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद करवाया। तिब्बत में भारतीय संस्कृति का प्रभाव आज भी दिखता है।

कोरिया व जापान–चीन के प्रभाव से कोरिया में बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। संभवत, पांचवीं सदी तक वहां की सम्पूर्ण जनता व शासक बौद्ध धर्म अपना चुके थे। कोरिया के प्रभाव से जापान में बौद्ध धर्म लोकप्रिय होने लगा। आठवीं सदी में जापानी सम्राट शोम्मू (724-756 ई.) ने जापान में $53\frac{1}{2}$ फीट ऊंची महात्मा बुद्ध की कांस्य मूर्ति बनवायी।

विदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना एवं संस्कृति का प्रसार

भारतीय शासकों ने बर्मा, लंका, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बाली, बोर्नियो, चम्पा, स्याम आदि देशों में उपनिवेश स्थापित कर भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। इन द्वीपों में आज भी अनेक मन्दिर, स्तूप व स्मारक विद्यमान हैं।

बर्मा–भारतीय राजाओं ने सर्वप्रथम बर्मा में अपने उपनिवेश स्थापित किये। बर्मा की परम्पराओं के अनुसार बुद्ध के जीवन काल में ही अनेक भारतीय बर्मा में रह रहे थे। तत्पश्चात् पैगन, पाटन, श्रीक्षेत्र, अराकान आदि स्थानों पर भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये। अशोक ने सोन तथा उत्तर नामक बौद्ध भिक्षुओं को बर्मा भेजकर वहां बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार करवाया। कालान्तर में बर्मा में महायान सम्प्रदाय, शैव व वैष्णव मत आदि का प्रचार हुआ तथा पाली व संस्कृत आदि वहां की लोकप्रिय भाषाएं बन गयीं। पैगन के बौद्ध शासक अनिरुद्ध ने समूचे बर्मा पर अपना राज्य स्थापित किया। उसने वैशाली की राजकुमारी पंचकल्याणी से विवाह किया तथा अपने राज्य में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया।

क्यानिजित्थ के शासन काल में बर्मा में बौद्ध तथा हिन्दू धर्मों का बहुत अधिक प्रसार हुआ। उसके द्वारा पैगन में स्थापित आनन्द का मन्दिर भारतीय मन्दिरों से मिलता जुलता है। संभवतः इस मंदिर का निर्माण भारतीय कलाकारों द्वारा किया गया था।

लंका (सिंहल) —लंका में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का प्रसार भगवान राम ने किया था। ईसा पूर्व छठी सदी में काठियावाड़ के शासक विजय ने लंका में अपने कुछ उपनिवेशों की स्थापना की। अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र व पुत्री संघमित्रा को बोधिवृक्ष की शाखा के साथ लंका भेजा। इनके प्रभाव से लंका के शासक देवनाम्प्रिय तिस्स, रानी तथा वहां के हजारों लोगों ने बौद्ध धर्म अपना लिया। बोधिवृक्ष की शाखा एक उद्यान में लगा दी गयी, जहा उग आया पेड़ अब तक विद्यमान है। शनैः शनैः बौद्ध धर्म लंका में निरन्तर लोकप्रिय होता गया। वहां पाली भाषा में 'दीपवम्स' तथा 'महावम्स' आदि ग्रंथ रचे गये। लंका में भारतीय कला का भी बहुत प्रसार हुआ। चोल व पाण्डव शासकों ने भी वहां अपने उपनिवेश स्थापित किये।

जावा–इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। यहाँ पर भारतीयों के उपनिवेश स्थापित करने के समय के संबंध में मतभेद हैं। एक मत के अनुसार पाण्डवों ने तथा एक अन्य मत के अनुसार कलिंग के शासक ने यहां अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। वहा 50 ई. तक हिन्दू राज्य स्थापित हो चुका था। वहा के शासक देववर्मन ने 132 ई. में अपने दूतमंडल को चीन भेजा था। चीनी यात्री फाह्यान ने जावा को हिन्दू धर्म का प्रमुख केन्द्र बताया है। छठी शताब्दी के जावा के शासक पूर्णवर्मन के चार संस्कृत अभिलेख भी जावा में भारतीय संस्कृति के प्रसार की पुष्टि करते हैं।

आठवीं सदी में जावा में शैलेन्द्र वंश का शासन स्थापित हुआ। उन्होंने बौद्ध धर्म को बहुत प्रोत्साहित किया। इसी वंश के शासक समरतुंग ने नवीं सदी में बोरो बुदूर का कलात्मक स्तूप बनवाया। इसके अलावा अनेक विहार व स्तूप बनवाये गये। जावा के शासक बालपुत्रदेव ने नालन्दा में जावा के विद्यार्थियों के रहने हेतु एक विहार

बनवाया था। इस वंश के पतन के बाद भी चौदहवीं सदी तक जावा में हिन्दू धर्म प्रचलित रहा।

जावा में शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि हिन्दू देवताओं की कई मूर्तियां बनायी गयीं। डॉ. वोगल के अनुसार, "बौद्ध ज्ञान और दर्शन को कहीं भी इतने विस्तार और विवरण में मूर्तिकला के माध्यम से नहीं दिखाया गया है, जितना कि बोरोबुदूर में।" ब्राह्मणों ने जावा में संस्कृत भाषा का भी प्रचार किया। इस प्रकार चौदहवीं सदी तक जावा में भारतीय संस्कृति व हिन्दू धर्म का बड़ा प्रसार रहा। तत्पश्चात् इसका स्थान इस्लाम ने ले लिया।

सुमात्रा–चीनी लेखों के अनुसार यद्यपि भारतीय पहली सदी ई. से ही सुमात्रा में बसने लग गये थे, किन्तु यहां हिन्दू राज्य की स्थापना तीसरी अथवा चौथी सदी ई. में हुई। इसे 'श्रीविजय' राज्य कहा जाता था। सातवीं सदी तक यह राज्य शक्तिशाली बन चुका था। 686 ई. में यहा के शासक जयनाश अथवा जयनाग ने राज्य के प्रति वफादार रहने वाले लोगों को देवी वरदान प्राप्त होने की तथा राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने वाले को दण्डित करने की घोषणा की। यहां के शासक बौद्ध थे तथा उन्होंने उस धर्म का बहुत प्रसार किया। चीनी यात्री इत्सिंग ने सुमात्रा को बौद्ध धर्म का केन्द्र बताया है।

आठवीं सदी में यहां पर शैलेन्द्र वंश के राजाओं ने अधिकार कर लिया। ये मूलतः कलिंग प्रांत के निवासी थे। इन्होंने जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो, दक्षिणी बर्मा व मलाया पर अधिकर कर विशाल साम्राज्य की स्थापना की। मसऊदी के अनुसार, "यहां का सम्राट असीम साम्राज्य पर शासन करता है।" इब्नखोर्ददबेह ने लिखा है, "शैलेन्द्र वंश के शासक की प्रतिदिन की आय 200 मन सोना थी।" ग्यारहवीं सदी में राजेन्द्र चोल ने शैलेन्द्र वंश के राज्य पर अधिकार कर लिया, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने अपना साम्राज्य पुनः पा लिया।

कम्बोडिया–कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने पहली सदी ई. पू. में कम्बोडिया में फूनान नामक राज्य की स्थापना की तथा यहां के असभ्य लोगों को सभ्य बनाया। इसके वंशजों ने 100 वर्ष तक राज्य किया। तत्पश्चात् 200 ई. के लगभग फान चे मान शासक बना। उसने हिन्दचीन, स्याम व मलाया पर अधिकार कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसने फूनान सम्राट की पदवी ग्रहण की। 225 ई. में उसका भांजा फान-यान-चान गद्दी पर बैठा। उसने चीन तथा भारत में राजदूत भेजे। चौथी-पाचवीं सदी ई. में यहा कौण्डिन्य नामक दूसरा ब्राह्मण भारत से आया। लोगों ने उसे अपना शासक बना लिया। वह कौण्डिन्य द्वितीय कहलाया। उसने यहाँ व्यवस्था स्थापित कर भारतीय नियमों, परम्पराओं व शैव मत का प्रचार किया। उसके जयवर्मन व रुद्रवर्मन नामक उत्तराधिकारियों ने चीन व भारत के साथ घनिष्ठ राजनीतिक संबंध स्थापित किये। छठी सदी में फूनान को कम्बुज में मिला लिया गया। इस प्रकार फूनान में भारतीय संस्कृति

तथा शैव, वैष्णव व बौद्ध आदि मतों का प्रचार हुआ। गुप्तकालीन मूर्तियों के आधार पर यहा मूर्तियां बनायी गयीं। इस प्रकार फूनान सभ्यता पर भारत की बहुत गहरी छाप थी।

फूनान साम्राज्य के बाद कम्बुज साम्राज्य का उदय हुआ, जिसका संस्थापक श्रुतवर्मन था। हमें इस वंश का 674 से 802 ई. तक का इतिहास नहीं मिलता। जयवर्मन द्वितीय (802-850 ई.) ने अपना साम्राज्य का विस्तार किया एवं अंगकोर प्रदेश को अपनी राजधानी बनाया। उसके पुत्र जयवर्मन तृतीय ने कम्बुज राज्य को बड़ा शक्तिशाली बना दिया। उसके पश्चात् इन्द्रवर्मन व फिर यशोवर्मन (889-898 ई.) शासक बना। यशोवर्मन ने कम्बुज में भारतीय संस्कृति का बड़ा प्रचार किया। उसके समय के अनेक संस्कृत अभिलेख मिले हैं। वह शिल्प कला, भाषा, लिपि व नृत्यकला में भी दक्ष था। उसने कम्बुज में 100 आश्रम व मठ बनवाये। राजकवियों ने उन्हें द्वितीय मनु, परशुराम से भी अधिक उदार, अर्जुन, भीम जैसा बहादुर व सुश्रुत जैसा विद्वान कहा है। कम्बुज साम्राज्य का अगला विख्यात शासक सूर्यवर्मन प्रथम था। उसने स्याम व लोअर बर्मा पर विजय प्राप्त की। वह संस्कृत का महान विद्वान तथा बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा संरक्षक था। बारहवीं सदी में इस वंश में सूर्यवर्मन द्वितीय नामक शासक हुआ, जिसने विशाल साम्राज्य स्थापित किया। वह हिन्दू धर्म का अनुयायी था। उसने कई यज्ञ करवाये। उसने अंगकोरवाट का विख्यात विष्णु मन्दिर बनवाया। यह वास्तुकला तथा भारतीय संस्कृति की एक श्रेष्ठ कृति है। बारहवीं सदी में जयवर्मन सप्तम् भी विख्यात् शासक हुआ, जिसने चम्पा पर विजय प्राप्त की। उसने अंगकोरथाम को अपनी राजधानी बनाया। उसने सुरक्षा की दृष्टि से नगर के चारों तरफ $8\frac{1}{2}$ मील लम्बी व 100 गजचौड़ी खाई खुदवाई व पत्थर की दीवार बनवाकर उसमें पांच बड़े-बड़े द्वार बनवाये।

चम्पा–यह दूसरी से पन्द्रहवीं सदी तक भारतीय संस्कृति व हिन्दू धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा। यहां भारतीयों ने दूसरी सदी में अपना राज्य स्थापित किया था। यहां के लोग अपने आपको 'चाम' कहते थे। चम्पा के लेखों के अनुसार वहां का प्रथम हिन्दू शासक श्रीमार था, किन्तु भारतीय संस्कृति का प्रसार करने वाला प्रथम हिन्दू शासक भद्रवर्मा (380-413 ई.) था। उसने अमरावती व पाण्डुरंग के दक्षिणी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। वह शैव अनुयायी था। उसने माईसोन में भद्रेश्वर स्वामी नामक शिव मन्दिर बनवाया। उसके वंशज आठवीं सदी तक चम्पा के शासक रहे।

चम्पा के प्रारंभिक शासकों को चीन से संघर्ष करना पड़ा। पाण्डुरंग वंश (778-970 ई.) का संस्थापक पृथ्वीन्द्रवर्मन था। आठवीं से ग्याहरवीं सदी तक भृगु वंश के शासक भी चम्पा में अपने अधीन प्रदेशों पर शासन करते रहे। ये सब हिन्दू थे। भृगुवंश का शासक इन्द्रवर्मन तृतीय हिन्दू दर्शन, बौद्ध दर्शन व पाणिनि व्याकरण का पंडित था। पन्द्रहवीं सदी में चम्पा के हिन्दू राज्य का पतन हो गया।

भारतीय संस्कृति का चम्पा पर बहुत प्रभाव पड़ा भारतीय समाज के समान चम्पा में भी वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी। वहां की राजभाषा संस्कृत थी। यहां के लोगों द्वारा विष्णु, शिव, राम, ब्रह्मा, कृष्ण, सूर्य, इन्द्र आदि हिन्दू देवताओं की पूजा की जाती थी। यहां पर बौद्ध धर्म का भी कुछ प्रचार हुआ। चम्पा पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव आज भी दिखता है।

बोर्नियो–बोर्नियो में भारतीय ने चौथी सदी में अपना राज्य स्थापित किया था। पाचवीं सदी में यहां पर मूलवर्मन नामक हिन्दू शासक का शासन था। उसने बोर्नियो में भारतीय संस्कृति का बहुत प्रसार किया। उसने 'बाहुसुवर्णकम' नामक यज्ञ आयोजित कर बहुत सा धन व 20,000 गायें ब्राह्मणें को दान में दीं। यहां ब्रह्मा, शिव, गणेश आदि हिन्दू देवताओं की मूर्तियां मिली हैं।

बाली–बाली में भारतीय शासन की स्थापना के समय के बारे में जानकारी नहीं मिलती। छठी अथवा सातवीं सदी में यहा पर कौण्डिन्य नामक क्षत्रिय शासक का शासन था। यहां पर बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार हुआ। दसवीं सदी में केसरी, उग्रसेन आदि यहां के प्रमुख शासक हुए। जावा के निकट होने से प्रायः यह उसके अधीन रहा। मध्यकाल में मुसलमानों ने इस पर अधिकार कर लिया। यहां भारतीय संस्कृति के चिन्ह स्पष्टतः दिखते हैं।

दक्षिण पूर्व उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का प्रभाव

भारतीयों के जावा, सुमात्रा, चम्पा, बर्मा, बाली, बोर्नियो, कम्बोडिया आदि स्थानों पर सदियों तक उपनिवेश रहे। भारतीयों द्वारा उपनिवेश स्थापित करने के समय यहां के निवासी असभ्य थे। भारतीयों ने उन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाया। अतः भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि मध्यकाल में मुसलमानों ने यहा हिन्दू राज्यों का अन्त कर दिया, किन्तु हिन्दू संस्कृति के चिन्ह यहां आज भी दिखायी देते हैं।

धर्म–भारतीय उपनिवेशों में हिन्दू एवं बौद्ध आदि भारतीय धर्मों का बहुत प्रसार हुआ। इन उपनिवेशों के शासक व जनता हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। लंका व बर्मा में बौद्ध धर्म बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। यहां के शासकों ने बौद्ध धर्म को बहुत संरक्षण दिया तथा यह आज भी वहां का मुख्य धर्म है। जावा, सुमात्रा, बाली, चम्पा, कम्बोडिया आदि देशों में हिन्दू धर्म का प्रचार हुआ। वहां ब्रह्मा, गणेश, महेश, लक्ष्मी, राम, कृष्ण, इन्द्र, सरस्वती, सूर्य आदि देवी-देवताओं की पूजा होती थी। यहां अनेक मन्दिर भी बनाये गये थे। इन द्वीपों में हिन्दू देवताओं की मूर्तियां आज भी मिलती हैं। बाली में आज भी हिन्दू धर्म प्रचलित है। यहां इन्द्र, विष्णु, कृष्ण, दुर्गा, शिव आदि देवी देवताओं की पूजा की जाती है। इसमें जलपात्र, माला, धूप, दीप, घंटी आदि

का प्रयोग होता है। इन उपनिवेशों से प्राप्त बुद्ध की प्रतिमाएं यहां बौद्ध धर्म के प्रचार की ओर भी संकेत करती हैं। श्रीविजय व शैलेन्द्र वंश के शासक बौद्ध थे, किन्तु यह हिन्दू धर्म की तुलना में कम लोकप्रिय हुआ। वहां प्रतिदिन रामायण, महाभारत व पुराण का अखण्ड पाठ होता था।

भाषा व साहित्य–इन उपनिवेशों में भारतीय भाषा व साहित्य का भी बहुत प्रचार हुआ। इन द्वीपों में भारतीय लिपि व संस्कृत भाषा का बड़ा प्रयोग होता था। चम्पा एवं अन्य द्वीपों से प्राप्त संस्कृत के लिपिबद्ध लेख इन द्वीपों में संस्कृत भाषा व व्याकरण के विकास को प्रदर्शित करते हैं। इन द्वीपों में अनेक विद्वान शासक भी हुए। चम्पा का शासक भद्रवर्मन चारों वेदों का ज्ञाता था। भृगुवंश का शासक इन्द्रवर्मन तृतीय (910-972 ई.)–बौद्ध दर्शन, हिन्दू दर्शन व पाणिनी व्याकरण का महान् विद्वान था। कम्बुज के शासक यशोवर्मन (889-908 ई.) ने पतंजलि के महाभाष्य पर टीका लिखी थी। उसने भारतीय गुरुकुलों के समान कम्बुज में 100 आश्रम बनवाये। ये कालान्तर में शिक्षा के विख्यात केन्द्र बन गये। इन द्वीपों में रामायण, महाभारत, पुराण आदि का पठन-पाठन होता था। रामायण व महाभारत का जावा की भाषा में अनुवाद भी किया गया।

कला–इन द्वीपों में भारतीय कला का बड़ा प्रसार हुआ। जावा तथा कम्बोडिया में अनेक प्राचीन मन्दिर प्राप्त हुए हैं। जावा में अनेक मन्दिर व स्तूप बनाये गये, जिनमें बोरोबुदूर का स्तूप प्रमुख है। इसका निर्माण नवीं सदी में शैलेन्द्र वंश के शासक समरतुंग ने करवाया था। इसमें पत्थरों पर बोधिसत्वों की मूर्तिया अंकित हैं। डॉ. मुकर्जी के अनुसार, "यह महायान बौद्ध शाखा के सिद्धांतों की पाषाण में अंकित पुस्तक है।"[2] कई इसे संसार का आठवां आश्चर्य भी मानते हैं। जावा में प्रबनम् नामक स्थान पर विष्णु, ब्रह्मा, दुर्गा, शिव, राम, सीता, हनुमान आदि देवी देवताओं के बनाये गये मंदिर आज भी दिखते हैं। इनके पत्थरों पर रामायण व महाभारत के अनेक दृश्य अंकित हैं। कम्बुज नरेश सूर्यवर्मन द्वितीय द्वारा बारहवीं सदी में अंककोरवाट में निर्मित विष्णु मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अद्वितीय है। इसके भीतर रामायण व महाभारत के अनेक दृश्य पत्थरों पर अंकित हैं। यह भारतीय संस्कृति के प्रसार का उच्चतम उदाहरण है।

सामाजिक प्रभाव–इन उपनिवेशों में भारतीय सामाजिक रीतियां प्रचलित थीं। बर्मा, चम्पा तथा कम्बोडिया का समाज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार भागों में विभक्त था। ब्राह्मणों का समाज में सर्वोच्च स्थान था। सभी धार्मिक कार्य उनके द्वारा ही सम्पादित करवाये जाते थे। वे मंत्रोच्चारण के साथ यज्ञ करवाते थे। बौद्ध एवं हिन्दू दोनों मूर्ति पूजा के अनुयायी थे। जन्म, नामकरण, विवाह तथा मृत्यु संबंधी संस्कारों पर भारत का प्रभाव था। बाली, चम्पा तथा कम्बोडिया में भारत की भांति

शवों को जलाया जाता था एवं उनकी राख तथा अवशेषों को जमीन में गाड़ दिया जाता था। संभवतः इन द्वीपों में दास प्रथा तथा सती प्रथा का भी प्रचलन था।

आर्थिक प्रभाव–आर्थिक क्षेत्र में भी इन देशों पर भारत का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। यहां भारतीय नाप-तौल के मानदण्ड प्रचलित थे। यहां के व्यापारियों ने भारतीय व्यापारियों की भाति अपनी गिल्डस अथवा संघ बना लिये थे।

शासन प्रबंध–इन द्वीपों का शासन प्रबंध भी भारतीय परम्पराओं पर आधारित था। सम्राट को देवता समान समझा जाता था तथा प्रजा की रक्षा व कल्याण उसका कर्तव्य समझा जाता था। वह न्यायाधीश भी था तथा सामाजिक व धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुसार मुकदमों का निर्णय करता था। उसकी सहायता हेतु मंत्रिपरिषद्, प्रान्तीय शासक व अन्य पदाधिकारी थे। वह रथों में आता-जाता था तथा मलमल की वेश-भूषा व एक बहुत ऊंची टोपी पहनता था। युद्ध में शंख बजाये जाते थे व ढोल पीटे जाते थे।

इन द्वीपों पर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के चिन्ह आज भी दिखते हैं। सदियों तक मुसलमानों के अधिकार में रहने के बावजूद इण्डोनिशेया में आज भी सुकाणों, सुदर्शन आदि संस्कृत नाम प्रचलित हैं। बाली में आज भी जाति व्यवस्था विद्यमान है तथा वहां इन्द्र, विष्णु, कृष्ण आदि हिन्दू देवताओं की पूजा होती है। महाकवि टैंगोर ने कहा है, "उस युग के संस्मरणों से भारत की आत्मा का साक्षात्कार होता है। उस समय भौतिक सीमाओं की उपेक्षा करके प्राचीन भारत से ऐसी ज्योति निकली थी, जिसके आलोक से पूर्वी क्षितिज प्रकाशमान हो उठा और सूदूरपूर्वी देशों ने भारत की आत्मा को अपनी ही समझ कर स्वीकार कर लिया।"

वस्तुतः विदेशों में **भारतीय संस्कृति का प्रसार हमारे प्राचीन भारतीय इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है।**

संदर्भ

1. मुकर्जी, राधाकुमुद (डॉ.) : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 480.
2. मुकर्जी, आर. के (डॉ.) : एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 516.

□

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(अ) हिन्दी

अग्रवाल, वासुदेवशरण : (i) *कला और संस्कृति*

(ii) *गुप्ता आर्ट*

अल्तेकर (डॉ.) : *भारत के प्राचीन नगर*

(ii) *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*

ओझा, एस. के. : (i) *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*

(ii) *प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास*

उपाध्याय, बलदेव : (i) *भागवत् सम्प्रदाय*

(ii) *धर्म और दर्शन*

(iii) *संस्कृत साहित्य का इतिहास*

उपाध्याय, भगवतशरण : (i) *हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास*

(ii) *गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास*

(iii) *भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका*

उपाध्याय, वासुदेव : *गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग (द्वितीय)*

काणे, पी. वी. : *धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग (प्रथम)*

गोयल, प्रीतिप्रभा (डॉ.) : (i) *भारतीय संस्कृति*

(ii) *संस्कृति साहित्य का इतिहास*

(iii) *हिन्दू विवाह मीमांसा*

गोखले, बी. जी. : *प्राचीन भारत*

गुप्ता, रामेश्वर : *हमारी संस्कृति*

गुप्ता, मोतीलाल : *भारतीय सामाजिक संस्थाएं (भारतीय समाज)*

गोयल, श्री राम : *नंद मौर्य साम्राज्य का इतिहास*

चतुरसेन, आचार्य : *बुद्ध और बौद्ध धर्म*

चतुर्वेदी, परशुराम : *वैष्णव धर्म*

(ii) *भारतीय संस्कृति*

(ब) अंग्रेजी

अल्तेकर, ए. एस. : *द पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन*

अरविन्द : *द फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर*

इलियट एवं डाउसन : *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ऑन हिस्टोरियन्स भाग (छः)*

कापड़िया, के. एम. : *हिन्दू किनशिप*

कीथ : *रिलिजन एण्ड माइथोलोजी ऑफ ऋग्वेद*

कुमार स्वामी *हिस्ट्री*

कपनिंघिम : *आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट*

ग्रेवोस्का : *एन्शयेण्ट इण्डिया एण्ड सिविलिजेशन, भाग (तृतीय)*

गोखले, बी. जी. : *एन्शयेण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर*

गोयल, एस. आर. : *ए रिलीजस हिस्ट्री ऑफ एन्शयेण्ट इण्डिया*

घोषल, एच. आर. : *एन आउट लाइन हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पीपल*

घोषाल, यू. एन. : *एज ऑफ द नन्दाज एण्ड मौर्याज*

घोष, एन. एन. : *अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*

चौधरी, राय (डॉ.) : *पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शयेण्ट इण्डिया*

चन्दा, राम प्रसाद : *मेमोरीज ऑफ आर्कोलेजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया*

जायसवाल, के. पी. : (i) *हिन्दू पोलिटी*

(ii) *द इम्पीरिअल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*

जेम्स ग्रिफिथ : *द बुद्धिस्ट केव टेम्पिलस ऑफ अजन्ता, भाग (प्रथम)*

जिम्मर, एच. : *द माइथ्स एण्ड टेम्पिल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन*

जायसवाल, सुवीरा : *द ओरिजिन एण्ड डवलपमेन्ट ऑफ वैष्णविज्म*

टॉड, कर्नल : *एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान, भाग (प्रथम)*

डेविस, जे. एल. : *ए शोर्ट हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्म*

थापल, रोमिला (डॉ.) : *अशोक एण्ड द डिक्लाइन ऑफ मौर्याज*

दिवाकर, आर. आर. : *भगवान बुद्ध*

निवेदिता : *फुट फाल्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री*

नेहरू जे. एल. : *डिस्कवरी ऑफ इण्डिया*

पर्सी ब्राउन : (i) *इण्डियन पेटिंग*

(ii) *इण्डियन आर्किटेक्चर*

	(iii) *हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट आर्किटेक्चर*
पुसाल्कर ए. डी. :	*स्टडीज इन ऐपिक्स एण्ड द पुराणाज*
पुरी, बी. एन. :	(i) *इण्डियाज अण्डर दकुशान्स*
	(ii) *इण्डियन हिस्ट्री : ए रिव्यू*
पन्निकर, के. एम. :	*ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री*
बनर्जी, जी. डी, :	*हिनदू लॉ ऑफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन*
बनर्जी, आर. डी. :	*ईस्टर्न स्कूल ऑफ इण्डियन स्कल्पचर*
बाशम, ए. एल. :	*द वण्डर देट वाज इण्डिया*
बोस, एस. के. :	*इण्डियन कल्चर*
भण्डारकर, डी. आर. :	*अशोक*
मैक्डॉलन एवं कीथ :	*वैदिक इण्डेक्स*
मजूमदार, आर.सी. (डॉ.) :	(i) *एनशियेण्ट इण्डिया*
	(ii) *वैदिक एज*
	(iii) *द क्लासीकल ऐज*
	(iv) *एडवान्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*
मेक्डॉनल :	*वैदिक माइथोलोजी*
मुकर्जी (डॉ.) :	*द सोशल फंक्शन्स ऑफ आर्ट*
मित्र, देवाल :	*अजन्ता (डिपार्टमेण्ट ऑफ आर्कियोलोजी ऑफ इण्डिया)*
मुकर्जी, आर. के. :	(i) *एनशयेण्ट इण्डिया*
	(ii) *अशोक*
	(iii) *द एज ऑफ इम्पीरिअल यूनिटी*
	(iv) *चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स*
रामा स्वामी :	*स्टडीज इन रामायण*
राविलसन, एच. सी. :	*इण्डिया ए शॉर्ट कल्चरल हिस्ट्री*
राय, निहाररंजन :	*मौर्य शुंग शार्ट*
रोलेण्ड, बेन्जामिन :	*आर्कीटेक्चर ऑफ इण्डिया*
वाण्डेल, एल. ए. :	*रिपोर्ट ऑफ द एक्सकेवेशन ऑफ पाटलिपुत्र*
वील्स :	*बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड भाग (प्रथम)*
विण्टर निट्स :	*हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग (प्रथम)*
सेन गुप्ता, एन. सी. :	*इवोल्यूशन ऑफ एनशयेण्ट इण्डियन लॉ*
स्मिथ :	*हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट*
स्टेला, क्रमनिश्च :	*इण्डियन स्कल्पचर*

स्वामी, आनंद कुमार : *बुद्ध एण्ड द गौस्पिल ऑफ बुद्धिज्म*

सर ओरेल स्टाइन : *एनुअलरिपोर्ट ऑफ डिपार्टमेंट ऑफ निजाम्स डोमिनिअल फार*

सिल्वां लेवी : *कलकत्ता रिव्यू, सितम्बर, 1923.*

स्मिथ, वी. ए. : *द अरली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*

सर चार्ल्स इलियट : *हिन्दुज्म एण्ड बुद्धिज्म*

सरकार, जे. एन. (डॉ.) : *इण्डिया थ्रू द एजेज*

स्मिथ, वी. ए. (डॉ.) : (i) *अशोक*

(ii) *द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*

शास्त्री, एन. के. : *एज ऑफ द नन्दाज एण्ड मौर्याज*

शर्मा, एस. आर. (डॉ.) : *इण्डिया एज आई सी हर*

हैवेज, ई. बी. : (i) *ए हैण्ड बुक ऑफ इण्डियन आर्ट*

(ii) *द हिस्ट्री ऑफ आर्यान्स रूल इन इण्डिया*

हौपकिन्स : *ग्रेट इपिक ऑफ इण्डिया*

□